बी·आर·नन्दा

महात्मा गांधी

एक जीवनी

महात्मा गांधी

एक जीवनी

लेखक

बी० आर० नंदा

अनुवादक

श्यामू संन्यासी

१९८०

प्रकाशक
यशपाल जैन
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

दूसरी बार : १९८०

मूल्य
सजिल्द : दस रुपये

मुद्रक
लखेरवाल प्रेस
नई दिल्ली

प्रकाशकीय

महात्मा गांधी की कई पुस्तकें 'मण्डल' से प्रकाशित हुई हैं। उनके जीवन तथा विचार-धारा से संबंधित अन्य लेखकों की लिखी हुई भी बहुत-सी पुस्तकें निकली हैं। वस्तुतः, 'मण्डल' की स्थापना ही गांधी-विचार-धारा को लक्ष्य में रखकर लोकोपयोगी साहित्य प्रकाशित तथा प्रसारित करने के लिए हुई थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संस्था पिछले दस वर्ष से प्रयत्नशील है।

'मण्डल' से अबतक गांधीजी की जितनी जीवनियां निकली हैं, वे प्रायः सभी बहुत लोकप्रिय हुई हैं। उनमें लुई फिशर की 'गांधी की कहानी' और प्रभुदास गांधी की 'जीवन-प्रभात' को विशेष रूप से पसंद किया गया है।

हमें हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा हमारे गांधी-साहित्य में मूल्यवान वृद्धि हो रही है। इसके विद्वान लेखक ने गांधीजी-विषयक पुस्तकें तथा अन्य सामग्री का सूक्ष्म अध्ययन करके बड़े परिश्रम मे यह पुस्तक लिखी है। इसमें गांधीजी की जीवनी तो आ ही गई है, उनके विचारों का भी महत्वपूर्ण ढंग से समावेश हुआ है।

मूल पुस्तक अंग्रेजी में लिखी गई है और इंग्लैण्ड की प्रमुख प्रकाशन-संस्था एलन एण्ड अनविन द्वारा प्रकाशित हुई है। संसार की कई भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं।

पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी लेखन-शैली अत्यंत रोचक है, साथ ही, जो भी सामग्री इसमें दी गई है, वह प्रामाणिक है।

हम एलन एण्ड अनविन के आभारी हैं कि उन्होंने पुस्तक के हिन्दी संस्करण को निकालने की अनुमति हमें प्रदान की।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक का सारे देश में स्वागत होगा और यह सभी वर्गों के पाठकों द्वारा पढ़ी जायगी।

—मंत्री

प्रस्तावना

गांधीजी की भांति अपने जीवन-काल में निखिल मानवता के मन-प्राणों को इतना अधिक स्पंदित और आंदोलित करनेवाला तो शायद दूसरा कोई हुआ ही नहीं। आइंस्टीन ने जुलाई १९४४ में सच ही लिखा था कि "भावी पीढ़ियों को विश्वास ही न होगा कि इस धरती पर हाड़-मांस का कोई गांधी कभी जन्मा भी था!" लाखों-लाख जनता उन्हें महात्मा के रूप में पूजती थी, जबकि राजनैतिक विरोधी उन्हें चतुर राजनीतिज्ञ ही समझते थे। अंग्रेज भी सत्ता का हस्तांतरण हो जाने पर १९४६-४७ के बाद ही महा-विद्रोही मि० गांधी से मानव गांधी को भिन्न करके देख और उनके सही स्वरूप को पहचान सके। उनके पाकिस्तानी निंदकों को तो उनकी दुःखद मृत्यु के बाद ही विश्वास हो सका कि गांधीजी की मानवता हिंदू धर्म में उनकी श्रद्धा-भक्ति से कहीं ऊंची थी।

अपने समसामयिकों पर ऐसी जबर्दस्त छाप डालनेवाले व्यक्ति की जीवनी लिखना आसान काम नहीं है। लेकिन उन्हें हिंदू देव-परंपरा में अवतार-पुरुष की गरिमा से मंडित किये जाने से बचाकर आत्मानुशासन और आत्म-विकास के लिए सतत संघर्षशील, परिस्थितियों से प्रभावित और साथ ही परिस्थितियों के नियामक-निर्माता सहज मानव के रूप में प्रतिष्ठित करना भी नितांत आवश्यक हो गया है, जिसने उन मानवी गुणों का दृढ़ता से पालन और समर्थन किया, जिनकी कसमें तो सभ्य जगत खूब खाता है, पर जिनपर आचरण वह रत्तीभर भी नहीं करता।

इस जीवन-चरित का विन्यासकाल क्रमानुसार आयोजित करते हुए भी खास-खास मामलों में गांधीजी के दृष्टिकोण के यथोचित और यथावसर विश्लेषण का प्रयत्न भी मैंने किया है। भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि, गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर भारत की राजनैतिक स्थिति.

उनका धार्मिक विकास, जीवन की पद्धति में परिवर्तन और नये मूल्यों का अभिग्रहण, उनके नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक आंदोलन, युद्ध और अस्पृश्यता पर उनका रुख और रवैया—इन सभीपर अलग-अलग अध्यायों में चर्चा की गई है। कालानुसारी और विश्लेषणात्मक पद्धतियों के समन्वय से गांधीजी के विशद् जीवन की वैविध्यपूर्ण गाथा, उनके वैचारिक विकास और दोनों के अन्योन्याश्रित संबंध को एक ही पुस्तक में कुछ विस्तार से प्रस्तुत करने की सुविधा हो गई। गांधीजी कोई सिद्धांतशास्त्री नहीं थे, और न सिद्धांतों के अंधभक्त। उनके सिद्धांत उनकी निजी आवश्यकताओं और जिस वातावरण में वह रहते थे, अनिवार्यतः उसीकी उपज हुआ करते थे। जिस प्रकार उन्हें प्रेरित करनेवाले विचारों को समझे बिना उनके जीवन की घटनाओं को नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार धर्म, नैतिकता, राजनीति और अर्थनीति आदि से संबंधित उनके विचारों को उनके जीवन की परि-स्थितियों के संदर्भ के बिना नहीं समझा जा सकता।

जो चालीस वर्षों तक गांधीजी का समकालीन रहा हो, उसके लिए उन घटनाओं के संबंध में, जिनके गांधीजी केंद्र रहे हों, पूर्णतः वस्तुनिष्ठ रह पाना कितना मुश्किल है, इसे मैं ही जानता हूं, फिर भी घटनाओं और व्यक्तित्वों का मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन करते समय किसीका समर्थन अथवा विरोध करने की अपेक्षा मेरा प्रयत्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनको समझना और उनका विवेचन करना ही रहा है। इसमें मैं कहांतक सफल हो पाया हूं, इसके निर्णय का भार मेरे पाठकों पर ही है।

मैं भारत सरकार और राष्ट्रीय अभिलेखागार के निदेशक महोदय का कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे अभिलेखों और विवरणों की पड़ताल एवं उनका उपयोग करने की अनुमति प्रदान की। मेरा विश्वास है कि उस सामग्री के आधार पर मैं पहली बार तत्कालीन सरकार और गांधीजी के पारस्परिक संबंधों की उभय-पक्षीय तस्वीर प्रस्तुत कर सका हूं। सरकारी विवरणों पर आधारित गांधीजी के संघर्षों का चित्र निश्चय ही एकांगी होता, इसलिए मैंने उन सूत्रों का उपयोग घटनाओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने और कुछ विस्मृत अथवा अस्पष्ट तथ्यों को उजागर करने में ही किया है।

गांधीजी के जीवन से संबंधित सामग्री की कमी नहीं है। उनके विशद,

विपुल और नाना प्रवृत्तियों से भरे जीवन को एक पुस्तक के कलेवर में समेट पाना सरल काम नहीं। मैं गांधीजी और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर लिखनेवाले सभी लेखकों का ऋणी हूं। कुछका नामोल्लेख मैंने पुस्तक में ही यथास्थान और कइयों का पाद-टिप्पणी में कर दिया है। विशेष रूप से मैं नवजीवन ट्रस्ट, विक्टर गोलांज़ लिमिटेड, कैसल एंड कंपनी, कुर्टिस ब्राउन लिमिटेड, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, जोनाथन केप लिमिटेड और फिलिप मेसन आदि प्रकाशकों का आभारी हूं, जिन्होंने अपनी प्रकाशित पुस्तकों में से उद्धरण देने की अनुमति प्रदान की।

गांधी स्मारक संग्रहालय, नई दिल्ली और विशेषकर श्री अवनीभाई मेहता, अंतर्राष्ट्रीय मामलों की भारतीय परिषद् (इंडियन कौंसिल ऑव वर्ल्ड अफेयर्स) के पुस्तकालय-अध्यक्ष श्री गिरजाकुमार और उनके सहयोगियों एवं केंद्रीय सचिवालय के पुस्तकालय के कर्मचारियों से इस पुस्तक की तैयारी में मुझे जो सहायता मिली, उसके लिए मैं इन सबको धन्यवाद देता हूं।

मैं सर्वश्री वी० के० कृष्ण मेनन, प्यारेलाल और काकासाहब कालेलकर का भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने चर्चाओं के द्वारा कुछ बातों का स्पष्टीकरण करने की कृपा की। इस पुस्तक में जिन महानुभावों ने आरंभ से ही रुचि ली और मेरा उत्साह बढ़ाया, उनमें स्वर्गीय देवदास गांधी, श्री एन० सी० चौधुरी, श्री के० पी० मुक्तान और श्री एम० के० कौल का उल्लेख करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं।

श्री बी० एन० खोसला ने पांडुलिपि को आद्योपांत पढ़कर कई उपयोगी सुझाव दिये। लेकिन पुस्तक में अभिव्यक्त विचारों और त्रुटियों का पूरा उत्तरदायित्व अकेले मुझीपर है।

पुस्तक के रचना-काल में मेरी पत्नी ने जिस धैर्य का परिचय दिया, उसके और उनके प्रोत्साहन के लिए मैं उनका आभारी हूं।

—बी० आर० नंदा

विषय-सूची

महात्मा गांधी

: १ :

बचपन

"शनिवार को खेल के घंटे से तुम ग़ैर-हाज़िर क्यों थे ?" प्रधानाध्यापक ने अपने सामने लाये गए चौदह वर्ष के लड़के की ओर कड़ी नज़र से देखते हुए पूछा।

"सर, मैं अपने पिताजी की तीमारदारी कर रहा था।" लड़के ने जवाब दिया, "मेरे पास घड़ी नहीं है, बादलों के कारण धोखा हुआ और समय का सही अंदाज न लगा सका। जब मैं पहुचा तो सब लड़के जा चुके थे।"

"झूठ बोल रहे हो ?" प्रधानाध्यापक ने रुखाई से कहा।

१८८३ का साल था, और जगह थी राजकोट—गुजरात कठियावाड़ की एक छोटी-सी रियासत। वहां के एल्फ्रेड हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक दोराबजी एदलजी गीमी अनुशासन के मामले में बड़े कठोर थे। उन्होंने ऊंची कक्षाओं के छात्रों के लिए खेल अनिवार्य कर दिये थे। ग़ैर-हाज़िर रहनेवालों का कोई बहाना वह मानते नहीं थे। उस लड़के का नाम था मोहन-दास गांधी। झूठे होने का यह आरोप वह सह नहीं सका, फूट-फूटकर रोने लगा। उसने सच ही कहा था, लेकिन उसकी यह समझ में नहीं आ रहा था कि अपनी सचाई का विश्वास वह प्रधानाध्यापक को कैसे दिलाए ! इस घटना पर उसने बहुत सोचा और अंत में इस नतीजे पर पहुंचा कि "सच बोलनेवाले को चौकस भी होना चाहिए।" बस, उसने तय कर लिया कि आगे कभी ऐसा मौका ही नहीं आने देगा, जिससे उसकी किसी कैफ़ियत को झूठा समझा जाय।

वह लड़का न तो पढ़ाई में तेज था और न खेल में। स्वभाव से ही शांत, झेंपू और एकांतप्रिय था। उस लड़के के मुंह से लोगों के सामने बोल

तक नहीं फूटता था। औसत दर्जे का विद्यार्थी समझे जाने की उसे ज़रा भी फिक्र न थी, लेकिन अपनी प्रतिष्ठा के मामले में वह बड़ा सतर्क था। उसे इस बात का गर्व था कि अपने शिक्षकों और सहपाठियों से वह कभी झूठ नहीं बोला था। उसकी नीयत पर कोई ज़रा भी शक करता तो उसे रोना आ जाता था।

चरित्र के प्रति ऐसी जागरूकता एक चौदह वर्ष के लड़के में कुछ अन-होनी-सी बात लगती है, लेकिन वास्तव में वह गांधी-परिवार की परंपरा का ही एक अंश थी। मोहन के पिता करमचंद और दादा उत्तमचंद अपनी ईमानदारी और दृढ़ निष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे।

गांधी जाति से बनिया, व्यवसाय से पंसारी और जूनागढ़ रियासत के कुतियाणा गांव के मूल निवासी थे। गांधी-वंश के एक उद्योगी सदस्य हर-जीवन गांधी ने सन् १७७७ में पोरबंदर में एक मकान खरीदा, अपने बाल-बच्चों के साथ वहीं बस गये और छोटा-मोटा व्यापार करने लगे। लेकिन गांधी-परिवार की ख्याति उस समय हुई जब हरजीवन के बेटे उत्तम-चंद के कार्यों से प्रभावित होकर वहां के राणा खीमाजी ने उन्हें अपनी रियासत का दीवान बनाया।

पोरबंदर गुजरात-कठियावाड़ की तीनसौ में से एक रियासत थी। इन रियासतों पर संयोग से राजा के घर पदा होनेवाले और सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता की मदद से सिंहासन पर बैठनेवाले राजकुमार राज करते थे। यों तो कठियावाड़ राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ और सामंती इलाका था, लेकिन सदियों से भारत को बुनियादी एकता प्रदान करनेवाले धार्मिक आंदो-लनों और सामाजिक सुधारों के प्रभाव से बिलकुल अछूता भी नहीं था। गुज-रात और कठियावाड़ में हिंदुओं के कुछ प्रसिद्ध तीर्थ हैं। धुर पश्चिम में श्रीकृष्ण के उत्तर-जीवन की लीलास्थली द्वारिकापुरी अवस्थित है और सोमनाथ का इतिहास-प्रसिद्ध मंदिर भी यहीं है। प्राणी-मात्र को परमात्मा का अव-तंस मानकर उसकी पावनता पर समान रूप से जोर देनेवाले बुद्ध, महावीर और वल्लभाचार्य के उपदेश एवं मीराबाई के भजन तथा नरसी महेता के गीत यहां के लोगों को प्रेरणा देते रहे हैं। वैसे तो गुजरात अपने अध्यवसायी व्यापारियों के लिए प्रसिद्ध है, लेकिन वहां धार्मिक और सामाजिक सुधारकों

ने भी जन्म लिया। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद काठियावाड़ी थे और करमचंद गांधी के समकालीन थे। गुजरातियों के चरित्र में बड़ी दृढ़ता होती है। जब किसी उद्देश्य के लिए वे काम में जुट जाते हैं तो मार्ग में आनेवाली बाधाओं की परवा नहीं करते। गुजरात में जन्म लेने के ही कारण शायद गांधी और जिन्ना इस शताब्दी के भारतीय इतिहास को अलग-अलग ढंग से इतना अधिक प्रभावित कर सके।

उन दिनों किसी रियासत की दीवानगीरी चैन की नौकरी नहीं थी। मनमानी करनेवाले राजाओं, सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता के निरंकुश प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेंटों और युगों से दबी-कुचली प्रजा के बीच में रहकर ठीक ढंग से काम करने के लिए काफी कूटनीतिक होशियारी, समझदारी और व्यवहार-कुशलता की जरूरत होती थी। उत्तमचंद गांधी अच्छे प्रशासक साबित हुए। जब वह दीवान बने तो पोरबंदर गले तक कर्ज़ में डूबा हुआ और वहां बदइंतजामी का बोलबाला था। उन्होंने सारा कर्ज़ चुका दिया और बहुत अच्छा इंतजाम किया। लेकिन बदकिस्मती से राणा खीमाजी जवानी में ही मर गये। अब महारानी ने हुकूमत की बागडोर संभाली। मगर रानी को अपने दीवान की सचाई, स्वाभिमान और स्वतंत्र रूप से काम करना बिलकुल पसंद नहीं था। दोनों में संघर्ष अवश्यंभावी हो गया। जब उत्तमचंद ने खजाने के एक छोटे, लेकिन ईमानदार कर्मचारी कोठारी का पक्ष लेकर उसे शरण दी तो रानी और दीवान में ठन गई। बात यह हुई थी कि कोठारी ने महारानी की बांदियों का गलत हुक्म मानने से इनकार कर दिया था। गुस्से से आगबबूला रानी ने फौज का एक दस्ता भेजकर दीवान के घर पर घेरा डलवा दिया और तोपें चलवा दीं। बहुत दिनों तक गांधी-परिवार के पुश्तैनी मकान पर इस गोला-बारी के निशान बने रहे। सौभाग्य से अंग्रेज पोलिटिकल एजेंट को इस बात का पता चल गया और उसने रानी की इन कार्रवाइयों को फौरन रुकवा दिया। इस घटना के तुरंत बाद उत्तमचंद ने पोरबंदर छोड़ दिया और जूनागढ़ रियासत में अपने पैतृक गांव के लिए चल पड़े। वहां के नवाब ने उनका अच्छा सत्कार किया। लेकिन दरबार में उत्तमचंद ने नवाब को बाएं हाथ से सलाम किया। इस गुस्ताखी का कारण पूछे जाने पर उन्होंने जवाब दिया कि "मेरा दाहिना

हाथ तो, सबकुछ हो जाने पर भी, पोरबंदर को ही अपना मालिक तसलीम करता है।" इस बेअदबी के लिए उन्हें दस मिनट तक धूप में नंगे पाव खड़े रहने की सज़ा दी गई। लेकिन साथ ही नवाब उनकी स्वामिभक्ति से खुश भी बहुत हुआ और यह इनाम दिया कि अगर वह पुश्तैनी गांव में व्यापार करना चाहें तो उनसे और उनके वंशजों से चुंगी नहीं ली जायगी।

रानी की हुकूमत के बाद राणा विक्रमजीतसिंह पोरबंदर की गद्दी पर बैठे तो उन्होंने फिर से उत्तमचंद को अपना दीवान बनाना चाहा, लेकिन वह राजी न हुए। इसपर १८४७ में उत्तमचंद के बेटे करमचंद गांधी को, जिनकी उम्र पच्चीस बरस थी, पोरबंदर का दीवान बनाया गया। करमचंद गांधी ने अट्ठाईस बरस तक पोरबंदर की दीवानगीरी की। वह अपने पिता की ही तरह सच्चे और निडर दीवान थे। लेकिन आखिर में उनका राजा भी उनसे किसी कारण नाराज हो गया। तब ये अपने भाई तुलसीदास को दीवान-गीरी सौंपकर राजकोट चले आये और वहां के दीवान बन गये। राजकोट के दीवान की हैसियत से उन्होंने एक बड़ा ही दुस्साहसिक काम किया। सर्व-शक्तिमान ब्रिटिश हुकूमत के असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंट ने जब राजकोट के महाराज की शान में अपमानजनक शब्द कहे तो करमचंद ने उसे बुरी तरह फटकार दिया। इसपर वह गिरफ़्तार कर लिये गए। लेकिन उन्होंने उस अंग्रेज अफसर से माफी नहीं मांगी। एक रियासती दीवान की इस निडरता से वह अंग्रेज अफसर भौंचक्का रह गया और मामले को रफा-दफा कर उन्हें छोड़ देना ही उसने ठीक समझा।

एक-एक करके लगातार तीन पत्नियों की मृत्यु हो जाने पर करमचंद ने चौथा विवाह पुतलीबाई से किया, जो उनसे लगभग बीस वर्ष छोटी थीं। इनसे उनके तीन पुत्र हुए—लक्ष्मीदास (काला), कृष्णदास (करसनिया) और मोहनदास (मोहनिया)। रलियात (गोकी) बहन नामक एक लड़की भी हुई, जो तीनों भाइयों के बाद तक जीवित रही। पहली पत्नियों से करमचंद के दो पुत्रियां और भी थीं।

सबसे छोटे और भावी महात्मा, मोहनदास का जन्म २ अक्तूबर, १८६९ को हुआ था।

पोरबंदर के दीवान होते हुए भी करमचंद अपने पांचों भाइयों के साथ

उसी तिमंजिले पैतृक मकान में रहते थे। जो हिस्सा उन्हें मिला वह नीचे की मंजिल पर था। उसमें दो कमरे, एक छोटा रसोईघर और एक बरामदा था। उनके हिस्से का एक कमरा बीस फुट लम्बा और तेरह फुट चौड़ा तथा दूसरा कमरा तेरह फुट लम्बा और बारह फुट चौड़ा था। इसी मकान में अपने भाइयों, बहनों, कई चाचाओं और अनेक चचेरे भाइयों के बीच मोहनदास गांधी बड़े हुए। संकरी गलियों और भीड़-भरे बाजारोंवाला पोरबंदर नगर अरब सागर के तट पर बसा हुआ है। पूरा नगर एक बड़े परकोटे से घिरा हुआ है, जिसका ज्यादातर हिस्सा अब तोड़ दिया गया है। यहां के मकान और इमारतें स्थापत्य कला की दृष्टि से तो उल्लेखनीय नहीं, परन्तु एक ऐसे मुलायम सफेद पत्थर से अवश्य बनाई गई हैं, जो समय के साथ सख्त होता जाता है और धूप में संगमरमर की तरह चमकता है। इन सफेद पत्थरों के ही कारण इस नगर को 'धौलपुर' का रोमानी नाम दिया गया है। यहां की सड़कें मंदिरों से भरी पड़ी हैं। खुद गांधी-परिवार का मकान भी दो मंदिरों से लगा हुआ है। इस बंदरगाह की जिंदगी का समंदर से जुड़ा होना स्वाभाविक ही है। १९वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में भी यहां के बीसियों परिवारों के विदेशों से व्यापारिक संबंध थे। यहीं के एक प्रवासी व्यापारी के बुलावे पर गांधीजी बाद में दक्षिण अफ्रीका गये।

जब मोहनदास सात वर्ष के हुए तो उनके माता-पिता पोरबंदर से १२० मील उत्तर, राजकोट रहने चले आये। इस प्रकार राजकोट गांधी-परिवार का दूसरा घर बन गया। लेकिन पोरबंदर से भी उनके संबंध बराबर बने रहे। राजकोट में बच्चों के खेलने के लिए समुद्र का किनारा नहीं था, इस नगर में 'धौलपुर' की सुंदर छटा भी नहीं थी, लेकिन राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से यह उतना पिछड़ा हुआ नहीं था। पोरबंदर में मोहन एक प्राइमरी स्कूल में जाता था, जहां बच्चे धूल में अंगुलियों से वर्णमाला लिखते थे। लेकिन राजकोट में हाई स्कूल था।

मोहन की माता पुतलीबाई बड़ी योग्य महिला थीं। रनिवास में उनकी इज्जत थी और राज-परिवार की महिलाओं से मैत्री। लेकिन खुद उन्हें अपने घर और परिवार के कामों में लगे रहना ज्यादा सुहाता था। घर में जब भी कोई बीमार पड़ता, वे उसकी तीमारदारी में रात-दिन एक कर

देती थीं। आम तौर पर औरतों मे पाया जानेवाला अच्छे कपड़ों और गहनों का शौक उनमें ज़रा भी नहीं था। उनका जीवन मानो व्रत और उपवासों का एक अंतहीन सिलसिला ही था और अपनी इसी आस्था के बल पर उन्होंने अपने बेहद कमजोर शरीर को टिका रखा था। दिन और रात में, चाहे वह घर में हों या मंदिर गई हों, बच्चे उन्हें हर समय घेरे रहते थे। उनके इन व्रतों और लम्बे-लम्बे उपवासों से बच्चे परेशान भी होते थे और आकर्षित भी। धर्मग्रंथों में वह पारंगत नहीं थीं। पढ़ी-लिखी भी कुछ खास नहीं थीं। केवल अटक-अटककर गुजराती पढ़ लेती थीं। धर्म-संबंधी सारा ज्ञान उन्होंने घर पर या कथा-वार्ता एवं सत्संगों से प्राप्त किया था। वह आस्तिक भी थीं और अंधविश्वासी भी। बच्चों को न तो अंत्यजों को छूने देती थीं और न चंद्रग्रहण को देखने ही देती थीं। दूसरे बच्चों की अपेक्षा मोहन अधिक जिज्ञासु था। वह बड़े बेढब प्रश्न पूछा करता। घर के भंगी उका को छूने से छूत कैसे लग जाती है? ग्रहण को देखने से क्या नुकसान होता है? पुतलीबाई जो जवाब देतीं उनसे अक्सर उसका सन्तोष नहीं हो पाता था, लेकिन अपने सारे संशयों के बावजूद मोहन मां से इतना घुला-मिला था कि स्नेह के उस दृढ़ बंधन को वह जीवन-भर अनुभव करता रहा। १६०८ में जब गांधीजी, ३६ वर्ष के थे, एक लेखक ने लिखा है, "जब वह अपनी माता के बारे में बातें करते हैं तो उनकी आवाज़ कोमल हो जाती है और आंखें प्रेम से आलोकित हो उठती हैं।" यह सच है कि पुतलीबाई अपने बेटे की जिज्ञासा को शान्त नहीं कर पाती थीं और उसके मन को किशोरावस्था की अस्पष्ट नास्तिकता की ओर बहने से रोक भी नहीं सकती थीं, परन्तु फिर भी उनके अनन्त प्रेम, सीमातीत, कठोरतम और दृढ़ इच्छा-शक्ति ने गांधीजी के जीवन को अमिट रूप से प्रभावित किया है। माता के ये गुण उस व्यक्ति के लिए प्रेरणा के अमर स्रोत बन गये, जिसे अपने भावी जीवन में संयम और आत्म-नियन्त्रण के लिए सतत संघर्ष करना था और जिसकी सारी लड़ाइयां मनुष्य के दिल को जीतने के लिए लड़ी जानी थीं। पुतलीबाई से प्रेरित नारी की जो प्रतिमा उनके हृदय में अंकित हुई वह प्रेम और बलिदान की प्रतिमा थी। मातृत्व की इस सहज स्नेह भावना का कुछ अंश गांधीजी में भी था, जो उनकी उम्र के साथ

निरन्तर विकसित होता गया और अन्ततः परिवार तथा समुदाय के संकुचित दायरों को तोड़कर सम्पूर्ण मानवता में व्याप्त हो गया। गांधीजी ने अपनी माता से सेवा का वह उत्साह ही नहीं पाया; जिसकी प्रेरणा से वह अपने आश्रम में कोढ़ियों के घाव धोया करते थे, बल्कि आत्म-पीड़ा द्वारा दूसरों के हृदय को प्रेरित और द्रवित करने की कला भी सीखी, जिसका कि पत्नियां और माताएं अनन्त काल से प्रयोग करती आ रही हैं।

मोहन के पिता करमचन्द गांधी ने स्कूली शिक्षा ज़रा भी नहीं पाई थी। लेकिन दुनियादारी का उनका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। आदमियों की उनकी परख भी बहुत अच्छी थी। अपने पुत्र के शब्दों में वह "अपने भाई-बन्धुओं को प्यार करनेवाले, सत्यवादी, वीर और उदार थे।" धन जोड़ने में उनकी ज़रा भी रुचि नहीं थी, यहांतक कि अपने पीछे बच्चों के लिए कोई जायदाद भी नहीं छोड़ गये। उनके घर में रामायण और महाभारत जैसे पुराण ग्रंथों का पारायण होता था। जैन मुनियों तथा पारसी और मुस्लिम संतों से धर्म के तत्त्व पर प्रायः चर्चाएं भी होती थीं। लेकिन करमचन्द का धर्म अधिकतर औपचारिकता तक ही सीमित था। स्वयं उनके बेटे का, अपनी बासठ वर्ष की उम्र में कहना है, "जो भी धार्मिकता आप मुझमें देखते हैं वह मैंने अपनी मां से पाई है, पिताजी से नहीं।"[1]

करमचंद और उनके सबसे छोटे बेटे की उम्र में आधी सदी का अन्तर था। उम्र के इस फर्क ने पुत्र के लिए पिता को स्नेहशील साथी की जगह सोलहों आने पूजनीय बना दिया था और जब इस पितृभक्त बालक ने श्रवण की पितृभक्ति पर एक पुराना नाटक पढ़ा तो अन्धे माता-पिता को कांवर में बिठाकर तीर्थ-यात्रा के लिए ले जाते हुए श्रवण का चित्र कोमल-मति मोहन के मस्तिष्क पर अमिट रूप से अंकित ही नहीं हुआ, श्रवण उसका आदर्श भी बन गया। माता-पिता की आज्ञा का पालन उसका मूल-मन्त्र हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, माता-पिता के साथ-साथ पहले शिक्षकों और तब सभी बड़े लोगों की आज्ञा का तत्परता से पालन करना उसका अटल नियम बन गया। लेकिन बाल-सुलभ आच-

---

१ 'महादेवभाई की डायरी'; अंग्रेज़ी संस्करण; खंड १, ३१ मार्च, १९३२ का उल्लेख

रणों के इस परित्याग ने उसे इतना संकोची, भीरु और झेंपू बना दिया कि उसने हमउम्र बालकों के साथ खेलना ही नहीं, बोलना-बतियाना भी बन्द कर दिया। वह अपनेको इतना हीन और अयोग्य समझने लगा कि यदि स्कूल में कोई पुरस्कार अथवा पदक मिलता तो इस आशंका से उसे अन्दर की जेब में रख लेता कि कहीं दूसरों को उसकी योग्यता की जानकारी न हो जाय।

मानो इतना काफी न हो, इसलिए तेरह वर्ष की कच्ची उम्र में उस बेचारे का विवाह भी कर दिया गया। माता-पिता ने बचत और सुविधा के लिहाज से तीन शादियां एक साथ कीं—मोहन की, कृष्णदास की और उसके एक चचेरे भाई की। मोहन की वधू गांधी-परिवार के मित्र और पोरबंदर के एक व्यापारी गोकलदास मकनजी की पुत्री थीं। इन बच्चों में और खास तौर पर मोहन में किशोरावस्था की उमंग के तूफानी जोश से प्रेम का उदय हुआ। एक छोटी-सी गुजराती पुस्तक से मोहन ने पत्नी के प्रति आजीवन निष्ठावान रहने का आदर्श ग्रहण किया। अपने इस संकल्प के बाद वह इस नतीजे पर पहुंचा कि पत्नी को भी उसके प्रति ऐसी ही निष्ठा बरतनी चाहिए। मतलब यह कि पत्नी के चाल-चलन पर चौकसी रखने का उसे पूरा-पूरा अधिकार है। सहेलियों के यहां या मंदिर जाने के लिए उसे अपने पति से इजाजत लेनी होती थी। मोहन उन दिनों एक बुरे मित्र की सोहबत में था, जिसने उसकी ईर्ष्या को भड़काकर मामले को और भी जटिल कर दिया था। नन्हीं कस्तूरबाई बड़ी ही मनस्वी लड़की थीं। पति के इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण नियंत्रणों से नाराज हो जातीं और शांत एवं दृढ़ ढंग से उनका विरोध करतीं। संदेहों और आशंकाओं के वे दुःखभरे दिन युवा पति के लिए काफी शिक्षाप्रद सिद्ध हुए। कई बरसों बाद, जॉन एस० होईलैंड से इस प्रसंग की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा : "पत्नी को अपनी इच्छा के आगे झुकाने की कोशिश में मैंने उनसे अहिंसा का पहला सबक सीखा। एक ओर तो वह मेरे विवेकहीन आदेशों का दृढ़ता से विरोध करतीं, दूसरी ओर मेरे अविचार से जो तकलीफ होती उसे चुपचाप सह लेती थीं। उनके इस आचरण से मुझे अपने-आपपर शर्म आने लगी और मैं इस मूर्खताभरे विचार से अपना पीछा छुड़ा सका कि पति होने के नाते मैं

उनपर शासन करने के लिए जनमा हूं। इस तरह वह अहिंसा की शिक्षा देने-वाली मेरी गुरु बनीं।" विवाह का सीधा नतीजा यह हुआ कि मोहन उस साल स्कूल में फेल हो गया। लेकिन अगले साल उसने एक साथ दो कक्षाओं की परीक्षा देकर इस नुकसान की भरपाई कर ली। उसके बड़े और चचेरे भाइयों को तो शादी के कारण पढ़ाई से ही हाथ धोना पड़ा था; लेकिन सौभाग्य से मोहन के साथ ऐसा नहीं हुआ, उसकी पढ़ाई जारी रही।

आज्ञाकारी होने का मोहन को मन-ही-मन बड़ा गर्व था। उसने बड़ों की आज्ञा का पालन करना सीखा था, मीन-मेख निकालना नहीं। लेकिन एक समय आया जब यह आज्ञाकारिता उसके लिए दुःखदायी हो गई। किशोरावस्था के विद्रोह का रूप तोड़े जानेवाले निषेधों और वर्जनाओं की शक्ति पर निर्भर करता है। गांधी-परिवार वैष्णव संप्रदाय का अनुयायी था। इस संप्रदाय में मांस-भक्षण और धूम्रपान घोर पाप माने जाते थे। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मोहन अपने जीवन के इस विद्रोही काल में मांस-भक्षण और धूम्रपान के प्रलोभनों में फंस गया। मह-ताब नामक एक धूर्त सहपाठी ने बड़ी चतुराई से उसे इस जाल में फंसाया। मांस खाने का जोरदार समर्थन करते हुए उसने कहा कि ऊपर से चाहे जितनी कसमें खायें, मगर शहर के ज्यादातर बाशिन्दे, यहांतक कि मदरसे के मास्टर भी छिप-छिपकर गोश्त खाते हैं। गोश्त खानेवाले अंग्रेजों को ही देख लो, कितने हट्टे-कट्टे होते हैं, साग-सब्जी खानेवाले हिंदुस्तानी आजतक उन्हें हटा नहीं सके; गोश्त खाना सब बीमारियों की हुक्मी दवा है, इसको खानेवाले के फोड़े-फुंसी नहीं होते; और जिन भूतों से सपने में इतना डरते हो, वे तो जहां तुमने गोश्त खाया कि रफूचक्कर हुए!

दोस्त के इन जोरदार कुतर्कों ने मोहन की सारी दलीलों को काट फेंका। लेकिन वह अपने माता-पिता को आघात नहीं पहुंचाना चाहता था, इसलिए नदी के किनारे सुनसान जगह में मांस खाने का इन्तजाम किया गया। पहली बार मांस खाने के बाद उसकी वह रात बहुत बुरी तरह गुजरी। लगता था जैसे बकरा पेट में मिमिया रहा हो। लेकिन थोड़े-थोड़े फासले से मांसाहार का यह सिलसिला बराबर चलता रहा और शुरू-शुरू में जो घबराहट हुई थी, उस पर मोहन ने काबू पा लिया। लेकिन एक उलझन फिर

भी बनी रही। चोरी-छुपे मांस खा आने के बाद, हर बार घर में भोजन के समय मां के आगे भूख न होने का बहाना करना पड़ता था, और झूठ बोलना मोहन की आदत के खिलाफ था। आखिर में उसने यह फैसला किया कि जब बड़ा हो जाऊंगा और अपने किये की दूसरों को कैफियत नहीं देनी होगी तभी मेरे लिए मांस खाना उचित होगा।

धूम्रपान इस उम्र का दूसरा अपराध था। एक हमजोली के साथ मोहन अपने काका के द्वारा फेंके हुए बीड़ी के टुकड़े पीने लगा। लेकिन इसमें पूरा मजा नहीं आता था और खरीदकर बीड़ी पीने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे, इसलिए वे नौकरों के पैसे चुराने लगे। यह लूट-खसोट भी ज्यादा काम नहीं आई, तब विवश होकर वे एक जंगली पौधे के पोले डंठल को पीने लगे। इससे तकलीफ होती, यहांतक कि जीवन ही बेकार मालूम पड़ने लगा। अंत में इतने निराश हो गये कि आत्महत्या के द्वारा उस विकट समस्या को सुलझाने के इरादे से एक शाम सूने मंदिर में पहुंचे। मगर ऐन वक्त पर हिम्मत जवाब दे गई और इस दुनिया से किनारा करने के बदले उन्होंने धूम्रपान से ही किनारा करने का फैसला कर लिया।

इसी उम्र में मोहन ने चोरी भी की। अपने भाई का कर्ज चुकाने के लिए उसने सोना चुराया था। लेकिन उसकी आत्मा अपराध के इस बोझ को सह न सकी। एक पत्र में इस अपराध की बात लिखकर उसने पिताजी को सूचित कर दिया और उनसे माफी मांगी। पिता और पुत्र दोनों एक साथ रो उठे। पुत्र ने रोकर पश्चात्ताप किया और पिता ने आंसू बहाते हुए उसे माफ कर दिया।

मोहन की किशोरावस्था उसकी उम्र के दूसरे लड़कों से अधिक उपद्रवकारी नहीं थी। मांस-भक्षण और धूम्रपान-जैसे निषिद्ध कार्य करने का दुस्साहस या छोटी-मोटी चोरियां इस उम्र के लड़कों के लिए गैरमामूली बात न तब थी, न अब है। लेकिन जिस तरीके से मोहन के दुस्साहसपूर्ण कार्यों का अंत हुआ वह जरूर असाधारण है। हर बार उसने एक समस्या को उठाया और नैतिक आधार पर उसका हल ढूंढ़ा। हर अपराध के बाद उसने आगे कभी वैसा अपराध न करने की कसम खाई और हमेशा उस कसम को निभाया।

शायद एक अस्वाभाविक गंभीरता और संकोच-भीरुता के अलावा उसमें और उसकी उम्र के दूसरे लड़कों में कोई फर्क नहीं था। देखने में वह उन लड़कों-जैसा नहीं लगता था, जो धक्का-मुक्की करके भीड़ में से रास्ता बना लेते हैं। ऊपर से शांत और उत्साहहीन दिखाई देने के बावजूद उसमें आत्मोन्नति की प्रबल लालसा थी। जो अच्छा न लगे उसे भूल जाना और जो अच्छा लगे उसे करते जाना उसकी आदत में शुमार हो गया था। जिसे दूसरे लड़के मनोरंजन के लिए पढ़ते थे उसे वह ज्ञान हासिल करने के लिए पढ़ता था। भारत के लाखों बच्चों ने प्रह्लाद और हरिश्चन्द्र की कथाएं सुनी या पढ़ी हैं। प्रह्लाद असह्य कष्ट सहकर भी भगवान् की भक्ति पर अटल रहा और हरिश्चन्द्र ने सत्य के लिए सर्वस्व का त्याग कर दिया। ये पौराणिक चरित्र असल में कवि की काल्पनिक सृष्टि हैं और पुराणों के पाठक इन्हें कवि-कल्पना ही समझते हैं। लेकिन मोहन के लिए वे जीवित आदर्श थे। इतिहास अथवा साहित्य उसके लिए विस्मय के अक्षय कोष ही नहीं, उच्च और पवित्र जीवन के अजस्र प्रेरणा-स्रोत भी थे। जब उसकी उम्र के दूसरे बच्चे रस्मी इनामों और तमगों के लिए होड़ बद रहे होते, यह भावुक लड़का अपने लिए नैतिक समस्याओं को उभारकर उन्हींमें उलझा रहता और उनका समाधान खोजा करता।

: २ :
इंग्लैंड में

१८८७ में मोहन ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। एक साल पहले पिता की मृत्यु हो जाने से घर की आर्थिक हालत बहुत बिगड़ गई थी। घर में पढ़ाई जारी रखनेवाला अकेला वही लड़का था। परिवार को उससे बड़ी उम्मीदें थीं। इसलिए आगे पढ़ाने के लिए उसे पास के शहर भावनगर के कालेज में दाखिल कराया गया। लेकिन वहां पढ़ाई अंग्रेजी में होती थी। मोहन अंग्रेज़ी के व्याख्यान समझ नहीं पाता था। उसे बड़ी निराशा होती, यहांतक कि तरक्की और कामयाबी की उम्मीद ही नहीं

रह गई।

इसी बीच परिवार के एक मित्र, भावजी दवे ने सुझाया कि मोहन को इंग्लैंड जाकर कानून पढ़ना चाहिए। उन दिनों इंग्लैंड से बैरिस्टरी करना कहीं आसान था। उसकी तुलना में भारत के विश्वविद्यालय से डिग्री हासिल करने में धन, समय और शक्ति तीनों अधिक लगते थे और नौकरी के बाजार में उस डिग्री की उतनी कद्र भी नहीं थी। बम्बई की डिग्री हासिल कर लेने पर ज्यादा-से-ज्यादा क्लर्की मिल सकती थी, और दवे साहब का कहना था कि अगर मोहन अपने दादा और पिता की तरह काठियावाड़ की किसी रियासत का दीवान बनना चाहे तो उसे विदेश के किसी विश्वविद्यालय की डिग्री की जरूरत होगी। करमचंद और उत्तम-चंद गांधी ऊंचे पदों पर थे और उन्होंने थोड़ी-सी शिक्षा से ही अपना काम चला लिया था, मगर अब जमाना बदल गया था। मैकाले की शिक्षा-योजना लागू हो चुकी थी। भारतीय विश्वविद्यालय हर साल हज़ारों की संख्या में कला और कानून के स्नातक तैयार कर रहे थे। ऐसे स्नातकों की तादाद बहुत अधिक हो गई थी। इसलिए विलायत जाकर डिग्री हासिल करना ऊंची नौकरी की होड़ में यकीनन फायदे की बात थी।

विदेश जाने की बात सुनकर मोहन खुशी से नाच उठा। भावनगर कालेज के अध्यापकों के लेक्चर उसकी समझ में नहीं आते थे। इसलिए दार्शनिकों और कवियों के देश और सभ्यता के केन्द्र इंग्लैंड को देखने की उत्कंठा के साथ-साथ कालेज से छुटकारा पाने की आशा बलवती हो उठी। उसके बड़े भाई को भी यह प्रस्ताव पसंद आया। पर उन्हें इस बात की फिक्र होने लगी कि खर्च के लिए पैसा कहां से आयगा? और माता पुतली-बाई की तो छाती ही बैठ गई। अपने सबसे छोटे और लाड़ले बेटे को वह समन्दर-पार विलायत के अनजाने प्रलोभनों और खतरों के बीच कैसे भेज देतीं? यह मसला उनके लिए बहुत बड़ा और टेढ़ा था। जब इसमें उन्हें अपनी अकल चलती दिखाई न दी तो वह सोचने लगीं कि "काश, इसका फैसला करने के लिए आज मोहन के पिता जीवित होते!" अंत में उन्होंने मोहन को अपने काका के पास, जो गांधी-परिवार के बुजुर्ग और कर्ता-धर्ता थे, इस मामले में सलाह के लिए भेजा। बैलगाड़ी और ऊंट पर यात्रा

करके मोहन काका से मिलने के लिए पोरबंदर पहुंचा। काका ने आव-भगत और स्नेह तो बहुत किया, लेकिन धर्म को भ्रष्ट करनेवाली समुद्री यात्रा के लिए इजाजत देने को खुले मन से राजी न हुए। मोहन पोरबंदर राज्य के अंग्रेज हाकिम मि० लेली से वजीफा मांगने भी गया। गांधी-परिवार ने उस राज्य की बड़ी सेवाएं की थीं, लेकिन वहां भी निराशा ही हाथ लगी। उस अंग्रेज़ अफसर ने नाम-मात्र का सौजन्य दिखाते हुए कहा, "पहले बंबई विश्वविद्यालय की डिग्री ले लो, इंग्लैंड के लिए वजीफे की बात उसके बाद करना।" इस तरह हर कदम पर निराशा का सामना करना पड़ रहा था, लेकिन मोहन ने हिम्मत नहीं हारी। वह जानता था कि अगर इंग्लैंड जाना न मिला तो फिर भावनगर लौटना होगा, जो उसे ज़रा भी पसंद न था। कोई चारा न देख वह पत्नी के गहने तक बेचने की बात सोचने लगा। लेकिन जब उदारमना बड़े भाई ने रुपया इकट्ठा कर देने की हामी भर ली तो यह मजबूरी गैरजरूरी हो गई। और मां के इत्मीनान के लिए बेचरजी स्वामी नामक एक जैन मुनि ने मोहन से परदेस में औरत, शराब और मांस को न छूने की प्रतिज्ञा करवा ली।

लेकिन एक नई बाधा ठीक उस समय आ खड़ी हुई, जब मोहन समुद्र-यात्रा पर रवाना हो ही रहा था। उसकी जाति के बड़े-बूढ़े मोढ़ बनियों ने जाति की पंचायत करके मोहन से साफ शब्दों में कह दिया, "इंग्लैंड जाना हिंदू-धर्म के खिलाफ है।" इसपर उन्नीस बरस का वह युवक, जो कालेज के विदाई-समारोह में धन्यवाद के दो शब्द भी ठीक ढंग से बोल नहीं सका था, अपनी जाति के बड़ी-बड़ी डाढ़ियोंवाले खुर्राट नेताओं के चढ़े तेवरों का मुकाबला करने के लिए डट गया। मोहन की इस बेअदबी से नाराज होकर पंचों ने उसे जाति से बहिष्कृत करने का फतवा दे डाला, लेकिन उनके इस नादिरशाही हुक्म के अमल में आने से पहले ही, ४ सितम्बर १८८८ को, मोहन बंबई से विदेश के लिए रवाना हो गया।

राजकोट के देहाती वातावरण से एकदम जहाज का सार्वदेशिक वाता-वरण मोहन के लिए बड़ा भारी परिवर्तन था। पश्चिमी ढंग के भोजन, यूरोपीय वेशभूषा और रीति-रिवाजों में अपने-आपको ढालना उसके लिए बड़ा ही कष्टदायी काम था। साथ के यात्री जब बोलते या पुकारते तो उससे

जवाब देते नहीं बनता था। स्कूल और कालेज में जो थोड़ी-बहुत अंग्रेजी सीखी थी वह यहां काम नहीं आती थी। जब भी बोलने के लिए मुंह खोलता अपनी मूर्खता और अज्ञान का विचार उसके मन को बुरी तरह कचोटने लगता था। मांस न खाने की प्रतिज्ञा ने उसकी कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया था। बैरे से यह पूछने की हिम्मत न हो पाती थी कि खाने की कौन-सी चीज़ किसोकी बनी है, इसलिए घर से लाई हुई मिठाई और फलों से ही वह अपना काम चला रहा था। बिनमांगी सलाह देकर उसकी घबराहट को बढ़ानेवालों की कोई कमी नहीं थी। एक सहयात्री ने उससे कहा कि अदन के बाद मांस खाये बिना तुम्हारा काम चलने का नहीं। जब अदन खैरियत से पार हो गया तो उसे चेतावनी दी गई कि लाल सागर के बाद तो मांस खाना निहायत जरूरी हो जायगा और भूमध्यसागर में पहुंचने पर तो मौत के एक मसीहा ने बड़ी गंभीरता से यह घोषणा कर दी कि बिस्के की खाड़ी में पहुंचने पर मांस-मदिरा का सेवन करने या मौत को गले लगाने के सिवा और कोई चारा नहीं है।

इंग्लैंड पहुंचने के बाद अकेलापन उसपर पूरी तरह हावी हो गया। इसका एक कारण तो यह था कि अपनी मर्ज़ी से देश छोड़कर आनेवाले हर भारतीय विद्यार्थी की तरह उसे भी परदेश में घर की याद सताती थी, और फिर आत्म-विश्वास की कमी, झेंपूपन और अतिशय भावुकताजन्य संशय और आशंकाएं उसके अकेलेपन की भावना को और उभार देती थीं। अकसर उसका मन भटककर राजकोट के अपने घर में प्यारी मां, पत्नी और नन्हें बच्चे के पास पहुंच जाता था। उसे अपना भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगता था। दूसरी तरह के जलवायु, अनोखे वातावरण और नये प्रकार के रहन-सहन में अपने-आपको ढाल लेना आसान नहीं था। निरामिष भोजन की अपनी प्रतिज्ञा के कारण उसे हमेशा ही अधपेट रहने को मजबूर होना पड़ता था, फिर लोग उसकी खिल्ली भी उड़ाते थे। अकेलेपन के अतिशय दुःख से घबराकर जब वह सोचता कि लम्बे-लम्बे तीन साल यहां काटने होंगे तो उसकी आंखों की नींद उड़ जाती और वह फूट-फूटकर रोने लगता।

शाकाहार की प्रतिज्ञा उसके जी का जंजाल हो गई थी। इंग्लैंड के

उसके मित्रों को यह फिक्र सताने लगी कि खान-पान का परहेज उसके स्वास्थ्य को चौपट ही नहीं कर देगा, वह यहां के समाज में घुल-मिल भी नहीं पायगा और खासा नक्कू बनकर रह जायगा। मांस खानेवालों की दलीलों का वह जवाब नहीं दे पाता था। सचाई तो यह है कि मांस खाने की उसकी इच्छा भी होती थी, लेकिन प्रतिज्ञा के कारण हाथ बंधे हुए थे। जब मन बहुत चलायमान हो जाता तो मां से की हुई प्रतिज्ञा का पालन करने की शक्ति पाने के लिए हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना करने लगता था।

एक दिन लंदन में घूमते हुए फेरिंग्डन स्ट्रीट में सहसा उसे एक शाकाहारी रेस्तरां मिल गया। इस बारे में वह स्वयं लिखता है कि "इस रेस्तरां को देखकर मुझे उतनी ही खुशी हुई जितनी अपनी मनपसंद चीज़ को पाकर किसी बच्चे को होती है।" भारत से आने के बाद पहली बार इस होटल में भरपेट खाना खाया। यहां से उसने शाकाहार का समर्थन करनेवाली 'प्ली फार वेजीटेरियनिज्म'[1] नामक किताब भी खरीदी, जिसके लेखक मिस्टर साल्ट थे। उनके तर्क उसके मन को भा गये। अबतक निरामिष भोजन उसके लिए भावना का विषय था, इस पुस्तक को पढ़ने के बाद वह तर्क-संगत विश्वास और आस्था बन गया। मां के प्रति सम्मान-भावना से अपनाया हुआ शाकाहार एक असुविधाजनक प्रतिज्ञा थी, जो अब उसके जीवन का लक्ष्य हो गया और उसने एक ऐसे शारीरिक और मानसिक अनुशासन को जन्म दिया, जिसकी बदौलत उसका पूरा जीवन ही बदल गया। इस रेस्तरां की खोज का सही महत्त्व वह उस समय नहीं आंक पाया। लेकिन यहीं से उसकी विकास-यात्रा का वह लम्बा और कठिन मगर पक्का रास्ता शुरू होता है जो उसे लंदन की फेरिंग्डन स्ट्रीट से दक्षिण अफ्रीका की फिनिक्स और टॉल्स्टाय बस्तियों से होता हुआ भारत में साबरमती और सेवाग्राम आश्रमों तक ले जाता है।

शाकाहार के प्रति दृष्टिकोण के इस परिवर्तन से गांधीजी में एक नये आत्मविश्वास का उदय हुआ। लोगों द्वारा सनकी समझे जाने की अब उन्हें ज़रा भी परवा नहीं थी। मित्रों को यह अंदेशा तो था ही कि निरामिष

[1] 'शाकाहार के पक्ष-समर्थन में'

भोजन कहीं उनकी तंदुरुस्ती को खराव न कर दे। अपने इन आलोचकों का मुंह वंद करने और यह दिखा देने के लिए कि निरामिषभोजी भी अपने को नये वातावरण में ढाल सकता है, उन्होंने काफी जोर-शोर से अंग्रेजी तौर-तरीकों को अपनाना शुरू कर दिया। इस दिशा में उन्हें अभी वहुत-कुछ सीखना था। भारत के स्कूल और कालेज में वह काठियावाड़ी पोशाक पहनते थे, इसलिए जहाज पर यात्रा करते समय और इंग्लैंड पहुंच जाने पर भी उन्हें यूरोपीय पोशाक में बड़ी असुविधा होती और वह भोंड़ी भी लगती थी। अंग्रेजी उन्हें इतनी कम आती थी कि मामूली बातचीत में भी पहले मातृ-भाषा में सोचकर तव अंग्रेजी में उलथा करना पड़ता था।

अव सोलहो आना अंग्रेज बनने का निश्चय कर लेने के बाद उन्होंने इसके लिए न धन की परवा की, न समय की। जव अंग्रेजियत का मुलम्मा चढ़ाने का फैसला कर लिया तो वह बढ़िया-से-बढ़िया होना चाहिए, कीमत जो भी देनी पड़े। लंदन के सवसे फैशनेबुल और महंगे दर्जियों से सूट-सिलवाए गए। घड़ी में लगाने के लिए भारत से सोने की दुलड़ी चैन मँगवाई गई। बातचीत करने, नाचने और गाने की बाकायदा शिक्षा विशेषज्ञों से ली जाने लगी। इस तरह की शिक्षा-दीक्षा और वेशभूषा से सज्जित वीस वरस के एम० के० गांधी को, १८९० के फरवरी महीने में, पहली वार पिकैडली सर्कस में देखने के बाद उनके समकालीन श्री सच्चिदानन्द सिनहा पर जो छाप पड़ी उसका वर्णन करते हुए वह लिखते हैं, "उन्होंने एक चमचमाती हुई रेशमी टाप हैट पहन रखी थी। ग्लैडस्टन-शैली का उनका कालर एकदम कड़क कलफवाला था। पतली धारियोंवाली बढ़िया रेशमी कमीज पर इन्द्रधनुष के सातों रंगोंवाली शोख टाई बांधी गई थी। गहरे रंग की धारीदार पतलून पर उसीके मेल की दुहरे पल्लेवाली वास्केट और ऊपर मार्निंग कोट पहिना था। पांवों में पेटेंट चमड़े के बूट और टखनों को गरमानेवाली पट्टियां (स्पैट्स) थीं। हाथों में चमड़े के दस्ताने और चांदी की मूठवाली छड़ी भी। चश्मा जरूर नहीं लगा रखा था। उस जमाने की प्रचलित भाषा में कहें तो खासमखास छैला, दिलफेंक रंगीला—एक ऐसा विद्यार्थी जो पढ़ाई से मुंह मोड़कर फैशन और मौज-शौक में गले

तक डूबा हो।[1]

लेकिन गांधीजी इन प्रयोगों में अपने-आपको दिलोजान से कभी नहीं लगा सके। आत्म-निरीक्षण की उनकी आदत ने कभी उनका पीछा नहीं छोड़ा। अंग्रेज़ी नाच और गाना सीखना उनके लिए आसान काम नहीं था। दर्जी, बजाज और नाचघर उन्हें 'अंग्रेज़ साहब' तो जरूर बना देते, लेकिन वह साहबियत सिर्फ शहराती और ऊपरी होती। उनके भाई परिवार का पेट काटकर और शायद कर्ज़ लेकर, विलायत की महंगी पढ़ाई जारी रखने के लिए पैसा भेज रहे थे। जब गांधीजी ने इन सारी बातों पर विचार किया तो उन्हें लगा कि अंग्रेज़ साहब बनने की मरीचिका निरी मूर्खता है।

तीन महीने फैशन की चकाचौंध में भटकने के बाद उनका आत्मलीन मन फिर अपने घोंघे में आ बैठा। अंधाधुंध फिजूलखर्ची ने अब अत्यधिक सतर्कतापूर्ण मितव्ययिता का रूप ले लिया। वे एक-एक फार्दिंग का हिसाब रखने लगे। सस्ते कमरे में आकर रहने लगे। नाश्ता खुद बना लेते और बस-किराया बचाने के लिए रोज आठ-दस मील पैदल चलते। इस तरह वह अपना पूरे महीने का खर्च सिर्फ दो पौंड में चला लेते थे। परिवार के प्रति कृतज्ञता और अपने दायित्व को वह बड़ी गंभीरता से अनुभव करते और उन्हें इस विचार से खुशी होती कि अब भाई से खर्च के लिए ज्यादा पैसा नहीं मंगवाना पड़ेगा। सादगी ने उनके जीवन के बाह्य और आंतरिक दोनों पक्षों को संतुलित कर दिया। शुरू के तीन महीनों की फैशनपरस्ती तो जो लोग उन्हें अंग्रेजी समाज में घुलने-मिलने के लिए अनुपयुक्त समझते थे, उनसे बचने का केवल रक्षात्मक आवरण थी।

आहारशास्त्र और धर्म को एक-दूसरे से जोड़ना ज्यादती ही है, लेकिन गांधीजी के विकास में ये दोनों अविच्छिन्न रूप में जुड़े हुए हैं। शुरू-शुरू की निरामिषता उनकी वैष्णव वंश-परम्परा का अंग थी। उनके परिवार में मांस-भक्षण निषिद्ध समझा जाता था। कुछ समय के लिए उनके सह-

---

[1] 'अमृत बाजार पत्रिका' के २६ जनवरी, १९५० के गणतंत्र-दिवस विशेषांक में प्रकाशित लेख

पाठी शेख महताब ने मांस खाने के लिए उन्हें चतुराई से फुसला जरूर लिया था, लेकिन माता-पिता से झूठ बोलना उन्हें पसन्द नहीं था, इसलिए उन्होंने फैसला किया कि वड़ी उम्र में खुद मुख्तार हो जाने पर ही इस नियामत का उपभोग करेंगे। मां से मांस न खाने की जो प्रतिज्ञा कर आये थे, इंग्लैंड में वड़ी सावधानी से उसका पालन करते रहे। लेकिन वह प्रतिज्ञा तर्कसम्मत होने की अपेक्षा भावना-जन्य ही अधिक थी और गांधीजी भी इस बात को अच्छी तरह जानते थे। निरामिष भोजन की अच्छाइयों का ज्ञान उन्हें साल्ट की पुस्तक पढ़ने के बाद ही हुआ। फिर तो नये मुल्ला के उत्साह से वह आहारशास्त्र की किताबों-पर-किताबें पढ़ने और पाक-विज्ञान के प्रयोग करने में जुट गये। उन्होंने मिर्च-मसाले छोड़ दिये और यह नतीजा निकाला कि स्वाद का संबंध जीभ से उतना नहीं, जितना मन से है। स्वाद और रसना पर नियंत्रण उस आत्मानुशासन की दिशा में पहला कदम था, जो कई बरसों के बाद समग्र संयम में प्रस्फुटित हुआ। आहार के जो प्रयोग उन्होंने स्वास्थ्य और मितव्ययिता की दृष्टि से शुरू किये थे, वे आगे चलकर उनके धार्मिक और आध्यात्मिक विकास के अंग बन गये।

इंग्लैंड में शाकाहार के तर्कसम्मत रूप ग्रहण करने का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि उनकी झिझक काफी हद तक मिट गई और वह संकोच छोड़कर धीरे-धीरे समाजोन्मुख होने लगे। 'वेजीटेरियन' (शाकाहारी) पत्रिका में नौ लेख लिखकर उन्होंने पत्रकारिता की दिशा में पहला कदम उठाया। ये लेख मुख्यत: वर्णनात्मक थे। इनमें भारतीयों के भोजन, आदतों, सामाजिक प्रथाओं और त्योहारों का वर्णन किया गया था और यहां-वहां व्यंग्य की फुहारें भी थीं। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखकर विचार किया जाय कि भावनगर कालेज में अंग्रेज़ी व्याख्यानों को वह समझ नहीं पाते थे तो इन लेखों को छपने के लिए भेजना निस्संदेह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि थी। वह लंदन की शाकाहारी संस्था की कार्य-कारिणी के सदस्य बन गये और उसका सदस्यता-पदक बनाने का काम उन्होंने अपने जिम्मे ले लिया। वेज़वाटर में, जहां वह कुछ समय तक रहे थे, उन्होंने एक शाकाहारी क्लब की स्थापना भी की। उस समय के प्रमुख

शाकाहारी सर एडविन आर्नोल्ड से उनका सम्पर्क भी हुआ। इनकी लिखी 'लाइट ऑव एशिया' (एशिया की ज्योति : बुद्ध-चरित्र) और 'सौंग सेलेशियल' (दिव्य संगीत : भगवद्गीता का अनुवाद) का गांधीजी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। लंदन के निरामिष जलपान-गृहों और भोजनागारों में उनकी भेंट खान-पान में परहेज़ करनेवाले धुनियों और सनकियों से ही नहीं, कट्टर धर्म-धुरीण व्यक्तियों से भी हुई। इन्हीं धर्म-धुरीणों में से किसी एक के द्वारा गांधीजी का बाइबल से पहला परिचय हुआ।

इंग्लैंड में तीन वर्ष रह लेने के बाद भी उनका बेहद शर्मीलापन पूरी तरह से दूर नहीं हुआ। शाकाहारियों के संगठन के अतिरिक्त जिस दूसरे संगठन ने उन्हें आकर्षित किया, उसका नाम था अंजुमन इस्लामिया। यह भारत के मुसलमान विद्यार्थियों का संगठन था। ये विद्यार्थी जलपान-गोष्ठियों में सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर बहस किया करते थे। गैर-मुस्लिम विद्यार्थी भी इन चर्चाओं में भाग ले सकते थे। इस प्रकार यह संगठन इंग्लैंड में कई ऐसे भारतीय विद्यार्थियों को एक-दूसरे के निकट लाया, जिन्होंने बाद में भारत के सार्वजनिक जीवन में बड़ा नाम और काम किया। इन लोगों में गांधीजी, अब्दुर्रहीम, मज़रुल हक़, मुहम्मद शफी, सच्चिदानन्द सिनहा, और हरिकृष्णलाल गोबा मुख्य थे। गांधीजी सच्चिदानन्द सिनहा और हरिकृष्णलाल की तरह राष्ट्रवादी विचारों के थे, परन्तु वह बहुत कम बोलते थे और दूसरों की तरह अपने मत का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने की क्षमता भी उनमें नहीं थी।

अठारहवीं सदी के आठवें और नवें दशक के इंग्लैंड में नई साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक शक्तियां उभर रही थीं। पर गांधीजी के उनसे प्रभावित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अपने इंग्लैंड-निवास के बारे में उन्होंने चालीस पृष्ठों का जो विवरण लिखा है उसमें कहीं भी कार्ल मार्क्स, डार्विन या हक्सले का उल्लेख नहीं है। विज्ञान, साहित्य और राजनीति उन्हें आन्दोलित नहीं कर पाते थे। वह पूरी तरह निजी और नैतिक प्रश्नों में ही उलझे रहते। इस समय उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण और जटिल समस्याएं थीं—माता से की हुई प्रतिज्ञा को निभाने के लिए मन की दृढ़ता; मांस, मदिरा और मायाविनी के निरन्तर प्रलोभनों से अपनी रक्षा; और

दैनंदिन जीवन में सादगी, मितव्ययिता और सोद्देश्यता का समावेश। उनकी पत्रकारिता 'वेजीटेरियन' में लेख लिखने तक सीमित रही और स्वाध्याय 'गीता' तथा बाइबल के 'नये इकरार' (न्यू-टेस्टामेंट) तक। धर्म को छोड़ किसी भी विषय में उनका मन नहीं रमा था और उनका धर्म-संबंधी ज्ञान भी अभी अधूरा और आरंभिक था, यहांतक कि हिन्दू-धर्म-संबंधी ज्ञान भी।

२० जून, १८९१ के 'वेजीटेरियन' के एक लेख में गांधीजी ने अपने इंग्लैंड में बिताये दिनों का लेखा-जोखा करते हुए लिखा है, 'अन्त में मुझे यह मंजूर करना चाहिए कि इंग्लैंड में तीन साल रहने के बाद भी कई ऐसे काम हैं, जिन्हें मैं कर नहीं सका...लेकिन फिर भी इतना संतोष मुझे जरूर है कि यहां रहते हुए मैंने मांस और मदिरा को नहीं छुआ और अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर जानता हूं कि इस देश में भी कई शाकाहारी हैं।"

इस तरह गांधीजी ईमानदार परन्तु संकोच-भीरु युवक थे। उनकी कुछ निश्चित परन्तु सीमित रुचियां थीं। घोर पक्षपाती निरीक्षक भी इंग्लैंड से भारत के लिए रवाना होनेवाले इस युवक बैरिस्टर में किसी विशेष योग्यता के लक्षण या चिह्न नहीं खोज सकता था। ऐसा लगता ही नहीं था कि वह किसी पेशे में चमकने और नामवरी हासिल करने के लिए बने हों। कानून और राजनीति में उनके नाम कमाने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी।

: ३ :

असफल बैरिस्टर

अंग्रेजी तौर-तरीकों को सीखने से मुंह मोड़कर जब गांधीजी ने सारा ध्यान अध्ययन की ओर लगा दिया तो कानून की पढ़ाई के बाद भी काफी समय बचने लगा। उन्होंने इस समय का सदुपयोग अपनी शिक्षा-संबंधी बुनियादी कमी को दूर करने में किया। हाई स्कूल तक की उनकी शिक्षा

मामूली ही थी, खास तौर पर अंग्रेजी में कच्चे थे वह जिससे खासी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। कैम्ब्रिज या ऑक्सफोर्ड में भर्ती होने के लिए न तो समय था और न पैसा ही, इसलिए उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा देने का फैसला किया और तैयारियों में लग गये। पहली बार लैटिन में नापास हो गये, पर हिम्मत नहीं हारी। मेहनत करके दुबारा बैठे और पास हुए। लैटिन भाषा का यह ज्ञान कानून की पढ़ाई में तो काम आया ही आगे चलकर जब दक्षिण अफ्रीका में वकालत की, तब भी इससे बड़ी मदद मिली; क्योंकि वहां की अदालतों में रोमन-डच कानून चलता था, और अंग्रेजी लिखने की उनकी सरल और प्रवाहपूर्ण शैली के निर्माण में भी इस लैटिन-ज्ञान का काफी हाथ है।

उन दिनों कानून की परीक्षाएं मुश्किल नहीं हुआ करती थीं। परीक्षक उदार होते थे और काफी विद्यार्थी पास हो जाया करते थे। कानून के ज्यादातर विद्यार्थी परीक्षा में पास होने के लिए पाठ्य-पुस्तकों के सारांश रट लेते थे, लेकिन गांधीजी को यह तरीका अच्छा नहीं लगा। उन्होंने दत्तचित्त होकर पढ़ाई की।

लैटिन भाषा में पूरा 'रोमन ला' पढ़ा, ब्रूम के 'कामन ला'[1] का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया; स्नेल का 'इक्विटी'[2] टयूडर के 'लीडिंग केसेज़'[3] और विलियम तथा एडवर्ड की 'रीयल प्रापर्टी'[4] पाठ्य-पुस्तकों को खूब मेहनत से और पूरा-पूरा पढ़ा। आत्मविश्वास की कमी और ईमानदार होने के कारण उन्होंने कानून की परीक्षा में जरा भी लापरवाही नहीं बरती। पढ़ाई और तैयारी में एड़ी-चोटी का पूरा जोर लगा दिया। पास हो गये, पर मन में नई चिंताएं और नई आशंकाएं उभरने लगीं। कानून तो खैर पढ़ लिया और पास भी हो गये, मगर वकालत कर भी पायंगे ? चार आदमियों के बीच तो अजनबियों से बोलते नहीं बनता है, भरी अदालत में विरोधी पक्ष के वकील से जिरह और बहस कैसे की जायंगी ? सर फीरोजशाह मेहता जैसे धाकड़ वकीलों का नाम उन्होंने सुन रखा था। ऐसे दबंग वकीलों के सामने पड़ जाने पर अपनी दुर्गति के विचार-मात्र से उनका कलेजा कांपने लगता। आखिर किसीसे सलाह लेना

[1]सामान्य कानून, [2]न्याय संगति, [3]नज़ीर मुकद्दमे, [4]वास्तविक संपत्ति

बहुत जरूरी हो गया, मगर जाते किसके पास ? महान देशभक्त और प्रख्यात वकील दादाभाई नौरोजी उन दिनों इंग्लैंड में ही थे, लेकिन क्या उस समय गांधीजी उनसे मिलने की हिम्मत कर सकते थे ? अंत में एक अंग्रेज वकील के पास गये। उसने घबराये हुए भारतीय नौजवान को सलाह दी कि विभिन्न विषयों पर खूब पढ़ो, इतिहास का अपना ज्ञान बढ़ाओ और मानव-स्वभाव का अध्ययन करते रहो। गांधीजी ने बात मान ली। तुरंत बाजार से मुखाकृति-विज्ञान पर एक किताब खरीद लाये और वकालत के मुश्किल काम के लिए वकीलसाहब की सलाह के अनुसार अपने-आपको तैयार करने में लग गये। घबराहट जरूर बहुत हो रही थी, इसलिए उस अंग्रेज वकील की इस राय से गांधीजी को बड़ी सांत्वना मिली कि उच्च-कोटि की विचक्षणता, अच्छी याददाश्त और पूरी काबलियत से ही इस पेशे में सफलता मिलती हो सो बात नहीं, ईमानदारी और मेहनत से काम करनेवाले भी तरक्की कर सकते हैं। मतलब यह कि जब भारत के लिए रवाना हुए तो 'निराशा के घटाटोप में आशा की एक मद्धिम-सी किरण भी थी।'

बम्बई में जहाज से उतरते ही एक अत्यन्त दुःखद समाचार सुनने को मिला। जब वह इंग्लैंड में थे तभी मां की मृत्यु हो गई थी। परिवारवालों ने जान-बूझकर उनसे इस खबर को छिपाये रखा था। गांधीजी को इस क्रूर आघात से बड़ी गहरी चोट लगी। कई बरसों बाद, अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने लिखा :

"...मेरे बहुत-से मनोरथ मिट्टी में मिल गये।" माता का तपःपूत जीवन, दृढ़ आस्था और प्रचुर प्यार गांधीजी के हृदय-पटल पर अमिट रूप से अंकित हो गया। भविष्य के अपरिग्रही, मौन व्रत और उपवासों में संलग्न, मार्ग-दर्शन के लिए ईश्वर पर निर्भर, घृणा का प्यार से जवाब देनेवाले लुंगीधारी महात्मा के निर्माण में सबसे अधिक प्रभाव उनकी माता पुतलीबाई का ही था।

लौटकर आने पर गांधीजी को सबसे पहले अपनी मोढ़ वणिक् जाति से निपटना पड़ा, जिसने उन्हें विलायत-यात्रा के दंड-स्वरूप जाति से बहिष्कृत

कर दिया था। भाई के आग्रह पर गांधीजी को गोदावरी के पवित्र जल में शुद्धि-स्नान के लिए नासिक जाना पड़ा। लेकिन इससे जाति के सिर्फ एक ही फिरके का समाधान हुआ। दूसरे फिरके ने उनपर लगाई रोक को उठाने से साफ इनकार कर दिया। गांधीजी ने इस अत्याचार का बिलकुल नये ढंग से सामना किया। न तो उन्होंने विरोध किया और न मन में कीना रक्खा, उल्टे बहिष्कार को मंजूर कर लिया और बराबर उसका पालन करते रहे। इस आचरण से कालांतर में जातिवालों का अत्याचार और विरोध काफी कम हो गया और अन्तःकरण की भाषा ने यहां तक काम किया कि मोढ़ बनियों में जो कट्टर विरोधी थे, आगे चलकर उनमें से अधिकांश उनके सामाजिक और राजनैतिक आंदोलनों के प्रबल समर्थक बन गये। आरंभिक काल के इन अनुभवों से गांधीजी के मन में किसी तरह की कटुता नहीं पैदा हुई। वर्णाश्रम धर्म का उन्होंने बराबर समर्थन किया; हां, जाति-प्रथा की रूढ़िवादिता और कट्टरता को अवश्य कभी प्रश्रय नहीं दिया।

घरवालों को गांधीजी से बड़ी उम्मीदें थीं, क्योंकि उनकी शिक्षा पर काफी खर्च किया गया था। बड़े भाई तो एक साथ 'धन, नाम और यश' तीनों की आस लगाये बैठे थे। गांधीजी सबकी आशाएं पूरी करने को उत्सुक भी थे। परन्तु बैरिस्टरी की डिग्री जादू-टोना तो थी नहीं कि आते ही आदमी अदालत में चमक जाता और वकालत से सोना बरसने लगता! यहां आने पर गांधीजी को पता चला कि विलायत के पाठ्य-क्रम में हिंदू और मुस्लिम कानून पढ़ाया ही नहीं जाता। राजकोट के देशी वकील को भारतीय कानून की ज्यादा जानकारी थी और वह बैरिस्टरों की अपेक्षा फीस भी कम लेता था। ऐसी दशा में राजकोट में प्रैक्टिस करने का अर्थ था अपनी खिल्ली उड़वाना। इसलिए गांधीजी के मित्रों ने उन्हें यह सलाह दी कि वह बम्बई जाकर भारतीय कानून का अध्ययन करें, वरिष्ठ न्यायालय में अनुभव प्राप्त करें और इस बीच जो छोटे-मोटे मुकदमे मिल जायं उन्हें वहां की अदालत में लड़ें। गांधीजी उनकी सलाह मानकर बम्बई चले आये और भारतीय कानून के अध्ययन में जुट गये। थोड़े ही समय में उन्होंने साक्ष्य अधिनियम (एविडेंस एक्ट) का मनन कर डाला, मेइन के

'हिंदू ला' को छान गये और दीवानी प्रक्रिया संहिता (जाब्ता दीवानी) में भी पारंगत हो गए।

इस तरह भारतीय कानून की जानकारी और समझ तो बढ़ी, लेकिन आमदनी में कोई बढ़ती नहीं हुई। प्रैक्टिस बढ़ाने का आजमूदा ढंग था दलालों को कमीशन देकर मुकदमे पाना, लेकिन गांधीजी इसे अपने पेशे की शान के खिलाफ और अपमानजनक समझते थे। पर खुद होकर तो मुकदमे देर से ही आते हैं। लंबे इंतजार के बाद ममीबाई नामक एक गरीब औरत का मुकदमा उन्हें मिला। यही उनका सबसे पहला मुकदमा था, जिसके लिए उन्होंने तीस रुपया फीस ली और खफीफा अदालत के हाकिम के इजलास में पेश हुए। लेकिन जब गवाह से जिरह करने के लिए उठे तो बुरी तरह घबरा गये। मुंह से बोल तक नहीं निकला, पांव कांपने लगे, सिर चकरा गया और कुर्सी थाम लेनी पड़ी। मुवक्किल के फीस के रुपये लौटा दिये गए और गांधीजी का मन घोर निराशा से भर गया। जिस पेशे की शिक्षा के लिए विलायत जाकर इतना पैसा खर्च किया था, उसमें पहले ही मौके पर ऐसा बुरा हाल हुआ! उन्हें अपना भविष्य भयंकर रूप से अंधकारमय दिखाई देने लगा।

उस समय की उनकी परेशानी का अंदाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि बंबई के एक हाई स्कूल में पचहत्तर रुपये मासिक पर वह कुछ घंटों के लिए मास्टरी करने को तैयार हो गये और दरख्वास्त भी भेज दी। लंदन की मैट्रिक्यूलेशन पास थे और उसमें लैटिन दूसरी जबान थी, इसलिए नौकरी पा जाने की पूरी आशा थी। लेकिन स्कूल तो किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय का स्नातक चाहता था, इसलिए गांधीजी को वहां भी नौकरी न मिल सकी। अंत में वे अर्जी-दावे लिखने लगे और यह जानकर कुछ संतोष हुआ कि इस काम से गुजर-बसर की जा सकती है। लेकिन इस काम के लिए बंबई रहना जरूरी नहीं था। वह अपना मामूली-सा कारबार समेटकर राजकोट लौट आये और अर्जी-दावे लिखकर लगभग तीनसौ रुपया महीना कमाने लगे।

अर्जी-दावे लिखनेवाले बैरिस्टर के रूप में उनका काम शायद जम भी जाता, लेकिन सहसा एक मुसीबत गले आ पड़ी। उनके बड़े भाई लक्ष्मीदास

पहले राजकोट में ऊंचे पद पर थे। उनपर राणा को गलत सलाह देने की तोहमत लगाकर इसकी शिकायत वहां के पोलिटिकल एजेंट से कर दी गई। इस अंग्रेज अफसर से गांधीजी विलायत में मिल चुके थे। उससे मुलाकात करके मामले को संभालने का बड़े भाई ने गांधीजी से आग्रह किया। पोलिटिकल एजेंट ने गांधीजी के इस बीच-बचाव का विरोध ही नहीं किया, उन्हें अपने घर से निकाल भी दिया। गांधीजी इस अपमान से झल्ला उठे। वह इस अंग्रेज अफसर पर मानहानि का मुकदमा दायर करने की बात सोचने लगे। जो लोग अंग्रेज नौकरशाही के तौर-तरीकों से वाकिफ थे, उन्होंने समझाया कि इस तरह का मुकदमा तो उलटे तुम्हींको तबाह कर देगा। अंत में बंबई के नामी वकील सर फीरोजशाह मेहता से सलाह ली गई। उन्होंने कहा, "ऐसे अनुभव तो सभी वकील-बैरिस्टरों को रोज ही होते हैं। गांधी विलायत से नया ही आया है, इसलिए उसका मिजाज जरा-सा तेज है। अगर वह कुछ सीखना चाहता है तो उसे इस अपमान को पी जाना चाहिए।" उन दिनों भारत में राजनैतिक जागरण अभी हुआ नहीं था और सर्वत्र ब्रिटिश हुकूमत का बोल-बाला था। वकील और इसी तरह के पेशे के दूसरे लोग अंग्रेज हाकिमों के नादिरशाही रवैये और गुस्ताखियों के मारे परेशान थे, मगर उन्हींके पांव तले गर्दन दबी होने के कारण कुछ कर भी नहीं सकते थे। हालत यह थी कि अंग्रेज अफसर के गुस्से की आग में प्रायः कई होनहार पर तेजमिजाज नौजवानों के पंख झुलस जाया करते थे।

काठियावाड़ के अगणित छोटे-छोटे राजाओं और उनके कृपापात्रों में आपसी लाग-डांट और दरबारी कुचक्रों का बाजार सदैव गर्म रहता था। ऐसा भ्रष्ट और जोड़-तोड़वाला वातावरण गांधीजी के स्वभाव से ज़रा भी मेल नहीं खाता था। फिर जिस पोलिटिकल एजेंट से झगड़ा हो गया था उसीकी कचहरी में उनका ज्यादातर काम रहता था। यह सब उन्हें जहर-जैसा लगता। इसलिए जब एक साल के लिए दक्षिण अफ्रीका जाने का संदेश मिला तो उन्होंने खुशी-खुशी मंजूर कर लिया। वहां चालीस हजार पौंड के दीवानी दावे का काम था। आने-जाने के फर्स्ट क्लास के किराए और रहने-खाने के खर्च के अलावा १०५ पौंड नकद मेहनताना दिया जा रहा था। मेहनताने की रकम ज्यादा नहीं थी, न यही तय हो पाया था कि उन्हें

कानूनी सलाहकार की हैसियत से ले जाया जा रहा है या लिखा-पढ़ी करने के लिए, फिर भी गांधीजी ने मंजूर कर लिया, क्योंकि चुनाव करने की स्थिति में वह उस समय थे ही नहीं।

यह गांधीजी की दूसरी विदेश-यात्रा थी। पहली बार १८८८ की विदेश-यात्रा की ही तरह इस बार भी वह अपनी तात्कालिक कठिनाइयों से घबराकर दक्षिण अफ्रीका जा रहे थे। स्वदेश में तो उनके स्वाभिमान को पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ रही थीं तथा व्यावसायिक प्रगति और भविष्य के मार्ग में बाधाएं-ही-बाधाएं दिखाई देती थीं।

लेकिन दक्षिण अफ्रीका में जन-सेवा और आत्म-विकास के जो अपूर्व अवसर मिलनेवाले थे उनकी तो गांधीजी ने सपने में भी कल्पना नहीं की थी, और उस घमंडी अंग्रेज अफसर को ही कहां पता था कि एक युवक बैरिस्टर को अपने घर से धकियाकर उसने अनजाने ही ब्रिटिश साम्राज्य का कितना बड़ा अहित कर डाला था!

: ४ :

विधि-निर्मित यात्रा

गांधीजी १८९३ के मई महीने में डरबन पहुंचे। उनके मुवक्किल अब्दुल्ला सेठ ने बंदरगाह पर उनका स्वागत किया। ये नैटाल के सबसे धनी भारतीय व्यापारियों में गिने जाते थे।

गांधीजी डरबन में एक सप्ताह रुके और फिर प्रिटोरिया चले गए, क्योंकि वहीं रहकर उन्हें काम करना था।

डरबन में उन्हें पहली बार रंग-द्वेष का दुःखद अनुभव हुआ। अब्दुल्ला सेठ उन्हें डरबन की अदालत दिखलाने ले गये। वहां यूरोपियन मजिस्ट्रेट ने गांधीजी को अपनी पगड़ी उतारने का हुक्म दिया। उन्होंने हुक्म मानने से इनकार कर दिया। अदालत के कमरे से बाहर चले आये और उसी समय स्थानीय पत्रों को मजिस्ट्रेट के दुर्व्यवहार के खिलाफ जोरदार पत्र लिखे वहां के समाचारपत्रों ने इस संवाद के सिलसिले में गांधीजी का उल्लेख,

'बिनबुलाये मेहमान' (अनवेलकम गेस्ट) शब्दों से किया था। गांधीजी के लिए यह बिलकुल नया अनुभव था। इस तरह के खुल्लमखुल्ला रंग-भेद से कभी उनका साबका नहीं पड़ा था। भारत में ब्रिटिश अधिकारियों की उद्दंडता का कारण गांधीजी उन लोगों का दिमागी फितूर मानते थे, क्योंकि इंग्लैंड में वह स्वयं कई भले और सुशील अंग्रेजों के संपर्क में आ चुके थे और उनके सद्व्यवहार और भलमनसी के कायल थे।

लेकिन डरबन से प्रिटोरिया जाते हुए रास्ते में उनके साथ जो-कुछ गुजरा उसकी तुलना में डरबनवाली घटना कुछ भी नहीं थी। शाम को जब उनकी गाड़ी मैरित्सबर्ग पहुंची तो उन्हें पहले दर्जे का डिब्बा छोड़कर निचले दर्जे के आखिरी डिब्बे में जाने के लिए कहा गया। इनकार करने पर धक्का मारकर बड़ी बेहूदगी से उन्हें पहले दर्जे से नीचे उतार दिया गया। ठंड से ठिठुरती हुई रात में वह मैरित्सबर्ग स्टेशन के अंधेरे वेटिंग-रूम में जा बैठे और सारी घटना पर विचार करने लगे। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को जिन अपमानजनक परिस्थितियों में रहना पड़ रहा था उसके बारे में उनके मुवक्किल अब्दुल्ला सेठ ने कुछ भी नहीं बताया था। वह सोचने लगे कि ऐसी दशा में इकरारनामे को रद्द करके भारत लौट जाना वाजिब होगा या जो भी गुजरे उसे सहते जाना और काम पूरा करने के बाद ही लौटना? भारत उन्हें इसीलिए तो छोड़ना पड़ा था कि पोलिटिकल एजेंट से झगड़ा हो गया था और राजकोट में रहना मुश्किल हो रहा था। अब दक्षिण अफ्रीका में यह मुसीबत सामने आई तो क्या यहां से फिर भाग जायं? लेकिन इस तरह कबतक भागते रहेंगे? आखिर कहीं तो इसे रोकना होगा! अंत में जो भी सहना पड़े उसे सहने और जिस तरह भी हो आगे जाने का उन्होंने निश्चय किया।

चार्ल्सटाउन इस लाइन का अंतिम स्टेशन था। वहां से स्टैंडरटन घोड़े की सिकरम से जाना होता था। गांधीजी को सिकरम के अंदर गोरे यात्रियों के साथ नहीं बैठने दिया गया। उन्हें बाहर कोचवान के पास जगह दी गई। थोड़ी देर बाद वहां से उठाकर पैर रखने की पटरी पर बैठने के लिए कहा गया। गांधीजी ने इसका विरोध किया और सिकरम के अंदर बैठाये जाने की मांग की। इस गुस्ताखी पर सिकरम कंपनी का गोरा नायक आगबबूला हो उठा और उसने गांधीजी पर हाथ उठा दिया। उन्हें बुरी तरह पिटते

देख कुछ गोरे यात्रियों ने बीच-बचाव किया। गांधीजी ने मार खाना स्वीकार किया, परंतु जहां बैठे थे वहां से हटे नहीं। गोरे की उद्दंडता और पाशविक शक्ति के खिलाफ शांतिभरे साहस और मानवी गरिमा का वह दुर्लभ दृश्य किसी भी महान कलाकार को अमरकृति की रचना के लिए प्रेरित करता रहेगा।

स्टैंडरटन पहुंचने पर वहां के कुछ भारतीय व्यापारी गांधीजी से मिलने के लिए आये। उन्होंने बताया कि जो कुछ आपके साथ गुजरा है वह तो ट्रांसवाल में भारतीयों के साथ रोज ही हुआ करता है। यहां गांधीजी ने सिकरम कंपनी के एजेंट से अपने साथ किये गए बुरे व्यवहार की शिकायत की, लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि मारनेवाले गोरे पर मुकदमा चलाने का उनका कोई इरादा नहीं है। जोहान्सबर्ग पहुंचने पर वह वहां के ग्रांड नेशनल होटल में ठहरने के लिए गये तो उनसे कहा गया कि यहां हिंदुस्तानियों को ठहराने की इजाजत नहीं है। जोहान्सबर्ग का स्टेशन मास्टर भी, बड़ी कहा-सुनी और रेलवे के नियम-कानून दिखलाने के बाद, प्रिटोरिया के लिए पहले दर्जे का टिकट देने को राजी हुआ, और टिकट मिल जाने पर भी अगर एक गोरे सहयात्री ने बीच-बचाव न किया होता तो गांधीजी मैरित्सबर्ग की तरह वहां भी पहले दर्जे के डिब्बे से बाहर धकेल दिये जाते।

इस तरह डरबन से प्रिटोरिया तक की पांच दिन की यात्रा गांधीजी के लिए काफी कष्टप्रद रही। परंतु उसने दक्षिण अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों की वास्तविक स्थिति का ज्वलंत चित्र भी उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। यहां के भारतीय व्यापारी इन अपमानों को व्यवसाय से मिलने वाले धन की तरह चुपचाप स्वीकार करना सीख चुके थे। इस तरह के दुर्व्यवहार कोई नई बात नहीं थी। हां, इनको लेकर गांधीजी पर जो प्रतिक्रिया हुई वह अवश्य नई बात थी। आजतक वह अपनी राय और अपने हकों पर कभी अड़े नहीं थे। यह बात उनके स्वभाव में थी ही नहीं। असल में तो वह शर्मीले और खामोश रहनेवाले व्यक्ति ही अधिक थे। लेकिन उस रात मैरित्सबर्ग स्टेशन की उस घटना और वहां के ठंडे-अंधेरे वेटिंग-रूम ने जैसे उनका कायाकल्प कर दिया। अपने अपमान के बारे में व्यग्र होकर वह जितना ही सोचते गये, एक इस्पाती दृढ़ता और निश्चय उनमें उतना ही

बलवान होता गया। उस घटना को वह अपने जीवन का सबसे सृजनशील और नियामक अनुभव मानते थे। उसी क्षण से उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के शासकीय और वर्ण-विद्वेषक सामाजिक अन्याय के खिलाफ कमर कस ली। फिर कभी उन्होंने उस अन्याय को स्वीकार नहीं किया। तर्क से, अनुरोध से, अनुनय-विनय से, वह शासक-जाति की न्याय-बुद्धि और सोई हुई मानवता को जगाने का प्रयत्न बराबर करते रहे। एक क्षण के लिए भी उन्होंने रंग-भेद और जातीय औद्धत्य के आगे अपने हथियार नहीं डाले। क्योंकि यह प्रश्न अकेले उन्हींके अपने आत्म-सम्मान की रक्षा और प्रस्थापना का नहीं, समस्त भारतीयों, भारत देश और सारी मानवजाति के गौरव की रक्षा और स्थापना का था।

जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को मौन भाव से कष्ट सहते देखा और पाया कि वे निरक्षर, अशिक्षित और अधिकारहीन ही नहीं हैं, प्राप्त अधिकारों का उपभोग करना तक नहीं जानते तो बड़ी ही चमत्कारिक बात हुई। उनकी झिझक और शर्मीलापन हमेशा के लिए खत्म हो गया। हीनता और आत्म-ग्लानि की जो भावना इंग्लैंड के विद्यार्थी-काल में और भारत में वकालत के समय कभी पीछा नहीं छोड़ती थी, एक-बारगी गायब हो गई। कहां तो बंबई की खफीफा अदालत में जिरह के समय उनके मुंह से बोल भी नहीं फूटा था और यहां प्रिटोरिया में आते ही सबसे पहला जो काम किया वह था वहां के भारतीय निवासियों को 'ट्रांस-वाल में उनकी सही हालत बतलाने के लिए' सभा करना। इस सभा में बड़ी सफलता मिली। गांधीजी ने भारतीय प्रवासियों की शिकायतों पर कार्रवाही करने के लिए एक संगठन बनाने का सुझाव दिया। यह व्याव-हारिक नेतृत्व की दिशा में उनका पहला कदम था। इस सभा में जो भारतीय व्यापारी अंग्रेजी नहीं जानते थे, उन्हें अंग्रेजी सिखाने का काम गांधीजी ने अपने ऊपर ले लिया। एक नाई, एक क्लर्क और एक छोटा दूकानदार—ये पहले तीन विद्यार्थी थे, जिन्हें गांधीजी उन लोगों के घरों पर जाकर मुफ्त पढ़ाने लगे। शीघ्र ही वह प्रिटोरिया के हर भारतीय से परिचित हो गये। वह वहां के ब्रिटिश एजेंट से भी मिले और उसे भारतीयों की कठि-नाइयों के बारे में बतलाया। उसने बड़ी सहानुभूति से गांधीजी की बात

सुनी, परंतु कुछ कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की, क्योंकि ट्रांसवाल बोअर राज्य होने के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत नहीं था। बोअर सरकार ने पहले ही बहुत-से भारतीयों को औरेंज फ्री-स्टेट से बड़ी बेदर्दी से निकाल बाहर कर दिया था। सारे दक्षिण अफ्रीका में किसी स्वाभिमानी भारतीय के लिए सिर ऊंचा करके खड़े रहने को भी जगह नहीं थी। अब गांधीजी का ज्यादातर समय इसी सोच-विचार में जाने लगा कि हालत को कैसे सुधारा जा सकता है।

इसके साथ ही उन्हें उस दीवानी दावे पर भी काम करना था, जिसके लिए वह भारत से दक्षिण अफ्रीका आये थे। झगड़ा केवल चालीस हजार पौंड की बड़ी रकम का ही नहीं था, दक्षिण अफ्रीका के सबसे बड़े दो भारतीय व्यापारियों की व्यापारिक लाग-डांट के साथ कुछ घरेलू अनबन भी थी। इनमें से एक थे नेटाल के अब्दुल्ला और दूसरे थे ट्रांसवाल के तैयब सेठ। दोनों फरीकैन सच्चे मुकदमेबाज भारतीयों की तरह अदालत से फैसला करवाने पर तुले हुए थे, चाहे तबाह ही क्यों न हो जायं! गांधीजी को अब्दुल्ला की पेढ़ी के वही-खाते जांचकर मुकदमे के पोषक तथ्य इकट्ठे करने और बड़े बैरिस्टर की मदद करने का सामान्य काम सौंपा गया था। एक तरह से तो रोकड़-वही लिखने और हिसाव जांचने का ही काम था। उनकी जगह कोई दूसरा बैरिस्टर होता तो इसे अपना अपमान समझता। गांधीजी ने इसे सीखने और काम कर दिखाने का अवसर माना। उन्होंने मुकदमे में पूरा मन लगाया और उसमें डूब गये। मामले से संबंधित छोटी-से-छोटी बात पर पूरा ध्यान दिया, बही-खातों का बारीकी से अध्ययन कर हिसाब रखने की पद्धति को समझा, व्यापार के नियमों की जानकारी हासिल की और गुजराती कागज़-पत्रों का अंग्रेज़ी में उलथा करके अनुवाद करने की शक्ति और अंग्रेज़ी का अपना ज्ञान बढ़ाया। जो मसाला वे तैयार करते थे उसमें से सालिसिटर कितना रखता है और बैरिस्टर उसमें से कितने का और किस तरह से उपयोग करके मुकदमा बनाता है, इसे गांधीजी बहुत ध्यान से देखा और समझा करते थे।

बाल की खाल निकालनेवाली जिरह, जोरदार बहस और कानून के पोथों से ढूंढ़-खोजकर उपयुक्त नजीरें पेश करने को ही गांधीजी कभी

वकालत में सफलता पाने का गुर समझते थे। लेकिन अब्दुल्ला के मामले में साल-भर की कड़ी मेहनत के बाद उनकी समझ में आया कि असल मे वकील का काम तथ्यों के आधार पर सच्चाई का पता लगाना है। वह इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि उनके पास न तो वक्तृत्व-कला है और न विद्वत्ता ही, इसलिए केवल ईमानदारी, लगन और परिश्रम से ही सफलता की आशा कर सकते थे। पुराने बैरिस्टर के दफ्तर में रहकर नया वकील जो-कुछ सीखता है उसकी शिक्षा भी उन्हें इसी मुकदमे से मिली। इस मुकदमे से उनमें यह आत्मविश्वास भी जागा कि एक वकील के रूप में वह असफल नहीं हो सकते, क्योंकि कानून का तीन-चौथाई अंश तो तथ्य ही होते हैं और यदि "तथ्य पर हमारा सच्चा कब्जा रहे तो कानून अपने-आप हमारे पास आ जायगा।"[1]

बारीकी से जांच-पड़ताल करने पर गांधीजी को अब्दुल्ला का मुकदमा तथ्यों और कानून दोनों ही दृष्टियों से काफी मजबूत लगा। लेकिन वह यह भी समझ गये कि अदालती लड़ाई में दोनों फरीकैन तबाह हो जायंगे। वकीलों की फीस चढ़ती जाती थी, दुकान और व्यापार के रोजमर्रा के काम में हर्ज होता था और आपसी दुश्मनी बढ़ती जाती थी। इसलिए गांधीजी ने आपस में झगड़ा निपटा लेने की सलाह दी। काफी ना-नू के बाद दोनों फरीकैन पंच से फैसला कराने के लिए राज़ी हुए। पंच-फैसले में अब्दुल्ला की जीत हुई। यदि फैसले की तुरंत तामील की जाती तो तैयब सेठ का दिवाला निकल जाता। गांधीजी के अनुरोध पर उनके मुवक्किल ने मुकदमा जीतकर भी उदारता दिखाई और तैयबजी को काफी लंबी मोहलत दे दी। इस पहले मुकदमे से गांधीजी को बड़ा संतोष हुआ। स्वयं उन्हींके शब्दों में—"मैंने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य-स्वभाव का उज्ज्वल पक्ष ढूंढ़ निकालना सीखा, मनुष्य-हृदय में पैठना सीखा। मुझे जान पड़ा कि वकील का कर्तव्य फरीकैन के बीच में खुदी हुई खाई को भरना है।"[2]

---

[1] आत्मकथा : महात्मा गांधी; सस्ता साहित्य मंडल (१९६०); पृष्ठ १९२

[2] वही, पृष्ठ १३६

इसके बाद तो गांधीजी मुकदमे लड़ने के बदले फरीकैन की आपस में सुलह कराने की कोशिश में ही लगे रहते। इससे केवल फरीकैन को ही फायदा पहुंचता रहा हो सो बात भी नहीं। जैसा कि वह अपनी 'आत्मकथा' में लिखते हैं—"मैंने भी कुछ नहीं खोया। पैसे के घाटे में रहा, यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो नहीं ही गंवाई।'

: ५ :
राजनीति में प्रवेश

प्रिटोरियावाला दीवानी मुकदमा जब इस तरह खुशी-खुशी निबट गया तो गांधीजी का अनुबंध भी पूरा हुआ और वह भारत लौट जाने के लिए डरबन आये। वहां उनके मुवक्किल अब्दुल्ला ने उनके सम्मान में एक विदाई-भोज का आयोजन किया। उस भोज में 'नेटाल मरकरी' अखबार के पन्ने पलटते हुई गांधीजी की निगाह 'इंडियन फ्रेंचाइज़' (भारतीयों का मताधिकार) शीर्षक एक समाचार पर पड़ी। दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों को मताधिकार से वंचित करने के लिए एक विधेयक नेटाल की विधान-सभा में पेश किया जा रहा था। गांधीजी ने अपने मेजबान अब्दुल्ला और भोज में शरीक दूसरे भारतीय व्यापारियों से इस विधेयक के बारे में जानकारी चाही तो वे लोग उन्हें कुछ भी नहीं बता सके। उन लोगों को बहुत कम अंग्रेज़ी आती थी। अपने गोरे ग्राहकों की बात समझ लेते और उनसे दो-चार बातें कर सकते थे। अखबार उनमें से शायद ही कोई पढ़ पाता और नेटाल विधान-सभा की कार्रवाही समझने लायक अंग्रेज़ी का ज्ञान तो उनमें से किसीको भी नहीं था। वे लोग नेटाल में व्यापार करने के लिए आये थे, राजनीति में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। इधर-उधर राजनीति ने उनके व्यापार में दखल देना शुरू किया था। औरेंज फ्री स्टेट से भारतीय व्यापारियों को हाल में ही निकाल बाहर किया गया था और अब नेटाल में भी वर्ण द्वेष का कानून लागू होने जा रहा था। "यह तो हिंदुस्तानियों की हस्ती को मिटाने का पहला कदम है।" गांधीजी ने भोज

में शरीक भारतीय व्यापारियों को बतलाया। इसपर सब लोगों ने उन्हें नेटाल में रुक जाने और उनकी ओर से इस लड़ाई को लड़ने का आग्रह किया। अभी तक उनको यूरोपियन बैरिस्टरों के भरोसे रहना पड़ा था, अब अपने काम के लिए एक भारतीय बैरिस्टर मिल गया तो सभीको बड़ी खुशी हुई। गांधीजी इस काम के लिए नेटाल में एक महीने तक रुकने को तैयार हो गये। उनका खयाल था कि इस मामले का एकाध महीने में जरूर निपटारा हो जायगा।

उन्होंने एक भी क्षण नहीं गंवाया और तुरंत काम में जुट गये। विदाई का जलसा भारतीयों के विधेयक-विरोधी आन्दोलन की राजनैतिक समिति बन गया। गांधीजी ने पच्चीस वर्ष की उम्र में अपने पहले राजनैतिक आन्दोलन की जो रूपरेखा और रणनीति बनाई वह उनकी समझ-बूझ का अच्छा परिचय देती है : प्रिटोरिया में रहते हुए वहां के भारतीय निवासियों की उन्होंने जो जानकारी हासिल की थी वह इस समय उनके खूब काम आई। उनकी रणनीति के तीन अंग थे—एक तो दक्षिण अफ्रीका को जुदा-जदा जातियों के प्रवासी भारतीयों में एकता की भावना पैदा करना। बम्बई के मुसलमान व्यापारी और उनके हिन्दू एवं पारसी क्लर्क, मद्रास के अर्द्ध-गुलामों—जैसे 'गिरमिटिया' मजदूर और नेटाल मे पैदा हुएं हिंदुस्तानी ईसाई—सभी अपनेको एक देश की सन्तान अर्थात् भारतीय समझें। खास तौर पर नेटाल के हिंदुस्तानी ईसाइयों में यह भावना पैदा करनी थी कि ईसाई होने से ही उनका हिन्दुस्तानीपन खत्म नहीं हो जाता। उधर व्या-पारियों में भी यह भावना पैदा करनी थी कि बेहद गरीबी के कारण दूर देश नेटाल में आकर गिरमिटिया बनने को मजबूर होनेवाले बदनसीब मजदूर भी आखिर उन्हींके देश-भाई हैं। दूसरा अंग था, भारतीयों को मताधिकार से वंचित किये जाने के सही-सही माने और उससे होनेवाले नतीजों को न केवल वहां के भारतीय निवासियों को बल्कि नेटाल की सर-कार और यूरोपियन आबादी में जो समझदार तबका था उन सबको समझाने का काम और तीसरा अंग था, भारत और इंग्लैंड की सरकारों और दोनों देशों के जनमत को इस आन्दोलन के पक्ष में करने के लिए व्यापक प्रचार-कार्य।

यह गांधीजी के प्रचार-कार्य की ही खूबी थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने दिसम्बर, १८९४ के वार्षिक अधिवेशन में मताधिकार विधेयक के विरोध में प्रस्ताव पास किया और लन्दन के 'टाइम्स' अखबार ने तीन साल के दरम्यान दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की समस्या पर आठ विशेष लेख छापे। पांच-सौ भारतीयों के दस्तखतोंवाली गांधीजी की लिखी एक अर्जी भी नेटाल की विधान-सभा को भेजी गई। उस अर्जी से विधायक मंडल और नेटाल की सरकार दोनों काफी प्रभावित हुए, लेकिन मताधिकार-वाला विधेयक फिर भी मंजूर हो ही गया। इस पर भी भारतीयों ने हिम्मत नहीं हारी। इस हलचल का कम-से-कम यह नतीजा तो हुआ ही कि वे अपनी राजनैतिक तन्द्रा से जाग पड़े। खुद गांधीजी के लिए भी अपना यह पहला राजनैतिक आन्दोलन काफी फायदेमन्द साबित हुआ। जो संकोच-भीरुता और लज्जाशीलता असाध्य मालूम पड़ती थी उनसे उनका भी पीछा छूट गया। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि उनमें अहंकार आ गया, उल्टे विनम्रता की ही मात्रा बढ़ी, जैसा कि दादाभाई नौरोजी को, जो उन दिनों ब्रिटिश पार्लमिंट के भारतीय सदस्य थे, अपनी सीमाओं और अक्षमताओं का हवाला देते हुए ५ जुलाई १८९४ को लिखे उनके पत्र से प्रकट होता है—"कुछ अपने बारे में और कुछ जो काम मैंने यहां किया उसके बारे में। मेरी उम्र ज्यादा नहीं है और अनुभव भी नहीं है, इसलिए गलतियां भी हो सकती हैं और हुई होंगी। मेरी योग्यता के हिसाब से यहां की जिम्मेवारियां बहुत ज्यादा हैं। लेकिन फिर भी आप देखेंगे कि मैंने अपनी योग्यता से अधिक ऐसे किसी काम में हाथ नहीं डाला है, जो भारतीयों के हितों की उपेक्षा करके केवल मेरे अनुभवों को बढ़ानेवाला हो। असल बात यह है कि यहां इस तरह का काम करने वाला मैं ही अकेला आदमी हूं। इसलिए इस कार्य में मेरा मार्ग-प्रदर्शन करने और उचित सलाह-सुझाव देने का आपसे आग्रह-अनुरोध करता हूं और विश्वास दिलाता हूं कि आपके सभी पितृतुल्य आदेशों का मैं पुत्रवत् पालन करूंगा।"[1]

अन्य भावनाओं की तरह हीनता की भावना भी सापेक्ष है। जब लोगों

---

[1] मसानी, आर० पी० : 'दादाभाई नौरोजी', लंदन, पृष्ठ ४६८

ने गांधीजी से नेतृत्व की अपेक्षा की तो वह अपनी मर्यादाओं और हीनभाव को भूल गये। दूसरी जगह जिस काम के वह शायद पास भी न फटकते, उसी को पूरा करने की जिम्मेदारी यहां 'अकेला आदमी' होने के कारण उन्होंने अपने ऊपर ले ली।

मताधिकार विधेयक को नेटाल की धारा-सभा ने तो पास कर दिया, लेकिन इंग्लैंड की महारानी की मंजूरी के बिना वह कानून का रूप नहीं ले सकता था। यह काम अभी बाकी था, इसलिए लड़ाई का एक मौका और मिल गया। गांधीजी ने इंग्लैंड के उपनिवेश-मन्त्री को एक बहुत बड़ी अर्जी भेजने का फैसला किया। उस अर्जी पर दस हजार दस्तखत लिये गए। कहना चाहिए कि नेटाल में बसे हुए सभी 'मुक्त' भारतवासियों ने उसपर अपने हस्ताक्षर किये थे। इस आन्दोलन में गांधीजी का एक खास ढंग यह रहा कि वह हर बहाने से लोगों को राजनैतिक शिक्षा भी देते जाते थे। उदाहरण के लिए, जबतक हर आदमी अर्जी में लिखी बात को समझ और स्वीकार नहीं कर लेता, उसपर उसके दस्तखत नहीं करवाये जाते थे। अर्जी की कोई हजार प्रतियां छपवाकर प्रमुख राजनैतिक नेताओं और समाचार-पत्रों को भेजी गई। भारत और इंग्लैंड दोनों ही देशों के समाचार-पत्रों में नेटाल के भारतीयों की समस्याओं पर खूब चर्चा हुई।

इस तरह महीना पूरा हो गया और गांधीजी के भारत लौटने का दिन आ गया, लेकिन नेटाल के भारतीयों ने उन्हें जाने न दिया, नेटाल में स्थायी रूप से रहने का आग्रह किया। ब्रिटिश सरकार इस अपमानजनक विधेयक को रद्द कर देगी, ऐसी कोई आशा नहीं थी। फिर स्वयं गांधीजी ने ही तो कहा था कि यह हमारी हस्ती को मिटाने का पहला कदम है। तो क्या वह लड़ाई को अधबीच में छोड़कर चले जायंगे और अपने किये-कराये पर पानी फिर जाने देंगे? गांधीजी रुक गए। लेकिन अब प्रश्न यह था कि उनकी गुजर-बसर कैसे होगी? सार्वजनिक कार्य का पैसा लेने को तो वह किसी भी तरह राजी नहीं हुए, इसलिए बीस व्यापारियों ने वकालत का काम देने की हामी भरकर उनका एक वर्ष का तीन सौ पौंड वर्षासन बांध दिया। इतनी रकम में वह डरबन में अपना खर्च आराम से चला सकते थे।

नेटाल के सर्वोच्च न्यायालय में वकालत की सनद के लिए दरख्वास्त ने पर वहां की वकील-सभा ने गांधीजी का विरोध किया, परंतु प्रधान न्याय-धीश ने दाखिला मंजूर कर लिया। उसके बाद वकीलों के लिए बने हुए अदालत के पोशाक-संबंधी नियमों के अनुसार उन्हें अपनी पगड़ी उतारने के लिए कहा गया। एक साल पहले नीचे की अदालत के इसी प्रकार के हुक्म के विरोध में गांधीजी अदालत के कमरे से बाहर चले आये थे, परंतु इस बार वह अपमान की इस घूंट को पी गये। अभी उन्हें रंग-भेद के खिलाफ कई बड़ी लड़ाइयां लड़नी थीं। इसलिए इस तरह की छोटी लड़ाइयों में अपना समय और शक्ति गंवाना उन्होंने उचित नहीं समझा।

सबसे पहले तो गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के हितों की चौकसी करनेवाला एक स्थायी संगठन बनाने की तात्कालिक आवश्यकता महसूस की। दादाभाई नौरोजी के सम्मान में, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के १८९३ के अधिवेशन के अध्यक्ष रह चुके थे, उन्होंने अपने नये संगठन का नाम 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' रखा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विधान और उसके काम करने के ढंग के बारे में गांधीजी को कोई जानकारी नहीं थी। यह उनके हक में अच्छा ही हुआ। वह नेटाल इंडियन कांग्रेस को नेटाल के भारतीयों की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप बना सके। उस जमाने की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बुद्धिजीवियों का मंच था, जहां वे साल में एक बार जमा होकर लच्छेदार भाषण देते, अर्जियां तैयार करते और विरोध-प्रदर्शन करते थे। फिर साल-भर तक उसका कहीं नाम भी नहीं सुनाई देता था। इसके विपरीत नेटाल कांग्रेस पूरे साल काम करनेवाला प्राणवान संगठन था, जो सदस्यों के राजनैतिक हितों की ही चौकसी नहीं करता था, उनके नैतिक और सामाजिक उन्नयन के लिए भी प्रयत्नशील था। जिन लोगों की सेवा के लिए 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' बनाई गई थी, उनका राजनैतिक अनुभव और ज्ञान न-कुछ के बराबर था, लेकिन फिर भी वह किसी व्यक्ति-विशेष का एकाधिकारी संगठन नहीं बना। महामंत्री गांधी हर कदम पर सभीका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए अथक परिश्रम करते, जिससे काम में सार्वजनिक उत्साह और रुचि बराबर बनी रहती। सदस्य बनाने और चंदा

जमा करने-जैसे मामूली कामों को भी उन्होंने एक महान् अनुष्ठान का रूप दे दिया था। आधे मन से सहयोग देने और अधूरा समर्थन करनेवालों के साथ वह नैतिक दबाव का विनम्र परंतु साथ ही दृढ़ ढंग अपनाते थे। एक बार किसी कस्बे के भारतीय व्यापारी के यहां वह इसलिए सारी रात भूखे बैठे रहे कि वह नेटाल कांग्रेस का चंदा बढ़ा नहीं रहा था; आखिर सवेरा होते-होते उन्होंने उसे तीन के बदले छः पौंड देने को राज़ी कर लिया।

लंदन में विद्यार्थी-काल से ही गांधीजी अपने दैनिक खर्च का नियमित हिसाब बड़ी सतर्कता से रखने लगे थे। अब नेटाल इंडियन कांग्रेस के आय-व्यय का हिसाब भी उतनी ही मुस्तैदी से रखने लगे। यहां भी किफ़ायत-शारी उनका मूल मंत्र था और पाई-पाई का हिसाब इतनी अच्छी तरह रखा गया कि तीस बरस बाद वह अपनी 'आत्मकथा' में लिखते हैं—"मैं समझता हूं कि आज भी नेटाल कांग्रेस के दफ्तर में १८९४ के हिसाब के पूरे ब्यौरेवाली बहियां मिल जानी चाहिएं।" संस्था के पैसों में से वह स्वयं कुछ भी नहीं लेते थे। वह मानते थे कि पैसा लेकर सार्वजनिक काम करने-वाला संस्था और समाज की स्वतंत्रता और निर्भीकता से सेवा नहीं कर सकता। अवैतनिक सार्वजनिक सेवा को वह जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य ही नहीं, अपनी स्वाधीनता की गारंटी भी समझते थे। ये आरंभिक दिन उनके सार्वजनिक जीवन और राजनैतिक कार्यों के प्रशिक्षण के दिन थे। इसी समय उन्होंने अपने लिए एक राजनैतिक आचरण-संहिता भी बनाई। राज-नीति में अपने दल के लिए उचित-अनुचित सभी उपायों का अवलंबन करने का प्रचलित मत उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। वकालत के दौरान तथ्यों के जिस महत्त्व को उन्होंने जाना था, राजनीति में भी उसीपर दृढ़ता से अमल करने लगे। उनकी मान्यता थी कि तथ्य अपने पक्ष में हैं तो सचाई और न्याय भी स्वयं चले आयंगे और तथ्यों को सजाने-संवारने या नमक-मिर्च लगाने की जरूरत नहीं हुआ करती। बात या वस्तु-स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर कहने से स्वयं तो बचते ही थे, अपने साथियों-सहकर्मियों को भी रोका-टोका करते। 'नेटाल इंडियन' कांग्रेस उनके निकट भारतीय अल्प-संख्यकों के राजनैतिक एवं आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा का माध्यम

ही नहीं, उनके सुधार और उनमें एकता कायम करने का अस्त्र भी थी। गलतियों के लिए वह अपने देशवासियों को भी नहीं बख्शते थे, खामियों के लिए उनकी पूरी आलोचना करते थे। हमेशा इस बात पर जोर देते रहते कि भारतीयों को व्यापार-धंधे में ईमानदारी बरतनी चाहिए और अपने रहन-सहन के ढंग को सुधारना और ऊंचा उठाना चाहिए। वह नेटाल में बसे भारतीयों के सबसे कट्टर हिमायती और मित्र ही नहीं, उनके जबर्दस्त आलोचक भी थे।

यहां दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि समस्या के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना गांधीजी और नेटाल इंडियन कांग्रेस ने जो काम किया उसके सही महत्त्व को समझना बहुत मुश्किल होगा।

लार्ड मिलनर का कहना था कि यूरोपियन बाशिंदे ज़रा भी नहीं चाहते, फिर भी एशियावाले अपने-आपको जबर्दस्ती थोपे जा रहे हैं। लेकिन सचाई तो कुछ और ही कहती है। १८६० और उसके बाद के वर्षों में भारतीय प्रवासियों ने वहां के गोरे अधिवासियां के आग्रह और निमंत्रण पर ही दक्षिण अफ्रीका में जाना शुरू किया था। इन गोरे बाशिंदों के पास चाय, काफी और गन्ने की बड़ी-बड़ी ज़मींदारिया थीं, पर उनपर काम करने के लिए मज़दूरों की भारी कमी थी। गुलामी की प्रथा का अंत हो जाने से नीग्रो लोगों को काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता था। इसलिए नेटाल के यूरोपियन बाशिंदों ने भारत सरकार से लिखा-पढ़ी करके उसे इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वह भारतीय मज़दूरों को वहां जाने और बसने की इजाजत दे। गोरे ज़मींदारों के भर्ती-एजेंट मद्रास और बंगाल के सबसे घनी और गरीब आबादीवाले इलाकों में जाने और वहां के मुसीबतजदा लोगों को नेटाल के सब्ज-बाग दिखाने लगे। किराया, खाना और मकान मुफ्त। पहले साल दस शिलिंग माहवार तनख्वाह और हर साल एक शिलिंग तरक्की। पांच बरस काम करने का इकरारनामा (जिसे 'गिरमिट प्रथा' कहते हैं और जिसके अंतर्गत मज़दूर 'गिरमिटिया' कहलाता है) और इकरार पूरा होने पर मुफ्त भारत लौट आने का हक़ (या अगर चाहें तो वहीं बसने की छूट)। हजारों गरीब और

अनपढ़ भारतीय इस दम-दिलासे में आ गये और दूर देश नेटाल की ओर चल पड़े।

भारत से 'गिरमिटिया मज़दूरों' का पहला जहाज सन् १८६० के नवंबर महीने में डरबन पहुंचा। १८९० तक वहां लगभग चालीस हज़ार गिरमिटिया मज़दूर भारत से बुलवाये गए। सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर के शब्दों में "उनकी हालत अर्द्ध-गुलामों-जैसी थी।" यह सच है कि सारे जमींदार बुरे, क्रूर और कठोर नहीं थे, लेकिन मालिक के बुरे व्यवहार के विरोध में कोई भी गिरमिटिया अपनी नौकरी नहीं छोड़ सकता था, न उसे नई नौकरी मिल सकती थी। पांच बरस की अवधि पूरी हो जाने पर जो भारतीय मज़दूर गिरमिट का नया इकरारनामा नहीं करता था उसके रास्ते में हर तरह के रोड़े अटकाये जाते, लेकिन इन सारी कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद अवधि पूरी हो जाने पर बहुत-से भारतीय मज़दूर दक्षिण अफ्रीका में ही बस गये, क्योंकि भारत से उनके सारे रिश्ते खत्म हो चुके थे। वे जमीन का छोटा-बड़ा टुकड़ा खरीद लेते, साग-सब्जी पैदा करते, अच्छी तरह गुजर-बसर हो जाती। और अपने लड़के-बच्चों को पढ़ाने भी लगे। गोरे व्यापारियों ने इस नये वर्ग को अपने लिए बड़ा खतरा समझा। वे आंदोलन करने लगे कि जो भी भारतीय मजदूर अवधि पूरी हो जाने पर गिरमिट का नया इकरारनामा न करें, उन सभीको भारत भेज देना चाहिए। मतलब यह कि नेटाल में भारतीय गुलाम बनकर ही रह सकता था, आजाद भारतवासी के लिए वहां कोई जगह नहीं थी। १८८५ में प्रवासी भारतीयों की स्थिति का अध्ययन करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया। उस आयोग ने दक्षिण अफ्रीका के यूरोपीय जनमत को वहां कृषि या व्यापार में लगे सभी भारतवासियों के प्रति अत्यंत असहिष्णु और उनकी उपस्थिति का घोर विरोधी पाया। लेकिन आयोग ने यह राय दी कि गिरमिट से मुक्त भारतीय दक्षिण अफ्रीका के लिए जिम्मेदारी नहीं, वरदान ही है। उसे वहां से निकालना उसपर अन्याय तो है ही, उपनिवेश की समूची अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक भी होगा। आयोग का यह उदार दृष्टिकोण, जो दक्षिण अफ्रीका के गोरे बाशिंदों के अपने ही हित में था, यूरोपियन ज़मींदारों के गले नहीं उतरा।

उन्हें असल डर तो यह था कि भारतीयों के निम्न जीवन-स्तर और सस्ता वेच सकने की सामर्थ्य के कारण गोरे व्यापारी होड़ में उनके आगे टिक न सकेंगे।

१८९३ में नेटाल को उत्तरदायी शासन का अधिकार मिल गया। इससे वहां की रंग-भेद की नीति पर लंदन के उपनिवेश मंत्रालय का पहले जो थोड़ा-बहुत नियंत्रण था वह भी समाप्त हो गया। अव नेटाल के गोरे वाशिंदों का एक प्रतिनिधि-मंडल भारत सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव लेकर पहुंचा कि या तो सभी भारतीय मजदूरों के लिए गिरमिट की प्रथा लाजमी कर दी जाय या सभीको लाजमी तौर पर वहां से भारत बुला लिया जाय और नहीं तो प्रति व्यक्ति पच्चीस पौंड का वार्षिक कर लगाने की अनुमति दी जाय। भारत की गोरा नौकरशाही को नेटाल की असली हालत और भारतीयों की समस्या का ज़रा भी ज्ञान नहीं था और फिर वह दक्षिण अफ्रीका में बसे अपने गोरे देशवासियों की मदद के लिए उतावली भी बहुत थी। बिना सोचे-समझे उसने गिरगिट से मुक्त भारतीय मजदूर के परिवार के हर सदस्य पर वार्षिक तीन पौंड का कर लगाये जाने की मंजूरी दे दी। उसने इतना भी नहीं सोचा कि जिस इकरारनामे से भारतीय मजदूर दक्षिण अफ्रीका जाता है उसी इकरारनामे की शर्तें उसे नेटाल में बसने का अधिकार भी देतीं हैं और वह केवल अपने उस अधिकार का उपयोग कर रहा है, फिर उसपर किसी भी तरह का दंड-कर क्यों लगाया जाना चाहिए? सिर्फ दस से बारह शिलिंग मासिक मजदूरी पानेवाले फटेहाल गिरमिटिया मजदूरों के लिए तो यह कर कमरतोड़ बोझ ही था। गरीब, अनपढ़ और असंगठित होने के कारण वे पूरी तरह असहाय थे और उसपर देश में अकेले भारतीय व्यापारी ही थे, जिनसे वे सहानुभूति और सहायता की आशा कर सकते थे।

भारतीय व्यापारी भारतीय मजदूर के पीछे-पीछे दक्षिण अफ्रीका पहुंचा था और वहां भारतीय मजदूरों और नीग्रो लोगों में उसका वणिज्-व्यापार धड़ल्ले से चल निकला था। नीग्रो लोग उससे इसलिए खुश थे कि वह गोरे व्यापारी के मुकाबले में विनम्र और आवभगत करनेवाला था और लूटता भी कम था। लेकिन भारतीय व्यापारी के कारोवार की यह

बढ़ती शीघ्र ही गोरे व्यापारी की आंखों का शूल बन गई। भारतीयों को मताधिकार से वंचित करनेवाला विधेयक असल में भारतीय व्यापारी के घुटने तोड़ने के ही उद्देश्य से पेश किया गया था। नेटाल में केवल वही मत दे सकता था जिसके पास कम-से-कम पचास पौंड मूल्य की स्थायी सम्पत्ति हो या जो दस पौंड वार्षिक किराया देता हो। इस शर्त के अनुसार वहां दस हजार गोरे मतदाताओं के मुकाबले सिर्फ ढाई सौ भारतीयों को ही मत देने का अधिकार था। लेकिन इतने थोड़े-से भारतीय मतदाताओं से ही वहां के गोरों की जान घबराने लगी। गोरे तो बिलकुल ही नहीं चाहते थे कि भारतीय या कोई भी काला, सांवला या पीला हब्शी नेटाल की संपदा और वहां के शासन में हिस्सा बंटाये। वहां के राजनैतिक नेता और कार्यकर्ता खुले आम कहते फिरते थे कि "इस विधेयक का मकसद भारतीयों को काफिर बनाना—गुलाम के दर्जे तक पहुंचा देना" और "आगे चलकर जो दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्र बननेवाला है उससे उन्हें परे रखना है।" एक दूसरे राजनीतिज्ञ की राय में इस विधेयक का उद्देश्य "नेटाल की अपेक्षा उनकी अपनी मातृभूमि में ही भारतीयों के जीवन को अधिक सुखी बनाना" था।

भारतीयों को मताधिकार से वंचित करने वाला विधेयक नेटाल की विधान-सभा ने पास कर दिया और वहां के गवर्नर ने उसपर अपनी मंजूरी भी दे दी। लेकिन लंदन के उपनिवेश मंत्रालय ने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यह विधेयक ब्रिटिश साम्राज्य के एक भाग के निवासियों के साथ भेद-भाव बरतनेवाला है। लंदन की इस अस्वीकृति का बहुत-कुछ श्रेय गांधीजी के प्रभावशाली प्रचार-आंदोलन को भी देना होगा। नेटाल, के गोरे लंदन के इस विशेषाधिकार से निरुत्साहित नहीं हुए। अब उन्होंने दूसरा दांव चला जिसमें वर्ण-बाधा और रंग-भेद का कहीं उल्लेख भी नहीं था। एक संशोधित विधेयक पारित किया गया, जिसके अनुसार 'गवर्नर जनरल की विशेष अनुमति के बिना जिन देशों (यूरोप के अतिरिक्त) में पार्लमेंटरी ढंग की चुनाव-प्रणाली और उससे बनी जन-प्रतिनिधि संस्थाएं नहीं हैं, वहां के मूल निवासियों का नाम मतदाता-सूची में दर्ज नहीं" हो सकता था। यह संशोधित विधेयक भी मूल विधेयक की ही भांति भारतीय को मताधिकार से वंचित करता था।

भारतीय व्यापारियों और प्रवासियों पर तरह-तरह की कोंचनेवाली बाधाएं लगा दी गईं। अब नेटाल में बिना लाइसेंस के कोई व्यापार ही नहीं कर सकता था; यूरोपियनों को तो लाइसेंस बड़ी आसानी से, मांगते, ही मिल जाता था, लेकिन भारतीयों को या तो मिलता ही न था या बहुत कोशिशों और खर्चे के बाद मिलता था। हर प्रवासी के लिए किसी एक यूरोपीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि अपनी मर्जी से जानेवालों के लिए दक्षिण अफ्रीका के के दरवाजे बन्द हो गये; लेकिन इकरारनामे के मातहत लाये जानेवाले अर्द्धगुलाम गिरमिटियों के लिए ऐसी कोई शर्त और रोक नहीं थी।

असल में देखा जाय तो इस भारतीय-विरोधी अभियान में नेटाल के गोरे ट्रांसवाल और औरेंज फ्री-स्टेट के अपने बोअर पड़ोसियों का ही अनुकरण कर रहे थे। ट्रांसवाल (बोअर) रिपब्लिक का प्रेसिडेंट क्रूगर तो बड़ा ही झगड़ालू और बदतमीज था। उसने एक भारतीय प्रतिनिधि-मंडल से यहांतक कह दिया, "तुम इस्माइल के वंशज हो, इसलिए तुम्हारा जन्म ही हुआ है ईसू के वंशजों की गुलामी करने के लिए।" उन दिनों प्रिटोरिया में ब्रिटिश सरकार का एक प्रतिनिधि रहता था। जब उससे शिकायत की गई तो उसने कुछ भी करने में अपनी मजबूरी जाहिर कर दी। बाद में जब बोअर-युद्ध छिड़ा तो बोअरों पर लगाये गए अनेक आरोपों में भारतीयों के साथ उनका दुर्व्यवहार भी एक था। लेकिन उस समय दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों से न्याय पाने की भारतीयों की आशा दुराशा ही थी। शीघ्र ही उन्हें पता चल गया कि न तो उन्हें बोअरों से न्याय मिल सकता है और न अंग्रेजों से।

भारतीयों की कानूनी स्थिति तो बुरी थी ही, लेकिन उन्हें रोज गोरों के हाथों जो अपमान सहने पड़ते थे वे तो और भी कष्टदायी थे। भारतीय कोई भी क्यों न हो, 'कुली' नाम से पुकारा जाता था। भारतीय स्कूलमास्टर 'कुली स्कूल मास्टर' था, भारतीय स्टोर-कीपर 'कुली स्टोर-कीपर' और भारतीय दुकानदार 'कुली दुकानदार।' गांधीजी को 'कुली बैरिस्टर' कहा जाता था। जिन जहाज कंपनियों के मालिक भारतीय थे, उनके जहाजों को 'कुली जहाज' कहा जाता था। भारतीयों का वर्णन आम तौर पर 'गाली

के योग्य एशियाई गंदगी, बुराइयों के भंडार, भातखोर और गंदे कीट-पतंग खानेवालों' के रूप में किया जाता था। नेटाल के संवैधानिक ग्रंथ में उनका उल्लेख 'अर्द्ध-बर्बर एशियाई या एशिया की असभ्य जाति के लोग' कहकर किया गया था। बिना अनुमतिपत्र के न तो वे फुटपाथ पर चल सकते थे और न रात में घर से बाहर ही निकल सकते थे। पहले और दूसरे दर्जे के टिकट उन्हें दिये नहीं जाते थे। गोरे यात्री के एतराज करने पर उन्हें बिना कहे-सुने रेलगाड़ी के डिब्बे से बाहर धकेल दिया जाता था। कभी-कभी तो उन्हें रेलगाड़ी के फुटबोर्ड पर खड़े-खड़े मुसाफिरी करनी पड़ती थी। यूरोपियन होटलों में वे प्रवेश नहीं कर सकते थे। 'कैंप टाइम्स' नामक अखबार ने ठीक ही लिखा था कि "जिन लोगों के बिना उसका काम एक क्षण भी नहीं चल सकता, उन्हींसे भयंकर घृणा का विचित्र दृश्य नेटाल में हमें देखने को मिलता है। यहां से सारे भारतवासियों के चले जाने पर इस उपनिवेश के वाणिज्य और व्यवसाय की जो दुरवस्था होगी उसकी कल्पना करते भी डर लगता है। लेकिन फिर भी भारतीयों को यहां बड़ी बुरी तरह दुरदुराया और हीन समझा जाता है।"

ट्रांसवाल में भारतीय व्यापारी खास जगहों के बाहर न तो रह सकते थे और न व्यापार ही कर सकते थे। 'लंदन टाइम्स' ने इन स्थानों को यहूदियों की बंदी-बस्तियों, 'गेटों, का नाम दिया था। औरेंज फ्री-स्टेट के एक कानून के अनुसार न केवल एशियावासी बल्कि किसी भी रंगीन जाति का कोई आदमी वहां व्यापार अथवा कोई भी कार-बार नहीं कर सकता था। 'कैंप टाइम्स' अखबार ने लिखा था, "भारतीय जहां भी जाता है, काफी अच्छा और उपयोगी काम करता है। किसी भी तरह की सरकार क्यों न हो, वह उसके नियम-कानून का पूरा पाबन्द रहता है। बहुत थोड़े में वह अपना काम चला लेता है और स्वभाव से ही परिश्रमी होता है। लेकिन उसकी ये अच्छाइयां ही उसकी दुश्मन बन जाती हैं। मेहनत-मजदूरी के जिस क्षेत्र में भी वह प्रवेश करता है," इन सद्‌गुणों के कारण दूसरे उसे अपना दुर्दांत प्रतिद्वंद्वी मानने लगते हैं।' कई वर्षों बाद लायनल कर्टिस ने गांधीजी से सच ही कहा था कि यूरोपवासियों को कुपित करनेवाली असली बात

भारतीयों के सद्गुण ही थे, उनके दुर्गुण नहीं और उनपर राजनैतिक अत्याचार भी उनके इन सद्गुणों के कारण ही हुए।

: ६ :
बिना अपराध दंड

गांधीजी के सार्वजनिक कार्यों और वकालत को देखते हुए तो ऐसा ही लगता था जैसे वह नेटाल में बस गये हों। सन् १८९६ के मध्य में वह अपने परिवार को लिवा जाने के लिए भारत आये। लगे हाथों उनका उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के लिए देश में जितना हो सके समर्थन पाना और जनमत बनाना भी था।

जहाज से वह कलकत्ता उतरे और वहां से रेल के द्वारा बंबई होते हुए अपने घर राजकोट पहुंचे।

राजकोट में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर एक पुस्तिका लिखी और उसे छपवाकर देश के प्रमुख समाचारपत्रों एवं गण्यमान्य नेताओं को उसकी प्रतियां भेजीं। इस काम में उनका लगभग एक महीने का समय लग गया। इस पुस्तिका में बातें तो प्रायः वे ही थीं, जो गांधीजी ने नेटाल से प्रकाशित अपनी ही पुस्तिकाओं—'दक्षिणी अफ्रीका में बसनेवाले हरेक अंग्रेज से अपील' (एन अपील टू एवरी ब्रिटेन इन साउथ अफ्रीका) और 'भारतीय मताधिकार : एक अपील' (दि इंडियन फ्रेंचाइज : एन अपील) में लिखी थीं। लेकिन इसकी भाषा उन दोनों से कुछ नरम थी और चित्रण जान-बूझकर हलका रखा गया था।

फिर इस समस्या पर लोकमत तैयार करने के उद्देश्य से गांधीजी ने देशव्यापी दौरा शुरू किया। सबसे पहले वह बंबई आये और वहां बंबई के 'बेताज बादशाह' सर फीरोजशाह मेहता से मिले। गांधीजी को इनपर अपने लंदन के विद्यार्थी-काल से ही असीम श्रद्धा और भक्ति थी। सर फीरोजशाह मेहता के सभापतित्व में गांधीजी का भाषण सुनने के लिए एक सभा का आयोजन हुआ। लिखित भाषण तैयार कर लेने की बात उनसे पहले ही कह

दी गई थी। खचाखचभरे सभा-भवन में गांधीजी अपना लिखित भाषण पढ़ने के लिए खड़े हुए, लेकिन दो पंक्तियों के बाद उनसे आगे पढ़ा न गया, गला सूख गया और सारा सभा-भवन आंखों में नाचने लगा। वह बैठ गये और उनका शेष भाषण बंबई के उस समय के प्रसिद्ध वक्ता वाचा ने बड़े ही प्रभावोत्पादक ढग से पढ़कर सुनाया।

पूना में गांधीजी महाराष्ट्र की राजनीति के दो सुमेरु गोखले और तिलक से मिले। गोपालकृष्ण गोखले अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों के लिए समर्पित कर चुके थे। उनकी तेज़ निगाहें हमेशा देशभक्त नवयुवकों को खोजने-परखने में लगी रहती थीं। दक्षिण अफ्रीका के युवा बैरिस्टर गांधीजी के उत्साह और कार्यनिष्ठा से वह बड़े प्रभावित हुए। गांधीजी तो पहली ही मुलाकात में उनके "मुरीद बन गये। गोखले और तिलक की सार्वजनिक और राजनैतिक मामलों में कभी पटरी नहीं बैठती थी। हर समस्या और हर प्रश्न पर एक के विचार पूरब की ओर चलते थे तो दूसरे के पश्चिम की ओर। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर गांधीजी का भाषण सुनने के लिए दोनों पहली बार एक सार्वजनिक सभा का संयुक्त रूप से आयोजन करने को तैयार हुए, जो एक तरह से अनहोनी-सी ही बात थी। तिलक अपने समय के महान् राजनैतिक नेता और प्रख्यात पत्रकार थे। पहली ही निगाह में वह ताड़ गये कि अफ्रीका के इस युवक बैरिस्टर को भारतीय राजनीति का रंचमात्र भी ज्ञान नहीं है।

नेटाल में गांधीजी अपना सार्वजनिक कार्य और भाषण आदि बड़े आत्मविश्वास और सूझ-बूझ से कर लेते थे, लेकिन भारत में इतने बड़े-बड़े और धुरन्धर नेताओं के सामने भाषण करते हुए उन्हें बड़ी घबराहट होती थी। अपनी छोटी उम्र और अनुभवहीनता का विचार बार-बार कोंचने लगता। सर फीरोजशाह मेहता हिमालय की तरह ऊंचे और दुर्लंघ्य लगते थे, तिलक समुद्र की तरह विशाल और अगाध और गोखले तो मानो गंगा का पावन प्रवाह ही थे। बंबई में तो गांधीजी अपना लिखित भाषण भी पूरा नहीं पढ़ सके थे। ठीक वही हाल हुआ जो पहले मुकदमे के समय खफीफा अदालत में पेश होने पर हुआ था। यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन भारत में नहीं, दक्षिण अफ्रीका में आरम्भ किया। यदि भारत में शुरु

करते तो पग-पग पर बाधाओं से टकराते-टकराते जाने क्या हाल हो जाता। आत्मविश्वास की कमी और अपरिपक्वता के विचार से जो हानि होती, वह तो थी ही, उस समय की भारतीय राजनीति भी उनकी रचनात्मक प्रतिभा के उपयुक्त नहीं थी—सभी क्षेत्रों में दलबंदियों और वैयक्तिक उखाड़-पछाड़ का जोर हो चला था। लेकिन इतना सब होते हुए भी गांधीजी को सभी प्रमुख नेताओं का स्नेह, सहयोग और समर्थन मिला, क्योंकि भारत के सभी पक्षों और दलों के नेता दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के हितों और अधिकारों के प्रश्न पर प्रायः एकमत थे।

ज्यादातर गिरमिटिया मजदूर मद्रास प्रेसिडेंसी के ही थे, इसलिए जब गांधीजी मद्रास पहुंचे तो वहां उनका जोरदार स्वागत हुआ। सभी पक्षों के नेताओं और समाचारपत्रों से पूरा-पूरा सहयोग मिला, जिनमें प्रभावशाली अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहां गांधीजी की लिखी पुस्तिका हाथों-हाथ बिक गई और उसका नया संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण निकालना पड़ा। कलकत्ता के नेताओं ने वैसा उत्साह नहीं दिखाया और वहां के अखबारवालों से भी उतना सहयोग नहीं मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' अखबारों ने ज़रूर गांधीजी से भेंट लेकर उसका विवरण छापा। ये दोनों अखबार अंग्रेज मालिकों के थे।

कलकत्ता में सार्वजनिक सभा की योजना अभी बन ही रही थी कि गांधीजी को नेटाल से 'तुरंत लौट आने का' तार मिला। उन्हें अपना देशव्यापी दौरा कलकत्ता में ही समाप्त कर देना पड़ा, लेकिन फिर भी काफी काम हो चुका था। प्रवासी भारतीयों की समस्या के प्रति वह अपने देशवासियों की रुचि जाग्रत कर काफी जनमत तैयार कर चुके थे। प्रमुख नगरों में चोटी के प्रभावशाली नेताओं के सभापतित्व में आम सभाएं की गई थीं और देश के समाचारपत्र-जगत् ने, जिसमें एंग्लो-इंडियन अखबार भी शामिल थे, साम्राज्यवाद की असलियत लोगों पर जाहिर कर दी थी।

गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका पहुंचने के पहले ही भारत में उनके कार्यों और भाषाणों की तोड़ी-मरोड़ी हुई रिपोर्ट नेटाल पहुंच गई और वहां के गोरे बाशिंदे मारे गुस्से के आगबबूला हो उठे। 'रायटर' के लंदन कार्यालय ने एक चार पंक्तियों का तार भेजा था, जिसे नेटाल के सभी समाचारपत्रों

ने प्रमुख स्थान पर छापा। वह तार इस प्रकार था—"१४ सितंबर। भारत में छपी एक पुस्तिका में कहा गया है कि नेटाल में भारतीयों को लूटा जाता है, उनपर हमले किये जाते हैं, और उनके साथ जानवरों-जैसा बर्ताव होता है, जिसकी कोई दाद-फरियाद नहीं। 'टाइम्स ऑव इंडिया' पत्र ने इन आरोपों की जांच की सिफारिश की है।"

'रायटर' का मतलब उस पुस्तिका से था, जिसे गांधीजी ने भारत में लिखा, छापा और वितरित किया था। गांधीजी की लेखन-शैली की प्रशंसा में जोहान्सबर्ग का प्रमुख अखबार 'दि स्टार' एक बार लिख चुका था कि उनके लिखने का ढंग "ओजस्वी, मर्मस्पर्शी, संयत और अच्छा है।" 'नेटाल मरकरी' ने भी लेखन में उनके 'संयम और निरुद्विग्नता' की प्रशंसा की थी। भारत में गांधीजी ने जो पुस्तिका लिखी थी उसकी भाषा नेटाल में लिखी उन दोनों पुस्तिकाओं से अधिक 'नरम' थी और उसमें उन्होंने स्थिति के चित्रण को जान-बूझकर 'हलका' रखा था। हर भाषण के एक-एक शब्द को खूब तौल-तौलकर पहले लिख लिया था और तब उन्हें पढ़ा गया था। उनका सत्यपरायणता और अतिशयोक्ति से अपनेको बचाने की आदत से कलकत्ता के 'इंग्लिशमैन' अखबार के संपादक इतने प्रभावित हुए कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर लिखा अपना अग्रलेख उन्हें पढ़ने को ही नहीं दिया, उसमें काट-छांट करने की छूट भी दे दी थी।

भारत में गांधीजी ने जो कुछ किया और कहा था उसकी सही रिपोर्ट तो नेटाल पहुंच नहीं पाई और इसी बीच लंदन से 'रायटर' के उस तार ने वहां बवंडर पैदा कर दिया। वहां के गोरे गांधीजी से बेहद नाराज़ हो गये। जिस देश ने आश्रय दिया उसीको बदनाम करने, 'नेटाल के यूरोपियनों को गंदगी में खींचने और उनके चेहरों पर कालिख पोतने' के आरोप उनपर लगाये गए। नेटाल को भारतीय प्रवासियों से भर देने के षड्यंत्र का दोषारोपण भी उनपर किया गया। बात यों हुई कि 'कूरलैंड' नामक जिस जहाज से गांधीजी और उनका परिवार यात्रा कर रहा था वह और 'नादेरी' नामक एक दूसरा स्टीमर दोनों एक ही दिन बंबई से रवाना हुए और एक ही समय नेटाल पहुंचे। गांधीजी के पुराने मुवक्किल और मित्र अब्दुल्ला सेठ 'कूरलैंड' के मालिक थे और 'नादेरी' के एजेंट भी वही थे। दोनों

जहाजों के कुल मिलाकर आठसौ यात्रियों में से चार सौ के लगभग नेटाल उतरनेवाले थे। दोनों जहाजों का बंबई से एक साथ रवाना होना और १८ दिसंबर १८९६ को साथ-साथ डरबन पहुंचना महज एक संयोग था। लेकिन 'रायटर' के तार से नाराज़ नेटाल के गोरों ने इस आकस्मिक संयोग को षड़यंत्र समझ लिया। डरबन के टाउन हॉल में दो हजार गोरों ने सभा करके 'मुक्त भारतीयों' को नेटाल की भूमि पर न उतरने देने की सरकार से मांग की।

जब दोनों जहाजों ने बन्दरगाह में लंगर डाल दिये तो यूरोपियनों ने भारतीय यात्रियों को समझाने-बुझाने और लोभ-लालच देने से लेकर डराने-धमकाने तक सभी उपाय खूब आजमाये। उलटे कदम लौट जाने वालों को वापसी किराये का लोभ और इनकार करनेवालों को समुद्र में फेंक देने की धमकियाँ दी गईं। जहाजों के मालिकों को चेतावनी दी गई कि या तो अनचाहे यात्रियों को बन्दरगाह से ही वापस भारत ले जाओ या नेटाल सरकार और वहां के गोरों की कोपाग्नि का सामना करने को तैयार हो जाओ। जहाजों को क्वारंटीन में रख दिया गया; लेकिन जब क्वारंटीन की अवधि पांच दिन से बढ़ाकर तीन सप्ताह कर दी गई तो स्वास्थ्य-रक्षा की अपेक्षा उसके राजनैतिक प्रयोजन में कोई भी सन्देह नहीं रह गया। इसमें नेटाल के प्रभावशाली यूरोपियनों का हाथ था और वहां का एटर्नी-जनरल हैरी एस्कंब उन लोगों की खुल्लमखुल्ला मदद कर रहा था। भारतीय यात्रियों में ज्यादातर अनपढ़ थे और पहली बार इतनी लम्बी समुद्री यात्रा कर अपने परिवारों के साथ यहां तक पहुंचे थे। लेकिन कोई भी गोरों की धमकियों से विचलित नहीं हुआ, क्योंकि गांधीजी उन्हें बराबर धीरज बंधाते और आशा दिलाते रहते थे। असल में बलि का बकरा तो वह ही थे। नेटाल के यूरोपियनों का सारा गुस्सा उन्हींके कारण था। गांधीजी भी इस बात को महसूस करते थे कि उन्हींकी वजह से सैकड़ों यात्रियों की, जिनका वे नाम-धाम तक नहीं जानते, जान जोखिम में थी और खुद उन्हींके अपने बाल-बच्चे भी मुसीबत में पड़ गये थे। बड़े दिन (क्रिसमस-डे, १८९६) के अवसर पर जहाज के कप्तान के कमरे में एक छोटी-सी सभा हुई और उसमें किसीने गांधीजी से पूछ लिया कि

गोरे जैसी धमकी दे रहे हैं वैसा कर ही गुजरें और जोर-जबर्दस्ती से भारतीयों को नहीं ही उतरने दें तो बताइये, आप क्या करेंगे ? गांधीजी ने जवाब दिया था, "मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देने और उनपर मुक़दमा न चलाने की हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। मुझे उनपर ज़रा भी गुस्सा नहीं है। उनकी नासमझी और तंगदिली पर अफसोस ही है।"

जब तेईस दिन का राजनैतिक क्वारंटीन और गोरों की बुरी-से-बुरी धमकियां भी भारतीय यात्रियों को डिगा न सकीं तो १८९७ की १३ जनवरी को दोनों जहाजों को बन्दरगाह में प्रवेश करने और यात्रियों को उतारने की आज्ञा दे दी गई। लेकिन गांधीजी और उनके परिवार को सब यात्रियों के साथ नहीं उतरने दिया गया। मि० एस्कंब ने कप्तान को कहलवाया कि गांधी और उनके परिवार को शाम तक रोके रहो; अंधेरा होने पर पोर्ट सुपरिंटेंडेंट उन्हें अपनी हिफाजत में लिवा ले जायंगे। लेकिन दोपहर के समय गांधीजी के मित्र यूरोपियन वकील मि० लाटन उनसे मिलने आये और बताया कि इस समय शांति है, किसी तरह का खतरा नहीं है और हो भी तो आपका 'रात में चोर की तरह' लुक-छिपकर डरबन नगर में प्रवेश करना कोई अच्छी बात नहीं। इसपर यह तय पाया कि गांधीजी की पत्नी और बच्चे तो तुरंत सवारी से उनके मेजवान रुस्तमजी के घर पहुंच जायं और मि० लाटन और गांधीजी पैदल चलकर वहां जायं। बन्दरगाह से बाहर निकलकर गांधीजी थोड़ा ही दूर गये थे कि कुछ यूरोपियन लड़कों ने उन्हें पहचान लिया। तुरत कुछ लोग इकट्ठे हो गये और भीड़ बढ़ने लगी और उसके साथ-साथ शोर-शराबा और धमकियां भी। भीड़ का गुस्सा और बदलते तेवर देखकर मि० लाटन ने रिक्शा मंगवाया, लेकिन गोरों ने रिक्शा चलानेवाले जूलू लड़कों को डराधमकाकर भगा दिया। गांधीजी और लाटन आगे बढ़े तो मजमा भी उनके साथ हो लिया और भीड़ बढ़ती चली गई। वेस्ट स्ट्रीट पर पहुंचते-पहुंचते भीड़ मि० लाटन को खींचकर अलग ले गई। अब गांधीजी पर सड़े अंडों और कंकड़-पत्थरों की बौछार होने लगी। एक क्रोधोन्मत्त गोरे ने चीखकर कहा, "अखबार में वह सब तूने ही लिखा था न ?" और कसकर गांधीजी

को एक लात मारी। उन्हें चक्कर आ गये। दम लेने के लिए उन्होंने बगल के घर की जाली पकड़ली और फिर किसी तरह लड़खड़ाते हुए आगे बढ़े। जीवित घर पहुंचने की सारी आशाएं उन्होंने छोड़ दीं; लेकिन जैसा-कि उन्होंने बाद में बताया, उस समय भी अपने पर हमला करनेवालों के प्रति उनके मन में कोई रोष नहीं था और न उन्होंने उनको दोष ही दिया। इतने में एक बड़ी ही सुन्दर और वीरतापूर्ण बात हुई। पुलिस सुपरिटेंडेंट मि० अलेक्ज़ेंडर की पत्नी वहां आ पहुंची। उन्होंने गांधीजी को पहचाना तो उनकी बगल में आ खड़ी हुईं और उन्हें कंकड़-पत्थर की वर्षा से बचाने के लिए अपनी छतरी खोल ली। गोरों की भीड़ यों तो गुस्से से बौखलाई हुई थी, परन्तु गोरी मेम पर हाथ उठाने का किसीका साहस नहीं हुआ। इतने में पुलिस के सिपाही आ गये और उन्होंने अपनी हिफाजत में गांधी-जी को रुस्तमजी के घर पहुंचा दिया।

अभी गांधीजी के घावों की मरहमपट्टी होकर चुकी ही थी कि गोरों की भीड़ ने घर घेर लिया और धमकी देने लगे कि यदि गांधीजी को हमारे हवाले नहीं किया गया तो आग लगा देंगे। सुपरिटेंडेंट अलेक्ज़ेंडर को पता चला तो वह वहां पहुंचकर मकान के दरवाजे पर खड़े हो गये और भीड़ को हँसी-मजाक में बहलाये रख गांधीजी के पास संदेशा भेजा कि यदि आप घर, माल-मता और स्त्री-बच्चों सहित सब लोगों को जिन्दा भुनवाना नहीं चाहते तो चुपचाप वेश बदलकर खिसक जाइये। गांधीजी साफे के नीचे सिर पर पीतल की तश्तरी रखे हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी में दो खुफिया पुलिसवालों के साथ, जिनमें से एक भारतीय व्यापारी के वेश में था, बगल की गली से होकर पड़ोस की एक दुकान में पहुंचे और गोदाम में लगी हुई बोरों की थप्पियों को अंधेरे में लांघकर दुकान के दरवाजे की राह भीड़ के बीच में से होते हुए निकले और थाने पहुंच गये।

लेकिन थाने में उनको अधिक समय तक नहीं रहना पड़ा। रायटर ने भारत में गांधीजी के कार्यों की जो संक्षिप्त और गलत-शलत रिपोर्ट दी थी उसीसे नेटाल के गोरे अपना आपा खो बैठे थे। इसलिए जिस दिन आक्रमण हुआ उस सवेरे गांधीजी से मिलने के लिए आये हुए एक पत्र-प्रतिनिधि को अपने पर लगाये गए सभी आरोपों का एक-एक कर खुलासे-

वार जवाब दे दिया तो लोगों की गलतफहमी, देर से ही क्यों न हो, काफी हद तक दूर हो गई थी।

उधर लंदन से उपनिवेश-मंत्री ने गांधीजी पर हमला करनेवालों को गिरफ्तार कर उनपर मुकद्दमा चलाने के लिए नेटाल सरकार को तार दिया। गांधीजी ने इसका जो जवाब दिया वह बड़ा ही अद्‌भुत था। उन्होंने कहा कि अपने व्यक्तिगत मामले में अदालत न जाने का मैंने नियम बना लिया है; और फिर इस मामले में क्रोधावेश में हाथ छोड़ बैठनेवाले दो-चार आदमियों को दोषी मानकर सजा दिलाना वाजिब भी न होगा, क्योंकि असली अपराधी तो गोरी जाति के मुखिया और नेटाल की सरकार के वे सदस्य हैं, जो डरवन के गोरों को गुमराह कर उनके गुस्से को भड़काते रहे हैं।

१३ जनवरी १८९७ का वह दिन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और निर्णायक दिन था। गांधीजी मौत से बाल-बाल बचे थे। उन्होंने जिस संयम, उदारता और क्षमा का परिचय दिया उससे भारतीयों की उनके प्रति श्रद्धा और गोरों में उनकी प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई थी। वह नेटाल इंडियन कांग्रेस के द्वारा भारतीयों के संगठन और सेवा का कार्य बराबर करते रहे। १८९९ में जब बोअर-युद्ध छिड़ा तो गांधीजी के सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इस युद्ध में भारतीयों के लिए किस पक्ष का समर्थन करना उचित होगा ? आगे चलकर यह युद्ध दक्षिण अफ्रीका के इतिहास की धारा को ही मोड़नेवाला सिद्ध हुआ।

: ७ :

रोटी के बदले पत्थर

१८९९ में बोअर-युद्ध छिड़ते ही दक्षिण अफ्रीका के नायकत्व के लिए अंग्रजों और बोअरों का पारस्परिक संघर्ष अपने अंतिम चरण में पहुंच गया। इन दोनों गोरी जातियों को आपस में एक-दूसरे का खून बहाते देख भारतीयों को कोई दुःख नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें तो दोनों ही सताते थे—

यदि अंग्रेज कुछ कम तो बोअर बहुत ज्यादा। गांधीजी के अहिंसा और शांति-संबंधी विचार अभी परिपक्व नहीं हो पाये थे। उनका खयाल था कि ऐसे संकटकाल में सामान्य नागरिक के लिए यह तय करना कि कौन-सा पक्ष न्याय पर है, न तो सम्भव होता है और न उचित ही। नेटाल के भारतीयों को मामूली से नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। परन्तु गांधीजी का कहना था कि अधिकारों की मांग करनेवालों के भी कुछ कर्तव्य और दायित्व होते हैं, जिनका उन्हें पालन करना चाहिए। कुछ लोगों का यह खयाल था कि अंतिम जीत तो बोअरों की ही होगी, इसलिए इस समय भारतीय यदि किसी भी पक्ष का साथ न दें तो आगे चलकर फायदे में रहेंगे। गांधीजी को यह विचार पसन्द नहीं था; वह इसे हद दर्जे की कायरता मानते थे।

अन्त में उन्होंने नेटाल के सभी भारतीयों को अपने विचारों का बना ही लिया। लेकिन वहां की सरकार को भारतीयों के सहयोग की कोई परवा न थी; शुरू-शुरू में तो वह उनका सहयोग लेने को भी तैयार न हुई। नेटाल विधान-सभा के एक सदस्य, जेमसन ने तो गांधीजी से यहांतक कहा, "युद्ध के बारे में तुम लोग जानते ही क्या हो ? फौज के लिए खासा सिर दर्द हो जाओगे। मदद तो कुछ कर नहीं पाओगे, उलटे हमींको तुम्हारी हिफाजत की फिक्र करनी होगी।" इसपर गांधीजी ने जवाब दिया था, "क्या हम कुछ भी नहीं कर सकते ? कम-से-कम घायलों की सेवा-टहल तो कर ही सकते हैं। यह तो ऐसा बड़ा काम नहीं और न इसमें किसी खास अकल या समझ की जरूरत ही होती है।" "होती है, जरूर होती है।" जेमसन ने फरमाया था, "इस काम में भी बड़ी समझ और ट्रेनिंग की जरूरत है।"

आखिर में जब टुगेला नदी के किनारे जनरल बुलर की फौजें बुरी तरह पिटने लगीं और अंग्रेज सैनिकों के हौसले काफ़ी पस्त हो चले तब कहीं भारतीयों को एक एंबुलेंस टुकड़ी बनाने की आज्ञा मिली। इस टुकड़ी में लगभग ११०० आदमी थे। इंडियन एंग्लिकन मिशन के डाक्टर बूथ इसके मेडिकल सुपरिंटेंडेंट थे, लेकिन वास्तव में तो गांधीजी ही इसके नायक और नेता थे। पहली बार इस टुकड़ी को कौलेंसो के मोर्चे पर मैदान में भेजा

गया, जहां इसने एक सप्ताह तक खूब कड़ी मेहनत की। वहां से इसे स्पियां-कोप की लड़ाई में भेजा गया, जहां इसने तीन सप्ताह काम किया। इस एंबुलेंस टुकड़ी के जवान 'बैरा' कहलाते थे, क्योंकि उनका काम तोप-बंदूक की मार की हद से बाहर घायलों को उठाना और पैदल ढोकर पच्चीस मील दूर छावनी के अस्पताल में पहुंचाना था। इकरार के अनुसार इनसे मार की हद में काम करने के लिए नहीं कहा जा सकता था, लेकिन फिर भी कई ऐसे मौके आये जब ऐसा अनुरोध किया गया और इन्होंने मार की हद में जाकर भी खुशी-खुशी काम किया।

उस लड़ाई में सेवारत गांधीजी का 'प्रिटोरिया न्यूज' के संपादक मि० विअर स्टेंट ने जो स्फूर्तिदायक शब्द-चित्र अपने अखबार में छापा था, उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—"सारी रात की कड़ी मेहनत के बाद, जिसने कई तगड़े जवानों को ढीला कर दिया था, बड़े सवेरे मेरी भेंट मि० गांधी से हुई। वह सड़क के किनारे बैठे हुए राशन के फौजी बिस्कुट का कलेवा कर रहे थे। उस दिन जनरज बुलर की फौज का हर आदमी थका-मांदा, सुस्त और निराश था, और सारी दुनिया को कोस रहा था। अकेले गांधीजी ही प्रसन्न, अविचलित और संतुलित थे; उनकी वाणी में आत्मविश्वास की झलक और आंखों में करुणा की ज्योति जगमगा रही थी।"

जनरल बुलर ने भारतीय एंबुलेंस टुकड़ी के काम की अपने खरीते में तारीफ की और उसके सैंतीस 'मुखियों' को युद्ध के तमगे दिये गए। अंग्रेजों द्वारा बोअर-युद्ध की विजय में भारतीयों की इस सहायता को नगण्य ही गिना जायगा, पूछे जाने पर स्वयं गांधीजी ने भी शायद यही कहा होता; लेकिन फिर भी अल्पमत के दबे-कुचले लोगों का यह प्रयत्न काफी प्रशंसनीय था और इसकी खूब सराहना की गई। गोरे अखबारों ने तो भारतीयों की प्रशंसा में गीत-प्रशस्तियां भी लिखीं और उन्हें 'साम्राज्य के सुपुत्र' तक कहा। गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद देनेवाले गोरों में तो जनवरी १८९७ में डरबन में उनपर घातक हमला करनेवाले भारतीय-विरोधी प्रदर्शन के कई सरगना भी थे।

जब लड़ाई के आखरी नतीजे के बारे में कोई सन्देह नहीं रह गया, तो गांधीजी ने भारत लौट जाने का फैसला किया, क्योंकि उनके विचार में

दक्षिण अफ्रीका की राजनैतिक परिस्थिति में काफी अच्छा परिवर्तन हो चुका था। लेकिन नेटाल के भारतीय उन्हें आसानी से क्यों छोड़ने लगे। आखिर इस शर्त पर इजाजत मिली कि साल-भर के अन्दर अगर उनकी जरूरत मालूम हुई तो उन्हें दक्षिण अफ्रीका लौट आना होगा।

१९०१ के आखिर में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के ऐन मौके पर गांधीजी भारत में बम्बई के बन्दरगाह पर उतरे। कलकत्ता-कांग्रेस के बाद वह एक महीने तक गोखले के साथ रहे। १८९६ में दोनों की पहली मुलाकात हुई थी और गोखले तभीसे गांधीजी की गतिविधियों में दिलचस्पी लेते रहे थे। वह गांधीजी को भारतीय राजनीति में लाना चाहते थे। दोनों एक-दूसरे का बड़ा आदर करते थे। गोखले गांधीजी की ईमानदारी, लगन और काम करने के ढंग से प्रभावित थे, तो गांधीजी गोखले की लोक-सेवा और देश-भक्ति पर निछावर।

गोखले की बड़ी इच्छा थी कि गांधीजी बम्बई में बस जायं, वहीं वकालत करें और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यों में उनकी मदद करें, इसलिए वह कुछ समय राजकोट में वकालत करने के बाद बम्बई चले आये। उन्होंने सांता क्रुज में एक अच्छा-सा बंगला किराये पर ले लिया और थोड़े दिनों में काफी अच्छी वकालत भी जमा ली। गोखले बड़े खुश हुए; उस समय प्रतिभा के धनी और निष्ठावान देशसेवकों की बड़ी कमी थी। गांधीजी-जैसे सुयोग्य, उत्साही और लगनशील कार्यकर्ता को पाकर कौन खुश न होता! लेकिन गांधीजी और गोखले की सारी योजनाएं धरी रह गईं। दक्षिण अफ्रीका से गांधीजी की बुलाहट का तार आ गया; संकट में घिरे प्रवासी भारतीयों ने उन्हें अपना नेतृत्व करने के लिए तुरंत बुला भेजा था।

इंग्लैंड के उपनिवेश मंत्री मि० चेंबरलेन दक्षिण अफ्रीका के दौरे पर आ रहे थे; वहां के प्रवासी भारतीय उन्हें अपनी नई-पुरानी शिकायतें सुनाना चाहते थे, इसीलिए गांधीजी को तत्काल बुलाया गया था।

बोअर-युद्ध के खत्म होने पर ब्रिटिश सरकार ने वहां के कायदे-कानून की जांच-पड़ताल के लिए एक समिति बिठा दी थी और उसे यह काम सौंपा गया था कि जो भी नियम-कानून ब्रिटिश विधान से मेल न खाते हों और

महारानी विक्टोरिया की प्रजा के नागरिक अधिकारों में बाधक हों, उन्हें रद्द कर दिया जाय। समिति ने 'महारानी विक्टोरिया की प्रजा' का अर्थ सिर्फ 'गोरी प्रजा' किया, इसलिए प्रवासी भारतीयों के अधिकारों का नये सुधारों में कहीं जिक्र भी नहीं हुआ। उलटे बोअरों के राज्य में जितने भी भारतीय-विरोधी कानून-कायदे थे, उन सबको नये सिरे से एक अलग नियम-संहिता में समेटकर रख दिया।

जब गांधीजी १९०२ के दिसम्बर महीने में डरबन पहुंचे तो हालत यह थी कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को नेटाल में अपनी पुरानी जंजीरें ही नहीं तोड़नी थीं, ट्रांसवाल में गढ़ी गई नई जंजीरों से भी आज़ाद होना था। गांधीजी के नेतृत्व में नेटाल के भारतीयों का एक प्रतिनिधि-मंडल डरबन में उपनिवेश-मंत्री मि० चेंबरलेन से मिला। उन्होंने यथानियम भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की सारी बातें बड़ी शांति और सहानुभूति से सुनीं, और अंत में यह सलाह दी कि उपनिवेश तो स्वराज्य-भोगी हैं, अपने घरेलू मामलों में आजाद हैं, आपको यहां के गोरों से ही समझौता करना चाहिए।

गांधीजी को जिस काम के लिए भारत से बुलाया गया था वह पूरा होगया। अब वह चाहते तो भारत लौट सकते थे। परिवार, जमे-जमाये धन्धे और भारत के सार्वजनिक राजनैतिक कार्य का खिचाव भी कम नहीं था। लेकिन दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का संकट इतना बड़ा और विकट और गांधीजी पर उनका विश्वास इतना अधिक और दृढ़ था कि लौट जाने का गांधीजी का मन नहीं हुआ, वह वहीं रुक गये। १८९३ में गांधी-जी एक साल के लिए दक्षिण अफ्रीका आये थे और आठ बरस तक रह गये; १९०२ में वह छह महीने के लिए आये और लौटकर जाने में बारह बरस लग गये। "जबतक घिरे हुए बादल बिखर नहीं जाते या सारी कोशिश के बावजूद और अधिक उमड़कर फट नहीं पड़ते" तबतक दक्षिण अफ्रीका में रहने का गांधीजी ने फैसला कर लिया।

ट्रांसवाल की बड़ी अदालत में वकालत की सनद लेकर वह वहीं बस गये और इस बार उन्होंने जोहान्सबर्ग को अपनी गति-विधियों का केन्द्र बनाया।

यहां से गांधीजी के जीवन का नया अध्याय शुरू होता है। बोअर-

युद्ध में अंग्रेजों की जीत से नेटाल और ट्रांसवाल के गोरे उपनिवेशों की रंग-भेद की भारतीय-विरोधी नीतियां खत्म नहीं हुईं; उलटे और भी उग्र हो गईं। भारतीयों को गोरों की बराबरी का दर्जा पाने के ही लिए नहीं, छोटे-छोटे-से नागरिक अधिकारों को पाने और पच्चीस-तीस बरसों की तनतोड़ मेहनत से पैदा की हुई संपत्ति के बचाव के लिए भी हर कदम पर लड़ना था। फिर यह बराबरी के जोड़ों की भी लड़ाई नहीं थी, कमजोर का ताकतवर से मुकाबला था। कोई नहीं जानता था कि यह लड़ाई कितनी लम्बी होगी! इसके नेतृत्व की जिम्मेवारी अपने ऊपर ली तो गांधीजी ने मन, वचन और कर्म से अपने-आपको इस काम के लिए समर्पित कर दिया; अब उन्हें न धन्धे की परवा थी और न परिवार की। प्रवासी भारतीयों के अधिकारों और मुक्ति की लड़ाई ही उनके लिए सबकुछ थी। इस लड़ाई के दौरान उनके जीवन में जबर्दस्त परिवर्तन हुए। वे परिवर्तन केवल बाहरी रहने-जीने के ढंग तक सीमित नहीं रहे, उन्होंने गांधीजी के अन्तर को, विचारों और विश्वासों को यहांतक कि सारे मूल्य-बोध को ही बदल दिया। एक नई दृष्टि, एक नया दर्शन और नये मूल्य-बोध उन्होंने ग्रहण किये।

इस परिवर्तन की कहानी रसप्रद भी है और बोधप्रद भी। यह नैतिक और आत्मिक शक्ति के उन स्रोतों की ओर इंगित करती है, जिनकी बदौलत गांधीजी दो महाद्वीपों के जन-जीवन में इतना अद्भुत और अपूर्व कार्य कर सके

: ८ :

धार्मिक जिज्ञासा

गांधीजी के पिता करमचन्द संसारी आदमी थे। धर्म और अध्यात्म में उनकी कोई खास गति नहीं थी। उस जमाने में उनके वर्ग के लोगों का धर्म से जितना वास्ता हो सकता था, उनका भी था। बीमार पड़ने पर हिंदू पंडितों, जैन मुनियों, पारसी दरवेशों और मुस्लिम औलियों को घर

बुलाकर वह उनसे धर्म-चर्चा और वाद-विवाद सुना करते। बचपन में बीमार पिता की तीमारदारी के समय गांधीजी को भी उन चर्चाओं और बहसों को सुनने का मौका मिल जाया करता। उस उम्र में धर्म और अध्यात्म की ऊंची बातें तो जरूर उनकी समझ में नहीं आती थीं, परंतु कई धर्मों के विद्वानों को साथ बैठकर मैत्रीपूर्ण ढंग से चर्चा करते देख धार्मिक सहिष्णुता की छाप बालक गांधी के मन पर जरूर पड़ती थी।

गांधीजी की माता पुतलीबाई धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। साल के बारहों महीने के तीसों दिन वह किसी-न-किसी व्रत, अनुष्ठान और उपवास में लगी रहती थीं। लेकिन फिर भी गांधीजी के परिवार में धर्म की नियमित शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। गांधीजी-जैसे नीति और धर्म के घोर जिज्ञासु बालक के लिए यह अभाव घोर कमी थी। धर्म के बाहरी आडंबर और दिखावे से उन्हें ज़रा भी संतोष नहीं होता था। एक बार घर में पिताजी की पुस्तकों में मनुस्मृति की पोथी उनके हाथ लग गई। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन पढ़ा तो वह उन्हें सही नहीं लगा। लेकिन उनकी शंकाओं का समाधान करनेवाला कोई नहीं था। घर में मांस खाना बुरा समझा जाता था, उसपर रोक लगी हुई थी, लेकिन स्मृतिकार मनु उसका समर्थन कर रहा था; यह बात उनके संदेहों और परेशानी को और बढ़ा देती थी। इस सबका लाजिमी तौर पर यह नतीजा हुआ कि धर्म और ईश्वर में उनका विश्वास कम होता चला गया।

उन्नीस वर्ष की उम्र में जब गांधीजी लंदन पहुंचे तो हिंदू धर्म-संबंधी उनका ज्ञान स्वल्प था। उन्होंने बड़ी लज्जा के साथ इस बात को स्वीकार किया है कि अपने थियोसोफिस्ट मित्रों के आग्रह पर सर एडविन आर्नाल्ड-कृत भगवद्गीता के अंग्रेज़ी अनुवाद 'दिव्य संगीत' को पढ़ने तक गीता को उन्होंने न तो संस्कृत में पढ़ा था और न अपनी मातृभाषा गुजराती में ही। अपने जीवन की मूल प्रेरणा और पथ-प्रदर्शिका गीता से उनका पहला परिचय 'दिव्य संगीत' के ही रूप में हुआ था। सर एडविन की दूसरी पुस्तक 'एशिया की ज्योति'—गौतम बुद्ध की जीवन-कथा—का भी उनपर काफी प्रभाव पड़ा; बुद्ध के त्याग और उपदेशों ने उन्हें अभिभूत कर दिया था।

गांधीजी थियोसोफिकल सोसाइटी के सदस्य तो नहीं बने, लेकिन

ही समाप्त हो चुकी थी। उन्होंने हिंदू धर्म के साथ-साथ दूसरे सभी धर्मों का अध्ययन-मनन किया और अंत में इस निर्णय पर पहुंचे कि धर्म सभी अच्छे हैं, लेकिन साथ ही अपूर्ण भी हैं, क्योंकि "उनकी व्याख्या या तो ठीक से नहीं की गई, या वेमन से की गई और अकसर गलत भी की गई।" इस्लाम से उनका परिचय कार्लाइल की पुस्तक 'विभूतियां और विभूति पूजा' (हीरोज एंड हीरोवरशिप) के एक लेख 'वीर पैगम्बर' (हीरो एज़ प्रोफ़ेट) के द्वारा हुआ। उन्होंने कुरान का अंग्रेजी अनुवाद और वाशिंगटन इरविंग की लिखी पैगम्बर हज़रत मुहम्मद की जीवनी भी पढ़ी। मुहम्मद साहब की गरीबी और विनम्रता और जिस साहस से उन्होंने और उनके शुरू के अनुयायियों ने कठिनाइयों एवं अपमानों का सामना किया था, उस सबका गांधीजी पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा।

ईसाई धर्म और इस्लाम-संबंधी किताबें तो दक्षिण अफ्रीका में ही मिल जाती थीं, लेकिन हिंदू धर्म की पुस्तकें उन्हें भारत से मंगवानी पड़ती थीं। धार्मिक विषयों पर वह अपने मित्र रायचंद भाई के साथ पत्र-व्यवहार भी करते थे। रायचंद भाई उन्हें धीरज रखने और गंभीर अध्ययन के द्वारा हिंदू धर्म के सूक्ष्म और गूढ़ विचारों को समझने, उसकी स्पष्टता को आत्मसात करने और आत्म-साक्षात्कार की सलाह देते रहते थे। जब गांधीजी के ईसाई मित्र उन्हें बप्तिता पढ़ाने की कोशिशों में लगे हुए थे, रायचंद भाई के विद्वत्तापूर्ण पत्रों ने ही अन्तिम रूप से हिंदू धर्म में उनकी श्रद्धा को दृढ़ किया।

लेकिन उनके जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करनेवाली पुस्तक थी भगवद्गीता। दक्षिण अफ्रीका में विभिन्न टीकाओं के साथ उन्होंने इसे मूल संस्कृत में भी पढ़ा और फिर रोज नियम से इसका परायण करने लगे। एक-एक श्लोक रोज सवेरे स्नान के समय कंठस्थ करते-करते उन्हें पूरी गीता जबानी याद हो गई। गीता गांधीजी की 'मार्गदर्शिका', 'आचरण संहिता', 'धर्म-कोश', 'आत्मिक प्रेरणा का स्रोत', और 'संकट में सच्चा मित्र और सहायक' थी। स्वयं उन्हींके शब्दों में "जब मुझे प्रकाश की एक किरण भी कहीं दिखाई नहीं देती, मैं उसे भगवद्गीता में खोजता हूं और उसके किसी श्लोक में निहित आशा का संदेश मेरे भारी-से-भारी दुःख को चुटकियां बजाते दूर कर देता है। अनंत दुःख, कष्ट और आपदाओं से भरे

अपने इस जीवन में जो स्थिर और अविचलित रह सका हूं उसका सारा श्रेय भगवद्गीता को ही है।'[1]

गीता के दो शब्द 'अपरिग्रह' और 'समभाव' में गांधीजी को आत्म-विकास की अनंत संभावनाएं दिखाई दीं। 'अपरिग्रह' का अर्थ है आत्मा के लिए भार स्वरूप सभी भौतिक वस्तुओं का परित्याग; धन, संपत्ति और विषयेपणा से छुटकारा; और जिसे छोड़ा न जा सके स्वयं को उसका ट्रस्टी समझकर आचरण करना, न कि मालिक बन बैठना। 'समभाव' का अर्थ है सुख और दुःख में, हार और जीत में मन की एक-सी वृत्ति; और सफलता की आशा एवं असफलता की आशंका से परे होकर अपना काम करते जाना, जैसाकि गीता में कहा है, 'फल में आसक्त हुए बिना काम करना' (कर्मण्ये-वाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन)। समभाव को अपना कर ही गांधीजी "बदतमीज, "मगरूर और भ्रष्ट अधिकारियों, व्यर्थ का विरोध और वितंडा करनेवाले कल के सहकर्मियों और जिन्होंने हमेशा भलाई ही की ऐसे सभी तरह के लोगों" के साथ एक-जैसा व्यवहार कर सके। कई बरसों के बाद उन्होंने ईसाई मिशनरियों के एक दल से कहा था, "हिंदू धर्म, जिस रूप में मैं उसे समझ सका हूं, मेरी आत्मा को संतुष्ट और परिपूर्ण करनेवाला है और भगवद्गीता में मुझे जो शांति मिलती है वह तो मैं बाइबिल के गिरिप्रवचन में भी नहीं पाता।"

प्राणी-मात्र एक है, सभी जीव ईश्वर के अवतंस हैं—हिंदू धर्म के इस प्रचलित विश्वास ने ही अहिंसा में गांधीजी की आस्था को दृढ़ किया। लेकिन हिंदुओं के किसी अन्धविश्वास और किसी मिथ्या रूढ़ि का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। वह हर धर्म की हर बात को तर्क की कसौटीपर परखा करते थे। अमानवीय और अन्यायपूर्ण प्रथाओं के समर्थन में धर्म-ग्रंथों के किसी प्रमाण को उन्होंने कभी सच नहीं माना—ऐसी सभी प्रथाओं का वह सदा विरोध ही करते रहे। स्त्रियों की स्वाधीनता और अधिकारों का निषेध करनेवाली मनुस्मृति की व्यवस्था को गांधीजी क्षेपक—बाद में

---

१. नटेसन : महात्मा गांधी के लेख और भाषण (अंग्रेजी); मद्रास (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ १०६१

जोड़ी हुई मानते थे, या यह कि मनु के युग में नारियों को अपना उचित पद मिल नहीं पाया था। वेद की ऋचाओं का हवाला देकर अस्पृश्यता का समर्थन करनेवालों को वह सदा फटकारते रहे। उनके हिंदू धर्म का मूल तत्त्व था : सत्य-स्वरूप ईश्वर की परम सत्ता में अडिग आस्था, जीव-मात्र के साथ एकत्व का बोध और ईश्वर-साक्षात्कार के लिए प्रेम अर्थात् अहिंसा के मार्ग का अवलंबन। ऐसी दृढ़ नींव पर आधारित धर्म में संकीर्णता अथवा अन्यान्य मतों के वहिष्कार की भावना हो ही कैसे सकती है ? गांधीजी की दृष्टि में हिंदू धर्म की यही तो खूबी है कि "इसमें संसार के सभी पैगंबरों की पूजा के लिए स्थान है। यह ईसाई मिशनरियों के जैसा प्रचारवाला धर्म नहीं है...हिंदू धर्म तो अपने-अपने विश्वास या मजहब के अनुसार ईश्वर की पूजा का सबको अधिकार देता है; इसीलिए उसका किसी भी धर्म से कोई विरोध नहीं है।" लोगों को ईसाई बनाने के लिए 'अधार्मिक हथकंडे' अपनानेवाले मिशनरियों की वह भर्त्सना करते थे। उनका कहना था कि पूजा-पाठ और भजन-कीर्तन किसीको सच्चा ईसाई, सच्चा मुसलमान और सच्चा हिंदू नहीं बनाते; धर्म की सच्ची पहचान है जीवन में उसका आचरण। ईसाई धर्म-प्रचारकों की 'आत्मा के उद्धार' की बातों को वह उनकी दुराग्रहपूर्ण हठवादिता कहते थे। आसाम के नागा आदिवासियों के बारे में उनका कहना था—"मेरे पास अपनी नग्नता के सिवा और है ही क्या, जिसे लेकर उनके पास जाऊं। मेरे लिए उचित यही है कि उन्हें अपनी प्रार्थना में बुलाने के बदले खुद उनकी प्रार्थना में शरीक होऊं।"

सब धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन, धर्म-ग्रंथों के मनन और धर्माचार्यों से वार्तालाप एवं पत्र-व्यवहार करके गांधीजी अन्त में इस निर्णय पर पहुंचे थे कि सच्चे धर्म का वास्तविक संबंध हृदय से है, न कि बुद्धि से; और धर्म पर सच्ची आस्था का मतलब है उसका अक्षरशः आचरण। जिन लोगों के निकट धर्म पारस्परिक प्रेम और सहिष्णुता का नहीं घृणा का पर्याय बन गया है वे गांधीजी की धार्मिकता को कभी समझ नहीं सके और न समझ सकेंगे। उनके जीवन-काल में किसीने उन्हें सनातनी कहा तो किसीने आर्य समाजी और कइयों ने धर्म-भ्रष्ट; किसीने बौद्ध, तो किसीने थियोसोफिस्ट और किसीने ईसाई तो किसीने 'क्रिश्चियन मुसलमान।' वास्तव में

देखा जाय तो वह सभी कुछ थे और शायद इन सबसे कुछ अधिक भी थे। उन्हें विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों में एक अंतर्निहित एकता दिखाई देती थी। एक बार किसीने उन्हें ईसा के दामन में आकर अपनी आत्मा की रक्षा करने की सलाह दी तो उन्होंने जवाब दिया था, "ईश्वर किसी तिजौरी में बन्द नहीं है कि उसके पास केवल एक छोटे-से छेद के जरिए ही पहुंचा जा सके। यदि हृदय पवित्र और मन अहंकार से शून्य है तो उसके पास पहुंचने के अरबों रास्ते खुले हुए है।"[1]

: ९ :

विचारों में गंभीर परिवर्तन

"अपनी और अपने परिवार की ही हितचिंता करना और हर प्रकार की आपत्ति-विपत्ति से बचते रहना" यह था उन्हींके अपने शब्दों में 'मत-परिवर्तन' से पहले टाल्स्टाय का जीवन-दर्शन। परिवर्तन तो आगे चलकर गांधीजी के विचारों में भी हुआ, लेकिन उससे पहले भी कभी उन्होंने अपने-आपको अपनी और अपने परिवार की हितचिंता तक ही सीमित नहीं रखा। डरबन और जोहान्सवर्ग में भी उनके घर के दरवाजे सदैव सबके लिए खुले रहते थे। अपने सहायकों और क्लर्कों को उन्होंने हमेशा अपने साथ और परिवार के सदस्यों की ही तरह रखा। इसके अलावा रोज घर में कोई-न-कोई भारतीय या यूरोपियन मेहमान भी अक्सर बना रहता था। लेकिन गांधीजी के घर में कभी किसीके साथ भेद-भाव नहीं बरता गया। परायों, और मेहमानों की यह भीड़-भाड़ कस्तूरबा के लिए अक्सर कष्टदायी हो जाया करती थी। अपनी 'आत्मकथा' में गांधीजी ने कुछ विस्तार से उस प्रसंग का वर्णन किया है, जब कस्तूरबा ने पंचम (अछूत) जाति के एक मदरासी ईसाई क्लर्क का पेशाब का बरतन उठाने से इनकार कर दिया

---

[1] महादेवभाई की डायरी (अंग्रेजी संस्करण), खंड १; ४ सितम्बर, १९३२ का उल्लेख।

था। गांधीजी का आग्रह था कि यह काम कस्तूरबा को करना चाहिए और प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए, अन्यथा वह घर से निकल जायं। अपने क्रोध और नैतिक जोश में उस समय गांधीजी को इस बात का खयाल भी नहीं रहा कि उनका ऐसा आग्रह कस्तूरवा के लिए कितना कष्टदायी हो सकता है। कई वर्षों वाद उन्होंने स्वीकार किया कि वह उस समय 'जानलेवा प्रेमी पति' थे।

वाद में गांधीजी ने जिन्हें 'सुख-चैन' के दिन कहा, उन दिनों भी धन कमाना कभी उनका लक्ष्य नहीं रहा। एक होनहार बैरिस्टर के नाते वह वकालत में यशस्वी होना और परिवार की आर्थिक सहायता करना तो अवश्य चाहते थे, लेकिन अनीति को अपनाकर आमदनी बढ़ाने को ज़रा भी तैयार नहीं थे। जब उनसे कहा गया कि तीन-चार हज़ार महीना कमानेवाले नामी-गिरामी वकील भी मुकदमे पाने के लिए दलाली देते हैं, तो उन्होंने जवाब दिया था, "मुझे कहां उनकी बराबरी करना है! मुझे तो हर महीने तीनसौ रुपये मिल जायं तो बहुत हैं। पिताजी को इससे अधिक कहां मिलते थे?" शुरू-शुरू में तो उनकी यह हालत हुई कि वंबई के एक स्कूल में पचहत्तर रुपये महीने पर घंटा-भर पढ़ाने के लिए तैयार हो गये थे। उनकी वैरिस्टरी का सितारा तो दक्षिण अफ्रीका में जाने पर ही चमका। १८९४ में वह वहां सिर्फ तीनसौ पौंड के वर्षासन में रहने को राज़ी हुए थे; लेकिन धीरे-धीरे उनकी आय बढ़ती गई और वार्षिक पांच हजार पौंड हो गई। यह सच है कि उनके सार्वजनिक और राजनैतिक कार्यों ने उनकी वकालत को जमाने और बढ़ाने में काफी मदद की, लेकिन साथ ही इन कामों में उनका बहुत-सा समय भी लग जाता था। फिर वह सब मुकदमे लेते भी नहीं थे। यदि मुवक्किल का पक्ष सच्चा न होता तो वह उसका मुकदमा लड़ने से साफ इनकार कर देते थे। यहांतक कि विचाराधीन मुकदमे में भी अगर उन्हें यह पता चल जाता कि मुवक्किल ने असलियत को छिपाकर झूठी बात बताई है तो वह भरी अदालत में उस मुकदमे से अपना हाथ खींच लेते थे। बचपन की मामूली-सी चोरी का अपना पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त-स्वरूप सच्चे मन से उसे स्वीकार करने पर पिताजी की उदार क्षमाशीलता की छाप गांधीजी के हृदय पर अमिट रूप से अंकित हो गई

थी और उनका दृढ़ विश्वास हो गया था कि हर गलती को मान लेना और उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए। पारसी रुस्तमजी डरबन के प्रसिद्ध अमीर व्यापारी और गांधीजी के घनिष्ठ मित्र थे। एक बार वह चुंगी-चोरी के मामले में फंस गये और गांधीजी से सलाह लेने के लिए आये। बचाव के काग़ज़-पत्र तैयार करने के बदले गांधीजी ने उन्हें चुंगी-चोरी ही नहीं अपनी दूसरी सारी चोरियों को स्वीकार कर जुर्माने की रकमसहित पूरा कर स्वेच्छा से चुकाने की सलाह दी। इतना ही नहीं, गांधीजी के अनुरोध पर रुस्तमजी ने प्रायश्चित्त स्वरूप चुंगी-चोरी की कहानी लिखकर शीशे में मढ़वा ली और अपने दफ्तर में टंगवा दी, जिससे उनके वारिसों को शिक्षा मिलती रहे।

गांधीजी से अधिक योग्य और धनी वकीलों की उनके समकालीनों में कमी नहीं थी, लेकिन वकालत में उनके जैसी मानवीय उदारता शायद ही किसीमें होगी। मेहनताना मार जानेवाले मुवक्किलों को उन्होंने वसूली के लिए कभी अदालत में नहीं घसीटा; आदमी को परखने में अपनी भूल को ही वह इस तरह के नुकसान के लिए जिम्मेवार समझते थे। एक बार अपने किसी साथी वकील की इस शिकायत का कि मुवक्किल रविवार के दिन भी चैन नहीं लेने देते, गांधीजी ने यह जवाब दिया था, "दुःखियों के लिए तो रविवार को भी चैन नहीं हुआ करता।"

गांधीजी उन दिनों डरबन की अदालत में वकालत करते थे। एक दिन वह कमीज पर जो कालर लगाकर गये उसमें से मांड़ी झड़ रही थी। वकीलों को उनकी हँसी उड़ाने का अच्छा मसाला मिल गया। वह कालर किसी धोबी की लापरवा धुलाई का नतीजा नहीं था। असल में गांधीजी ने पहली बार खुद अपने हाथों कपड़े धोये थे और वह कालर उन्हींकी धुलाई-कला का पहला नमूना था। इसी तरह एक बार उनके बेतरतीब कटे-छंटे बालों को देखकर उनके साथी वकील हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये थे। तब गांधीजी ने उन्हें बताया कि गोरे नाई ने बाल काटने से इनकार कर दिया, इसलिए स्वयं उन्हें अपने हाथों बाल काटने पड़े हैं। सादगी, स्वावलंबन और सेवा की दिशा में धुलाई और हज्जामगिरी ही नहीं, उन्होंने कंपाउंडरी भी सीखी। एक धर्मादा अस्पताल में बाकायदा कंपाउंडरी सीख-

कर वह दक्षिणी अफ्रीका के सबसे गरीब भारतीय गिरमिटिया मजदूरों की सेवा करने लगे। इतना ही नहीं, किताबों से उन्होंने दाई और प्रसव का काम भी सीखा और अपने अंतिम बच्चे के जन्म के समय प्रसव-संबंधी सारे काम खुद ही किये। नाई, धोबी, कंपाउंडर और दाई के अलावा वह स्कूल-मास्टर भी थे। गोरों के लिए खुले हुए स्कूलों में यद्यपि वह अपने बच्चों को भेज सकते थे, लेकिन दूसरे भारतीय बच्चे वहां पढ़ नहीं सकते थे। जो अधिकार सब भारतीय बच्चों को नहीं उसका अकेले अपने बच्चों के लिए उपयोग करना गांधीजी को उचित नहीं लगा। वह अपने बच्चों को खुद पढ़ाने लगे। जोहान्सबर्ग में घर से दफ्तर आने-जाने में जो दस मील का फासला होता था, उसमें गांधीजी बच्चों को साथ ले लेते और पैदल चलते हुए बात-चीत में जो-कुछ सिखाया-पढ़ाया जा सकता था, उन्हें सिखाते-पढ़ाते। लेकिन यह क्रम भी रोज निभ नहीं पाता था। जिस दिन कोई मुवक्किल या कोई सहकर्मी साथ हो लेता उस दिन पढ़ाई की छुट्टी हो जाती थी। बच्चों की मां इस तरह की पढ़ाई का बराबर विरोध करती; लेकिन गांधीजी अपने बच्चों को गोरों के स्कूल में भेजने को राजी ही न थे।

१९०४ में तो सादगी की यह धुन अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गई। उस वर्ष एक दिन शाम को गांधीजी जोहान्सबर्ग से डरबन जाने के लिए रेल में सवार हुए तो उनके पत्रकार मित्र मि० पोलक ने रस्किन की एक किताब 'अंटु दिस लास्ट'[1] उन्हें पढ़ने के लिए दी। गांधीजी ने किताब शुरू की तो उसमें ऐसा मन रमा कि सारी रात बैठे पढ़ते रहे और उसे समाप्त करके ही छोड़ा। इस पुस्तक में रस्किन ने परंपरागत अर्थशास्त्रियों को इसलिए आड़े हाथों लिया है कि वे कभी मानव-कल्याण की दृष्टि से अर्थशास्त्र पर विचार नहीं करते और औद्योगीकरण की इसलिए बुराई की है कि वह अपने साथ गरीबी और सामाजिक अन्याय को लाता और पनपाता है। रस्किन के इन और ऐसे ही दूसरे विचारों ने गांधीजी के मन में गहरी उथल-पुथल मचा दी और उनके सारे दृष्टिकोण को ही बदल दिया। खास

---

[1] इसका हिंदी अनुवाद 'सर्वोदय' के नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हुआ है। गांधीजी ने स्वयं इसका अनुवाद गुजराती में 'सर्वोदय' के ही नाम से किया था।

तौर पर रस्किन ने अपनी इस पुस्तक में शारीरिक श्रम की महत्तावाले सादे जीवन का जो आदर्श पेश किया था। उससे गांधीजी बहुत ही प्रभावित हुए। इस पुस्तक के बारे में वह अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, "जो चीज मुझमें गहराई से भरी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किन के इस ग्रंथरत्न में देखा।"

दूसरे दिन शाम को जब रेलगाड़ी डरबन पहुंची तो गांधीजी रस्किन के विचारों को अमल में लाने का इरादा पक्का कर चुके थे। डरबन में 'इंडियन ओपिनियन' प्रेस के गोरे प्रबंधक और अपने मित्र मि० एलबर्ट वेस्ट के साथ गांधीजी ने प्रेस को एक खेत पर ले जाने की योजना बनाई, जिससे प्रेस और पत्र से संबंधित सारे लोग सही अर्थों में पसीने की कमाई पर जीवन-यापन कर सकें। गन्ने के खेतों के बीच सौ एकड़ जमीन का एक टुकड़ा एक हजार पौंड में खरीदा गया। उसमें नन्हा-सा पानी का झरना था, फलों के कई पेड़ थे और सांपों का घोर उपद्रव भी था। वह जमीन फिनिक्स स्टेशन से ढाई मील और डरबन से तेरह मील के फासले पर थी। इस संस्था के पहले निवासियों में सर्वश्री पोलक और वेस्ट के अतिरिक्त गांधीजी के कुछ चचेरे भाई और भतीजे भी थे, जो उन्हींके साथ भारत से दक्षिण अफ्रीका आये थे। प्रेस के लिए पचहत्तर फुट लंबा और पचास फुट चौड़ा एक छप्परनुमा हाल बनाया गया और संस्थावासियों के रहने के लिए नालीदार चद्दरों की दीवारों और छतोंवाले आठेक मकान, बल्कि कहना चाहिए कि कमरे खड़े कर लिये गए।

अब 'इंडियन ओपिनियन' फिनिक्स से निकलने लगा। पत्र की छपाई और ग्राहकों को भेजे जानेवाले दिन उस बस्ती में काम की धूम मची रहती। गांधीजी और मि० पोलक प्रूफ जांचने का काम करते थे, प्रिंटर मशीन पर छपाई करते और बच्चे छपे पन्नों की भंजाई और एक-एक अखबार को लपेटने के काम में जुट जाते थे।

गांधीजी की कुटिया फिनिक्स बस्ती के सामूहिक जीवन की धुरी थी। हर रविवार को सारे संस्थावासी उनके कमरे में प्रार्थना के लिए इकट्ठा होते। गीता और बाइबिल का पारायण होता, ईसाइयों के प्रार्थना गीत और गुजराती भजन गाये जाते और थोड़ी देर के लिए लोग-बाग

वर्ण और जाति के भेद-भावों को भुलाकर इस धरती से परे किसी ऊंचे धरातल पर पहुंच जाया करते थे। गांधीजी के लिए तो यह शहर के भीड़-भड़क्के, लोभ-लालच और नफरत से दूर मनचाहा शांत और एकांत स्थान था। यहां वह अपने-जैसे विचारवालों के साथ मिल-जुलकर शारीरिक परिश्रम करते हुए अपनी आत्मिक उन्नति के उपायों पर मजे से चिंतन-मनन कर सकते थे।

लेकिन गांधीजी के लिए फिनिक्स में रहने का सुख-संतोष अधिक दिन बदा नहीं था। उनके जिम्मे सार्वजनिक और वकालत के दोनों ही काम इतने अधिक थे कि जोहान्सवर्ग लौटना जरूरी हो गया। जोहान्सवर्ग में गांधीजी के घर और उसके निवासियों का श्रीमती मिली ग्राहम पोलक ने अपनी पुस्तक 'गांधी : दि मैन'[१] में काफी विचार से और रोचक वर्णन किया है। ये गोरी महिला मिस्टर पोलक की धर्मपत्नी थीं और उन दिनों दोनों पति-पत्नी गांधीजी के साथ ही उनके घर में रहते थे। वह घर सामुदायिक जीवन का एक छोटा-सा नमूना ही था। उदारमना गांधीजी उस परिवार के कर्त्ता अथवा कुलपति थे। परिवार के सभी सदस्यों की सुख-सुविधा का खयाल रखने के अलावा और कोई विशेषाधिकार उन्होंने अपने लिए माना नहीं था। वह हमेशा खुश रहते और दूसरों को खुश रखते थे। प्रतिदिन सवेरे घर के बच्चे हाथचक्की से आटा पीसने में अपने माता-पिता का हाथ बंटाते और उनकी प्रसन्न किलकारियों और कहकहों से घर गूंज जाया करता था। शाम को भोजन का समय तो और भी आनंददायी होता। हँसी-मजाक और साधारण बातचीत के बीच गंभीर चर्चा भी चलती रहती और कस्तूरबा के अल्प अंग्रेजी ज्ञान से लोगों का मनोरंजन हो जाता था। भोजन के बाद गांधीजी धर्म और दर्शन के गूढ तत्त्वों पर प्रवचन करते और गीता पढ़कर सुनाते थे।

गांधीजी का उस काल का बड़ा ही भावपूर्ण व्यक्ति-चित्रण उनके पहले जीवनी लेखक, जोहान्सबर्ग के बैप्टिस्ट मतावलंबी पादरी, जोसेफ जे० डोक

---

१ 'मानव गांधी'

ने अपनी पुस्तक 'एम० के० गांधी'[1] में किया है। वह गांधीजी से पहले-पहल दिसंबर १९०७ में मिले थे, और लिखते हैं—

"...अपने सामने एक छोटे, दुबले-पतले पर फुर्तीले आदमी को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। चेहरे से वह सुसंस्कृत लगता था और मेरी ओर उत्सुकता से देख रहा था। उसकी त्वचा का रंग काला था और आंखें भी काली थीं, लेकिन उसके चेहरे को आलोकित करनेवाली वह मुस्कराहट और उसकी वह सीधी निर्भय दृष्टि सामनेवाले के दिल को बरबस ही जीते ले रही थी। उसकी उम्र के बारे में मेरा अंदाज बिलकुल सही निकला। वह ठीक अड़तीस बरस का था। लेकिन काम के अतिशय बोझ और चिंताओं के कारण सिर के बाल यहां-वहां से सफेद होने लग गये थे। वह बहुत बढ़िया अंग्रेजी बोल रहा था और कुल मिलाकर बड़ा ही शालीन और सभ्य व्यक्ति मालूम पड़ता था।

"उस भारतीय नेता की ओर जिस बात ने मुझे तत्काल आकर्षित किया वह थी उसके आत्मविश्वास की दृढ़ता, हृदय की महानता और उसकी पारदर्शी निश्छलता। हम लोग पहली ही भेंट में मित्र बन गये...

"हमारे इस भारतीय मित्र का आध्यात्मिक और वैचारिक धरातल सामान्य लोगों से बहुत ऊंचा है, और दुनियादारी तो जैसे इसे छू भी नहीं गई है। इसलिए इसके कामों को अक्सर गलत समझा और सनक करार दिया जाता है। जो इससे परिचित नहीं उन्हें इसके हर काम में कोई-न-कोई बुरा हेतु अथवा यों कहें कि 'पूरबवासियों की मक्कारी' छिपी नज़र आती है। लेकिन जो जानते हैं वे तो इसके आगे शर्म से पानी-पानी हो जाते हैं।

"जहांतक मैं जान सका हूं, रुपये-पैसे का इसे ज़रा भी लोभ नहीं है। इस बात को लेकर इसके देशवासी इससे बहुत असंतुष्ट हैं और उनकी शिकायत है कि यह कुछ भी नहीं लेता। उनका कहना है कि अपने प्रतिनिधि के रूप में इंग्लैंड जाने के लिए हमने इसे जो पैसा दिया था उसे यह बिना खर्च किये ही लौटा लाया; नेटाल में हमने इसे भेंट में जो वस्तुएं दी थीं, उन्हें इसने हमारे सार्वजनिक कोष में जमा कर दिया। इसे गरीबी पसंद है और यह गरीब ही रहना चाहता है।

[1] डोक, जोसेफ जे०; 'एम० के० गांधी'; मदरास, पृष्ठ ६-८।

"उन लोगों को इसकी अद्‌भुत निःस्वार्थता पर आश्चर्य होता है, गुस्सा आता है और साथ ही वे इसे प्यार भी करते हैं—वह प्यार जो इसपर उनके विश्वास और गर्व का द्योतक है। यह उन असाधारण व्यक्तियों में से हैं, जिनके सत्संग से ज्ञान की वृद्धि होती है और परिचय से जिनके प्रति प्रेम और भक्ति प्रस्फुटित होती है।"

: १० :

सत्याग्रह की खोज

जैसा कि सर एलन बर्न्स[1] ने कहा है, दक्षिण अफ्रीका की घरेलू नीति का ह्रास होते-होते वह उस 'गरीब गोरे' की हिमायत-भर रह गई, जो रंगीन जातियों को अपमानित और अपदस्थ करनेवाली शासन-प्रणाली की ही उपज है। संस्कृतियों के अन्तर और रहन-सहन के तरीकों के वे-मेल होने की बड़ी-बड़ी बातें तो सिर्फ ऊपरी दिखावा है, असली कारण तो रहा है गोरों और कालों की आर्थिक प्रतिद्वंद्विता। १९१९ के भारतीय सुधारों में दोअमली शासन-पद्धति (डायर्की) की खोज और प्रचार करनेवालों में प्रमुख लायनल कर्टिस १९०३ में ट्रांसवाल में अधिकारी था। गांधीजी के साथ अपने एक वार्तालाप के बारे में उसका कहना है—

"उन्होंने (गांधीजी) मुझे अपने देशवासियों की अच्छाइयां—मेहनती स्वभाव, किफायतशारी, सहनशीलता आदि बताना शुरू किया। मुझे याद है कि उनकी बात सुन लेने के बाद मैंने कहा था, 'मि० गांधी, आप नाहक जागे हुए को जगाने की कोशिश कर रहे हैं। इस देश के गोरों को भारतीयों के दुर्गुणों से ज़रा भी डर नहीं लगता, हमें असली डर तो आप लोगों की अच्छाइयों से है।"[2]

---

[1] बर्न्स, सर एलन : 'कलर प्रेजूडिस' (वर्ण-विद्वेष), लंदन, १९४८, पृष्ठ ७३

[2] एस० राधाकृष्णन द्वारा संपादित महात्मा गांधी के जीवन और कृतित्व पर निबंध (महात्मा गांधी : एसेज़ एण्ड रिफ्लेक्शन्स ऑन हिज़ लाइफ एण्ड वर्क), लंदन, १९३९, पृष्ठ ६७।

नेटाल के जिन गोरों ने अपनी खानों और गन्ने के खेतों में काम करने के लिए खुद होकर हजारों गिरमिटिया मजदूरों को भारत से बुलवाया था, अब वे ही किसानों और व्यापारियों के रूप में एक भी स्वतंत्र भारतीय को अपने बीच में रहने देना नहीं चाहते थे। उधर बोअर-युद्ध के बाद ट्रांसवाल के गोरों ने अपने यहां "एशियावासियों के अतिक्रमण" का हौआ खड़ा कर रखा था। लेकिन वह कितना निस्सार था, इसका पता उस समिति के प्रतिवेदन से चल गया, जिसे ब्रिटिश उच्चायुक्त ने १९०५ में ट्रांसवाल में भारतीयों के चोरी-छुपे आ बसने के आरोप की सत्यता का पता लगाने के लिए नियुक्त किया था। वास्तविक स्थिति यह थी कि बोअर-युद्ध शुरू होने पर जो बहुत-से भारतीय परिवार ट्रांसवाल से चले गए थे, युद्ध की समाप्ति पर उनके लौट आने के बाद भी, १९०३ में, वहां के भारतीयों की कुल संख्या १८९९ से कम ही थी।

गोरों के इस निराधार भय को कि प्रवासी भारतीय काफी बड़ी तादाद में दक्षिण अफ्रीका में बसने के लिए घुसे चले आ रहे हैं, बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जाता था। यद्यपि गोरों का यह भय निरर्थक था, पर गांधीजी उनकी भावनाओं को समझते थे, और इसलिए उनके संदेह को निर्मूल करने के लिए भारतीय मजदूरों की आमद पर पूरी रोक लगाने तक पर राजी थे। उनका कहना था कि नये गिरमिटिया मजदूरों को भले ही न आने दिया जाय, लेकिन पढ़े-लिखे भारतीयों का सीमित संख्या में आना न रोका जाय, क्योंकि भारतीय व्यापारियों को क्लर्की और मुनीमी के कामों में ऐसे लोगों की आवश्यकता थी। दूसरे मामलों में भी गांधीजी भारतीयों और गोरों के बीच इसी तरह आधेआध पर समझौता चाहते थे। उनका कहना था कि भारतीयों के लिए लाइसेन्स लेकर व्यापार करने का नियम भले ही रहे और स्थानीय शासन ही लाइसेन्स दे, परन्तु इस काम पर देख-रेख उच्च न्यायालय की हो। जमीन की मिल्कियत और रहने की जगह के अधिकार के बारे में भारतीय स्थानीय और स्वायत्त शासन के नियमों को मानने को तैयार हैं, लेकिन वे नियम भारतीयों पर ही नहीं, गोरों पर भी, मतलब यह कि दोनों पर समान रूप से, लागू होने

चाहिए। गांधीजी ने भारतीयों के लिए मताधिकार की मांग नहीं की। दक्षिण अफ्रीका-स्थित ब्रिटिश उच्चायुक्त से उन्होंने कहा था, "हमें (भारतीयों को) राजनैतिक सत्ता नहीं चाहिए। हम केवल इतना ही चाहते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य प्रजाओं के साथ शांति और मेल-मिलाप से तथा इज्जत और आत्म-सम्मानपूर्वक हमें रहने दिया जाय।" लेकिन दक्षिण अफ्रीका के गोरे यही तो नहीं चाहते थे। जैसाकि जनरल स्मट्स ने बाद में अपनी एक घोषणा में कहा था कि सरकार ने फैसला कर लिया है कि "कितनी ही कठिनाइयां क्यों न आयें इसे गोरों का मुल्क बनाकर रहेंगे, और इस मामले में अपने इरादे से रंचमात्र भी नहीं डिगेंगे।'

लेकिन गांधीजी की समझौते की, 'जीओ और जीने दो' की यह नीति ज्यादा समय चलने न पाई। ट्रांसवाल में भारतीयों के पंजीकरण के प्रश्न को लेकर स्थिति ने एकदम विकट रूप धारण कर लिया। वहां अभी तक परवानों पर दस्तखत लेने और जो दस्तखत न कर सकें उनके अंगूठे लगवाने का नियम था। बाद में फोटू लेने और नये परवाने निकलवाने की बात और जोड़ दी गई। जब गांधीजी 'जूलू-बलवे' में साम्राज्य के एक नागरिक की हैसियत से अपना कर्त्तव्य पूरा करके लौटे तो उन्होंने पाया कि भारतीयों के पंजीकरण का तरीका बहुत ही अपमानजनक और सतानेवाला कर दिया गया है। ट्रांसवाल की धारा-सभा में पेश किये जानेवाले भारतीय पंजीकरण विधेयक का मसविदा २२ अगस्त, १९०६ के 'ट्रांसवाल गजट' में जब उन्होंने पढ़ा तो सन्न ही रह गये। ट्रांसवाल में रहनेवाले हर भारतीय पुरुष, स्त्री और आठ बरस या इससे ऊपर की उम्र के बच्चों के लिए पंजीकरण करवाना और परवाना लेना आवश्यक कर दिया गया था। हर प्रार्थी को अपनी सारी अंगुलियों और अंगूठे के निशान देना जरूरी था। छोटे बच्चों की अंगुलियों के निशान देने की जिम्मेवारी उनके माता-पिता पर डाली गई थी; अगर मां-बाप ने इस जिम्मेवारी को पूरा न किया हो तो सोलह बरस का होने पर बच्चे को स्वयं यह फर्ज अदा करना चाहिए, नहीं तो उसे जुर्माने, जेल या देशनिकाले तक की सजा दी जा सकती थी। किसी भी भारतीय से अदालत में, माल-दफ्तर में, बल्कि कहीं भी और किसी भी समय, यहांतक कि राह चलते हुए भी परवाना

दिखलाने के लिए कहा जा सकता था। परवाने की जांच के लिए पुलिस-अफसर भारतीयों के घरों में भी घुस सकते थे। इस परवाने के कानून का नामकरण 'कुत्ते के गले का पट्टा' (डाग्स् कालर) ठीक ही किया गया था। इस अपमानजनक सख्ती का कारण बताया गया था ट्रांसवाल में भारतीयों की बेतहाशा गैर-कानूनी आमद को रोकना; जबकि बेतहाशा आमद नाम की कोई चीज़ ही वहांपर नहीं थी, क्योंकि वहां प्रवेश-संबंधी कानून पहले ही काफी सख्त थे। १६०५ और १६०६ में वहां की सरकार ने डेढ़ सौ भारतीयों पर अनधिकृत प्रवेश के मुकदमे चलाकर सभीको सजा भी दी थी। एक मामले में तो गोरे मैजिस्ट्रेट ने बेचारी भारतीय पत्नी को उसके पति से जुदा कर सात घंटे के अंदर देश से निकल जाने की सजा सुनाई थी; और एक दूसरे मामले में ग्यारह बरस के बच्चे पर तीस पौंड जुरमाने या तीन महीने की कैद की सजा ठोंक दी गई थी।

सच पूछा जाय तो ट्रांसवाल के पढ़े-लिखे और संपन्न भारतीयों को अपमानित करना और उनका वहां रहना मुश्किल कर देना ही इस नये कानून का असली मन्शा था। गांधीजी को यह समझते देर न लगी कि यदि यह विधेयक पारित होकर अधिनियम बन गया और भारतीयों ने इसे स्वीकार कर लिया तो 'इस देश में उनकी हस्ती ही मिट जायगी।' उनकी राय में इस कानून के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा भारतीयों का मर-मिटना ही बेहतर था। पर मरें कैसे ? वे किस खतरे में कूदें या कूदने का साहस करें कि उनके सामने विजय या मृत्यु इन दो के सिवा तीसरा रास्ता रह ही न जाय ? गांधीजी के सामने ऐसी संगीन दीवार खड़ी होगई कि उन्हें कोई रास्ता ही नहीं सुझाई दिया।

इस प्रकार १६०६ की सर्दियों में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का भविष्य पूरी तरह अंधकारमय था। बोअर-युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय से भारतीयों की हालत में कोई भी सुधार नहीं हुआ था। बोअरों के शासन-काल में तो उनके हाथ-पांव यों ही बंधे हुए थे। अब दक्षिण अफ्रीका के नये शासन में साझेदारी थी, लेकिन सिर्फ अंग्रेज़ों और बोअरों के बीच; भारतीयों की स्थिति तो पहले से भी हीन और विपन्न थी। नागरिक अधिकारों के लिए गांधीजी ने नेटाल और ट्रांसवाल में बारह बरस तक

जो कुछ किया था, उस सबपर पानी फिर गया था। दक्षिण अफ्रीका, भारत और इंग्लैंड के जनमत को जगाकर प्रवासी भारतीयों की स्थिति को सुधारने की उनकी सारी आशाएं विफल हो गई थीं। दक्षिण अफ्रीका में वह अपने प्रचार-कार्य से सिर्फ मुट्ठी-भर यूरोपियनों, ईसाई पादरियों और आदर्शवादी नौजवान अंग्रेजों को अनुकूल कर सके थे; प्रवासी भारतीयों के प्रश्न को राजनीति का नहीं 'अपनी और अपने बाल-बच्चों की मक्खन-रोटी का सवाल' समझनेवाले बहुसंख्यक गोरों पर उनके प्रचार-कार्य का कोई भी उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा था। भारत में इस सवाल पर सभी-की काफी सहानुभूति थी; सभी विचारों के नेता इस प्रश्न पर एकमत थे; हर साल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने अधिवेशनों में रंग-भेद के विरोध में प्रस्ताव पारित करती थी। लेकिन भारत के नेताओं की भी अपनी मजबूरियां थीं और उनकी सारी सहानुभूति केवल जबानी होकर रह गई थी। सर फीरोजशाह मेहता ने १६०१ में कलकत्ता-कांग्रेस-अधिवेशन में जाते हुए गांधीजी से रेल में ठीक ही कहा था; "हमें ही अपने देश में क्या अधिकार है? और जबतक यहां सत्ता हमारे हाथ में नहीं आ जाती, मेरा विश्वास है कि उपनिवेशों में तुम्हारी हालत सुधर नहीं सकती।"

इंग्लैंड में गांधीजी को प्रवासी भारतीयों के अधिकारों के संघर्ष में अकेले लंदन 'टाइम्स' का प्रबल समर्थन कभी-कभी ज़रूर मिल जाया करता था। वहां का उपनिवेश-मंत्रालय तो हर समय दक्षिण अफ्रीका के गोरों की ठकुरसुहाती किया करता और उपनिवेशों के 'स्वराज्य-भोगी होने का राग' अलापने लगता, जिसका साफ मतलब यह होता था कि उपनिवेश अपने घरेलू मामलों में मनचाहा करने को, ब्रिटिश साम्राज्य की भारतीय प्रजा को दमन की चक्की में पीसने तक को स्वतंत्र हैं।

ऐसी स्थिति में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को पंजीयन के काले कानून का विरोध अकेले अपने बल-बूते पर ही करना था। वहां की धारा सभा में उनकी कोई आवाज़ नहीं थी—न मत देने का अधिकार था, न प्रतिनिधि भेजने का। ११ सितम्बर, १६०६ को जोहान्सबर्ग की एंपायर नाटकशाला में सभा की गई। "सभा-भवन ठसाठस भरा हुआ

था।'[1] मुख्य प्रस्ताव गांधीजी ने ही तैयार किया था, जिसका आशय यह था कि प्रवासी भारतीय जनजीवन के काले कानून के आगे कभी सिर नहीं झुकायेंगे। जब एक वक्ता ने अपने भाषण में कहा कि "मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूं कि हरगिज़ इस कानून के ताबे न होऊंगा" तो गांधीजी "चौंके और सावधान हो गये।" तत्काल इस प्रतिज्ञा के "परिणाम भी उनके सामने एक क्षण में" आ गये और "घबराहट की जगह जोश पैदा हो गया।" गांधीजी प्रतिज्ञाओं के अनुभवी थे और उनके मीठे फल चख चुके थे। विलायत जाते समय उन्होंने जो तीन प्रतिज्ञाएं की थीं उनका उनके जीवन-निर्माण में काफी बड़ा हाथ था; और इधर कुछ ही दिन पहले सेवा-व्रत के लिए उन्होंने परिवार और धन-संपत्ति से अपना नाता तोड़ने की प्रतिज्ञाएं की थीं। इसलिए परिणाम की चिंता किये बगैर, ईश्वर की साक्षी में, एक अनुचित और अन्यायपूर्ण कानून का विरोध करने की प्रतिज्ञा ने गांधीजी के सामने की उस संगीन दीवार को ढहा दिया, जो उनकी दृष्टि को बांधे हुए थी। उन्हें उतनी ही खुशी और राहत हुई जितनी किसी गणितशास्त्री को पेचीदा सवाल के एकाएक हल हो जाने पर होती है। लेकिन गांधीजी का हल अकस्मात् पाया हुआ हल नहीं था; वह तो जीवन-भर इसकी तैयारियों में लगे रहे थे। बचपन से ही सत्य उनके जीवन का प्रमुख मार्गदर्शक और अवलंब रहा था और वह हर स्थिति में सत्य पर आचरण और सत्य के प्रयोग करते थे। मनुष्य को दुर्बल बनानेवाले सभी रोगों, लगावों और निष्ठाओं को वह ठुकरा चुके थे। उस ऐतिहासिक अवसर पर उन्होंने जिस साहस और विश्वास का परिचय दिया, वह आकस्मिक नहीं उनके जीवन में दीर्घकालीन अनुशासन का ही परिणाम था। जोहान्सबर्ग की उस ठसाठसभरी एंपायर नाटकशाला में उपस्थित अपने देशवासियों को संबोधित करते हुए उन्होंने बिलकुल ही निर्भय होकर कहा था, "मुझ-जैसों के लिए तो सिर्फ एक ही रास्ता होगा, मर मिटना; पर इस कानून के आगे सिर न झुकाना। ऐसा होने की कोई संभावना तो नहीं है, पर मान लीजिये कि सब गिर गये और मैं अकेला ही रह गया, तो भी मेरा विश्वास है कि

---

१ 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास'; सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५९; पृष्ठ १२९

प्रतिज्ञा का भंग मुझसे हो ही नहीं सकता।"[1]

उन्होंने श्रोताओं को यह भी बता दिया कि हो सकता है कि कानून का विरोध करनेवालों को जेल में जाना पड़े, भूख प्यास सहनी पड़े, कोड़े खाने पड़ें, जुर्माना हो और कुर्की में माल-असबाब नीलाम हो जाय और प्राणों से भी हाथ धोना पड़े! इसलिए उन्होंने वहां उपस्थित सभीको अपना हृदय टटोलने के लिए कहा और सचेत कर दिया कि जिसमें अंत तक डटे रहने की शक्ति न हो वे प्रतिज्ञा न करें। लेकिन अंत में सारी सभा ने "खड़े होकर, हाथ उठाकर और ईश्वर को साक्षी करके प्रतिज्ञा की कि यह कानून (एशियावासियों के पंजीयन का कानून) पास हो गया तो हम उसके आगे सिर न झुकायंगे।" विरोध के इस आंदोलन को कौन-सा नाम दिया जाय, यह गांधीजी ने उस समय नहीं बताया; शायद वह खुद भी नहीं जानते थे। हां, इसमें तो उन्हें कोई संदेह ही नहीं था कि आंदोलन का रूप कोई भी क्यों न हो, वह होगा अहिंसक ही। उस समय तो वह इतना ही समझ पाये थे कि राजनैतिक और सामाजिक बुराइयों से लड़ने के लिए किसी नई वस्तु का जन्म हुआ है। शुरू में उन्होंने इसे 'पैसिव रेजिस्टेंस' (निष्क्रिय प्रतिरोध) कहा, लेकिन इंग्लैंड की महिलाओं ने मताधिकार पाने की अपनी लड़ाई में इसी नाम (पैसिव रेजिस्टेंस) का उपयोग कर उग्र शब्दों और शारीरिक बल-प्रदर्शन, यहांतक कि हिंसा का भी प्रयोग किया था, इसलिए गांधीजी को यह नाम उचित नहीं लगा और उन्होंने इसे छोड़ दिया। फिर उपयुक्त नाम के लिए गांधीजी ने आंदोलन के मुख-पत्र 'इंडियन ओपिनियन' में एक प्रतियोगिता आयोजित की। प्रवासी भारतीयों के शुभ संकल्प के रूप में एक पाठक ने 'सदाग्रह'—सद् या शुभ आग्रह—शब्द सुझाया, जो गांधीजी को पसंद आया। उन्होंने इसे सुधारकर 'सत्याग्रह'—सत्य पर आग्रह—कर लिया। लेकिन इस आंदोलन का पूरा शास्त्र—इसका सिद्धांत और कार्य-पद्धति तो बाद में कई बरसों में जाकर धीरे-धीरे विकसित हुई; क्योंकि सत्याग्रह-आंदोलन के प्रणेता गांधीजी तो सिद्धांत को कार्य का अनुचर माननेवालों में थे।

---

१ 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', सस्ता साहित्य मंडल, १९५९, पृष्ठ १३५

यह नया सत्याग्रह आंदोलन उनके विलक्षण जीवन-विकास के सर्वथा अनुरूप और उपयुक्त ही था। १६०८ में सत्याग्रह की उत्पत्ति के बारे में पूछे जाने पर गांधीजी ने जो कुछ बताया वह, श्री डोक के शब्दों में इस प्रकार से है—

"जहांतक गांधीजी का संबंध है वह तो इस सिद्धांत (पैसिव रेजिस्टेंस) की उत्पत्ति और विकास का कारण कुछ और ही बतलाते हैं। उनका कहना है, 'बचपन में मदरसे में सीखा हुआ नीति-विषयक एक छप्पय[1] मेरे मनपर हमेशा के लिए अंकित हो गया। उसका सार है कि पानी पिलानेवाले का बदले में भोजन भी करा दिया तो बड़ा काम नहीं किया; बड़ी बात तो तब है जब बुराई का बदला भलाई से दिया जाय। छुटपन में इस छप्पय का मुझपर बड़ा असर हुआ था; और मैं इसकी सीख पर अमल करने की कोशिश भी करता रहा। उसके बाद दूसरा असर मुझपर 'गिरि-प्रवचन' का हुआ।"[1]

डोक के यह पूछे जाने पर कि असर के लिहाज से तो भगवद्गीता का नंबर उससे पहले होना चाहिए, गांधीजी ने जवाब दिया, "नहीं, यह सच है कि मैं भगवद्गीता को संस्कृत में भी समझ लेता हूं, लेकिन इस सिद्धांत को खोजने की दृष्टि से मैंने उसका अध्ययन नहीं किया। 'पैसिव रेजिस्टेंस' के मामले में मेरी आंखें 'नये इकरार' ने ही खोलीं और उसीकी बदौलत इसकी सच्चाई और कीमत मेरी समझ में आई। 'गिरि-प्रवचन' के 'दायें गाल पर तमाचा मारनेवाले के सामने बायां गाल भी कर दो' और 'अपने दुश्मनों को भी प्यार कर' और 'उनके लिए प्रार्थना कर, जिससे वे भी तेरे पिता परमेश्वर की सच्ची संतान बन सकें' आदि अंशों को जब मैंने पढ़ा तो मुझे बहुत ही ज्यादा खुशी हुई। बाइबिल में मेरे मन के भावों की गूंज सुनाई पड़ेगी, इसकी तो मुझे उम्मीद भी नहीं थी। 'गिरि प्रवचन' ने मेरे इन भावों की ताईद की, भगवद्गीता ने उन्हें गहरा किया और टालस्टाय की 'बैकुंठ तुम्हारे हृदय में' किताब ने उन्हें पक्का और कायमी रूप दिया।'[2]

---

१ श्यामल भट्ट का छप्पय; देखिये इस पुस्तक का अध्याय ८, पृष्ठ ५८—अनुवादक
२ डोक, जोसेफ जे०; 'एम० के० गांधी, पृष्ठ ८८

: ११ :

पहला सत्याग्रह-आंदोलन

प्रवासी भारतीयों ने एकराय होकर कड़ा विरोध किया, फिर भी ट्रांसवाल की धारा-सभा ने एशियावासियों का पंजीयन विधेयक (परवाने का काला कानून) पारित कर ही दिया। उसमें से सिर्फ स्त्रियों से संबंध रखनेवाली दफा निकाल दी गई थी, बाकी विधेयक जिस रूप में प्रकाशित किया गया था, लगभग उसी रूप में पारित हुआ। उसपर बादशाह की मंजूरी भी मिल गई और १ जुलाई, १९०७ से नये कानून के जारी होने की घोषणा कर दी गई।

भारतीयों की पुकार को अनसुना कर दिया गया था। काला कानून लादा जाने को था। उसका विरोध करने की जो प्रतिज्ञा की गई थी, अब गांधीजी को उसे पूरा कर दिखाना था। उन्होंने आंदोलन चलाने के लिए एक पैसिव रेजिस्टेंस संघ या सत्याग्रह मण्डल बनाया। १९०६ के सितंबर महीने में एंपायर नाटकशाला की ऐतिहासिक सभा में काले कानून का विरोध करने की प्रतिज्ञा वहां मौजूद सभी लोगों ने की थी, लेकिन अब कुछ लोग ढीले पड़ रहे थे। उन्हें अलग हो जाने का मौका देने के लिए गांधीजी ने फिर प्रतिज्ञा करवाई। जो 'इंडियन ओपिनियन' बरसों से गांधीजी को घाटा देता चला आ रहा था, वह इस समय प्रवासी भारतीयों को राजनैतिक शिक्षा देने में बड़ा काम आया। दक्षिण अफ्रीका में इस साप्ताहिक पत्र ने वही काम किया, जो आगे चलकर 'नवजीवन' और 'हरिजन सेवक' ने भारत में किया। 'इंडियन ओपिनियन' को गांधीजी के सहकर्मी और साथी ही नहीं, उनके विरोधी भी पढ़ते थे, क्योंकि वह इसमें अपनी सारी योजनाएं खोलकर रख दिया करते थे। इसकी लोकप्रियता का अंदाज इसीसे लगाया जा सकता है कि इसकी ग्राहक-संख्या ३५०० थी। जिस देश में पढ़नेवाले भारतीयों की संख्या बीस हजार से अधिक न हो और जहां अखबार को घर-घर पहुंचाना पड़े वहां के लिए यह ग्राहक-संख्या वास्तव में बहुत बड़ी बात है।

सरकार ने खास-खास शहरों में परवाना दफ्तर खोल दिये और हुक्म निकाल दिया कि ३१ जुलाई १९०७ तक ट्रांसवाल में रहनेवाले सभी हिन्दुस्तानियों को परवाने ले लेने चाहिए, नहीं तो कानून के अनुसार कार्रवाई कर कड़ी सजा दी जायगी। पैसिव रेजिस्टेंस संघ ने भारतीयों को परवाना-दफ्तरों का बहिष्कार करने का आदेश दिया। सब जगह पोस्टर लग गये, जिनके नारे थे—"राजेश्वर की भक्ति से भी बड़ी होती है परमेश्वर की भक्ति...भारतीयों, आजाद हो जाओ !" गांधीजी ने बड़ी सावधानी से और काफी विस्तार में सभी परवाना-दफ्तरों पर पिकेटिंग की योजना बनाई थी। इस काम के लिए स्वयंसेवक भर्ती किये गए, जिनमें १२ से १८ बरस की उम्र के नौजवान काफी संख्या में थे और उन्हें परवाना दफ्तरों के बाहर तैनात कर दिया गया। उनका काम था परवाना लेने के लिए आनेवाले भारतीयों को विनम्रतापूर्वक समझा-बुझाकर लौटा देना। स्वयंसेवकों को कड़ी ताकीद कर दी गई थी कि वे किसीके भी साथ जबर्दस्ती न करें, गुस्सा न हों और किसीका दिल न दुखायें; जो परवाना लेने पर अड़ जायं उनके साथ तो भूलकर भी बुरा व्यवहार न हो और अगर पुलिस पकड़े तो स्वयंसेवक खुशी-खुशी गिरफ्तार हो जायें। आंदोलनकारियों की ओर से तो जोर-जबर्दस्ती ज़रा भी न थी, लेकिन जनमत का दबाव और दूसरों की निगाह में नक्कू बन जाने का डर ही काफी था। परवाना-दफ्तरों से मिलकर रात में घरों पर चोरी-चोरी परवाने लेने की भी कुछ घटनाएं हुईं; पर वैसे देखा जाय तो कुल मिलाकर बहिष्कार पूरा और असरकारक रहा। सरकार ने पंजीयन की तिथि भी बढ़ा दी, फिर भी ३० नवंबर १९०७ तक केवल ५११ भारतीयों ने परवाने लिये थे।

२८ दिसंबर १९०७ को गांधीजी और उनके २६ प्रमुख साथियों को जोहान्सबर्ग की अदालत का 'कारण बताओ' सम्मन मिला कि कानून के मातहत तुमने परवाने नहीं लिये, इसलिए तुम्हें ट्रांसवाल से देशनिकाला क्यों न दिया जाय ? मुकदमा चला और गांधीजी को दो महीने की सादी कैद की सजा दी गई। सरकार ने सोचा था कि आंदोलन के नेता को गिरफ्तार कर लेने से लोगों का मनोबल टूट जायगा और वे घुटने टेक देंगे, लेकिन यह उसकी बड़ी भूल थी। गांधीजी के पकड़े जाते ही भारतीयों में जेल जाने की

होड़ मच गई। जेल और सज़ा का डर ही किसीको नहीं रहा। आंदोलन-कारियों ने जेल का नाम ही रख दिया बादशाह एडवर्ड का होटल। जोहान्सबर्ग की जेल में मुश्किल से पचास आदमियों को रखने की जगह थी और गिरफ्तार सत्याग्रहियों की संख्या हो गई १५५। सारे बंदी जमीन पर सोते और उन्हें खाना जो दिया जाता था वह तो कुत्ते भी सूंघकर छोड़ देते। लेकिन फिर भी उत्साह सभीमें अपार था। बंदियों ने मशक्कत का काम मांगा, पर लगभग सभीको सादी कैद की सजा मिली थी, इसलिए जेल-अधिकारियों ने किसीको कोई काम नहीं दिया।

गांधीजी अभी जेल में व्यवस्थित नहीं हो पाये थे कि एक दिन उनके गोरे मित्र मि० अलबर्ट कार्टराइट उनसे जेल में मिलने के लिए आये। मि० कार्टराइट जोहान्सबर्ग के अंग्रेजी दैनिक 'ट्रांसवाल लीडर' के संपादक और भारतीयों के पक्ष का समर्थन करनेवाले उदाराशय व्यक्ति थे। वह अपने साथ जनरल स्मट्स का बनाया हुआ समझौते का एक मसविदा भी लेते आये थे, जिसका आशय यह था यदि भारतीय जनता स्वेच्छा से परवाना ले ले तो सरकार पंजीयन के काले कानून को रद्द कर देगी। उसके दो दिन बाद जनरल स्मट्स ने कैदी की ही हालत में ही गांधीजी को मिलने के लिए प्रिटोरिया के अपने दफ्तर में बुला भेजा। जनरल ने भारतीयों के धीरज और दृढ़ता की सराहना की, यह कहकर अपनी मजबूरी जाहिर की कि गोरे लोग इस तरह का कानून चाहते हैं और अंत में आश्वासन दिया कि अगर भारतीय स्वेच्छा से परवाने ले लें तो सरकार पंजीयन कानून को रद्द कर देगी। इसपर गांधीजी ने कुछ सुझाव दिये, जिन्हें जनरल स्मट्स ने मंजूर कर लिया। मुलाकात के अंत में गांधीजी ने पूछा, "अब मुझे कहां जाना है?" जनरल ने हँसकर जवाब दिया, "आप तो अभी से आजाद हैं। आपके साथियों को कल सवेरे छोड़ने के लिए टेलीफोन करता हूं।"

उस वक्त शाम के कोई सात बजे होंगे। गांधीजी के पास तो एक धेला भी न था। जनरल स्मट्स के सचिव से किराये के पैसे उधार लेकर वह स्टेशन दौड़े गए। जोहान्सबर्ग को जानेवाली गाड़ी बस छूटने को ही थी। जोहान्सबर्ग पहुंचने के तुरंत ही बाद उन्होंने जनरल स्मट्स के साथ हुए अनौपचारिक समझौते पर विचार करने के लिए भारतीयों की एक बैठक

बुलाई। उसमें गांधीजी की खूब आलोचना हुई। क्या वह सरकार के हाथ में खेल नहीं रहे हैं ? हम स्वेच्छा से परवाना लें, उसके पहले ही परवाना कानून को रद्द क्यों नहीं कर देते ? अगर ट्रांसवाल की सरकार अपनी बात से मुकर गई तो क्या होगा ? गांधीजी ने बड़ी शांति से लोगों को समझाया कि सत्याग्रही को तो अपने विरोधियों की बात पर भी भरोसा करना होता है; और अगर सरकार अपनी बात से मुकर ही गई तो हम फिर सत्याग्रह शुरू कर सकते हैं। इस सभा में पश्चिमोत्तर प्रदेश के एक पठान ने उलटे-सीधे कई सवालों की झड़ी लगा दी और गांधीजी पर यहांतक आरोप लगाया कि उन्होंने कौम के साथ दग़ा की है और पन्द्रह हजार पौंड लेकर उसे जनरल स्मट्स के हाथों बेच दिया है।

गांधीजी सार्वजनिक सभा में यह घोषणा कर चुके थे कि जनरल स्मट्स के साथ किये गए समझौते के अनुसार वह स्वयं स्वेच्छा से परवाना लेने के लिए जायंगे। १० फरवरी, १९०८ को वह अपने घर से परवाना लेने दफ्तर की ओर चले। वॉन ब्रांडिस स्ट्रीट में पठान मीर आलम और उसके साथियों ने गांधीजी पर लाठियों से हमला कर दिया। वह 'हे राम !' कहते हुए बेहोश होकर गिर पड़े। उस दिन अगर लाठियों के कुछ वार गांधीजी के साथियों ने अपने ऊपर न झेल लिये होते और राह चलते गोरों ने बीच-बचाव न किया होता तो गांधीजी के वहीं मर जाने में कोई भी सन्देह नहीं था।

लहूलुहान गांधीजी को लोग-बाग पास की एक दुकान में उठा ले गये। होश में आते ही जो पहला सवाल उन्होंने किया वह मीर आलम के बारे में था। उन्होंने तीमारदारी के लिए आये हुए अपने मित्र पादरी डोक से पूछा, "मीर आलम कहां है ?" उन्होंने बताया, "वह दूसरे हमलावरों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया है।" गांधीजी ने कहा, "उन्हें छोड़ देना चाहिए।" डोक ने जवाब दिया, "यह सब तो होता रहेगा, लेकिन आप यहां एक पराये दफ्तर में पड़े हैं; आपका होंठ फट गया है और गाल से खून बह रहा है। पुलिस आपको अस्पताल ले जाना चाहती है, लेकिन आप मेरे यहां चले चलिये तो श्रीमती डोक और मैं आपकी जितनी सेवा हमसे हो सकती है करेंगे।" गांधीजी ने अस्पताल के बदले पादरी डोक के यहां जाना ही पसन्द

किया।

स्मट्स के साथ किये गए समझौते को पूरा करने के लिए गांधीजी ने अपने जीवन को खतरे में डाल दिया था। लेकिन उस धूर्त बोअर जनरल ने ऐसा विश्वासघात किया कि गांधीजी और समझौते के मध्यस्थ मि० अलवर्ट कार्टराइट भी दिग्मूढ़ रह गये। काले कानून को रद्द करना तो दूर रहा ट्रांसवाल की सरकार ने अपनी मर्जी से लिये हुए परवाने को कानून के अनुकूल मान लिया और उसमें एक दफा ऐसी रख दी, जिससे परवाना लेनेवाले पर काला कानून लागू न हो। इसका साफ मतलब यह था कि नये आनेवाले हिन्दुस्तानियों पर काला कानून लागू रहे। गांधीजी ने इसके विरोध में 'विश्वासघात' शीर्षक देकर 'इंडियन ओपिनियन' में लेख लिखे। दोस्तों ने उन्हें बुद्धू बन जाने का ताना भी मारा। गांधीजी ने जनरल स्मट्स को पत्र लिखकर उनसे और मि० अलबर्ट कार्टराइट से हुई अपनी बातचीत की याद दिलाई। लेकिन जनरल साहब साफ मुकर गये; ऐसा आश्वासन देने की बात उन्हें याद ही नहीं आ रही थी।

: १२ :

दूसरी बार सत्याग्रह

भारतीय बुरी तरह हारे थे। उन्होंने 'कुत्ते के गले का पट्टा' राजीखुशी अपने गले में पहन लिया था, और जिस कानून को वे रद्द कराने के लिए लड़े थे वह वैसा-का-वैसा बरकरार था। अपनी मर्जी से परवाना लेने के लिए भारतीयों ने जो दरख्वास्तें दी थीं, सरकार ने उन्हें लौटाने से इनकार कर दिया था। इसपर गांधीजी ने घोषणा की कि भारतीय जनता अपनी मर्जी से किये गए परवानों की होली जलायेगी और उसके "नतीजों को विनय और दृढ़ता के साथ सहन करेगी"।

१६०७ की सर्दियोंवाले सत्याग्रह की रूपरेखा तो उस आन्दोलन ने आप ही तय कर दी थी। इस बार गांधीजी ने आंदोलन चलाने के अपने ज्ञान और भारतीय जनता की अपनी बढ़ी हुई जानकारी के आधार पर

दूसरे सत्याग्रह-आंदोलन की योजना बनाई। ट्रांसवाल के बहुत-से भारतीयों ने अपने ऐच्छिक परवानों को एक जगह इकट्ठा किया और उनकी होली जला दी। 'डेली मेल' के जोहान्सबर्ग-स्थित संवाददाता ने इस होली की तुलना 'बोस्टन की चाय पार्टी'[1] से की थी। ट्रांसवाल के भारतीयों का संघर्ष सम्भवतः अमरीका के स्वाधीनता-संग्राम जितना ऐतिहासिक न हो, लेकिन ऐच्छिक परवानों की होली जलाना निस्सन्देह वीरतापूर्ण विरोध-कार्य था। गांधीजी की हार पर खुशी मनानेवाले जनरल स्मट्स के अब बेचैन होने की बारी थी। ऐच्छिक परवानों की होली का वह जलसा उस समय और भी शानदार हो उठा जब पठान मीर आलम ने, जो ज़ेल से छूट आया था, अपना असल परवाना जलाने को दे दिया; ऐच्छिक परवाना तो उसने लिया ही नहीं था और बड़े प्रेम से गांधीजी से हाथ मिलाया। उन्होंने उसे यकीन दिलाया कि उनके मन में उसके प्रति कभी कोई गुस्सा या द्वेष नहीं रहा।

इसी बीच ट्रांसवाल की विधान-सभा ने 'इमिग्रैंट्स रेस्ट्रिक्शन एक्ट' यानी नई बस्ती पर रोक लगानेवाला कानून और पास कर दिया। इसका असली मन्शा नये आनेवाले हिंदुस्तानियों को ट्रांसवाल में दाखिल होने से रोकना था। गांधीजी ने तुरंत सरकार को सूचित कर दिया कि इस नये हमले को भी सत्याग्रह में शामिल किया जायगा। जनरल स्मट्स को गांधीजी पर नये-नये सवाल उठाने का आरोप लगाने का मौका मिल गया। उन्होंने गांधीजी को यह कहकर बदनाम किया कि इस आदमी को अंगुली थमाओ तो पहुंचा पकड़ने लगता है और भारतीयों को ऐसे नेता से सावधान हो जाने के लिए भी कहा। जबकि सचाई यह थी कि गांधीजी सत्याग्रह के क्षेत्र के फैलाव को रोकने में अपना पूरा जोर लगाये हुए थे; दूसरे उपनिवेशों के भारतीय निवासी तो ट्रांसवाल के अपने भारतीय भाइयों की सहानुभूति में आंदोलन छेड़ने को तैयार बैठे थे, लेकिन गांधीजी बड़ी कठिनाई से उन्हें

[1] इंग्लैंड से चाय की जो पेटियां अमरीका भेजी गई थीं, उन्हें अमरीकियों ने बोस्टन के बन्दरगाह में जल-समाधि देकर इंग्लैंड के अधीन न रहने के अपने निश्चय की घोषणा की थी। अमरीका के स्वाधीनता संग्राम की यह घटना इतिहास में 'बोस्टन की चाय-पार्टी' के नाम से प्रख्यात है। —अनुवादक

रोके हुए थे।

इस बार भी जेल जानेवालों की कमी नहीं थी। १९०८ के अगस्त महीने में नेटाल के कुछ प्रमुख भारतीयों ने ट्रांसवाल की सीमा को पार किया; वहां बसने का उनका पुराना अधिकार था, लेकिन वे बसने के लिए नहीं परवाना-कानून का विरोध करने के लिए सीमा पार करके आये थे। उन्हें गिरफ़्तार कर जेल में डाल दिया गया। ट्रांसवाल में जेल जाने का सबसे आसान तरीका था वगैर परवाने के फेरी करना। जिन फेरीवालों के पास परवाने थे उन्होंने दिखाने से इनकार कर दिया और जेल जाने लगे। भारतीय व्यापारियों और बैरिस्टरों को यह तरकीब खूब पसन्द आई। सब-के-सब रातों रात फेरीवाले बन गये। बगैर परवानों के सब्जी की फेरी करने लगते और जेल पहुंच जाते। लेकिन इस बार सरकार सब सत्याग्रहियों को कड़ी कैद की सजा दे रही थी। जेल में सख्ती भी खूब की जाती थी। चौदह और सोलह बरस के बच्चों से पत्थर तुड़वाये जाते, सड़कें झड़वाई जातीं और तालाब खुदवाये जाते। नागप्पा नाम का अट्ठारह बरस का एक नौजवान तो सदियों में बड़े सवेरे काम पर लगाये जाने के कारण डबल निमोनिया होकर जेल में मर ही गया।

१९०८ के अक्तूबर महीने में दुबारा जेल जाने पर गांधीजी को भी ये सारी सख्तियां झेलनी पड़ीं। पहली रात तो उन्हें खतरनाक अपराधियों के साथ बितानी पड़ी, जो देखने-मात्र से 'डरवाने, हत्यारे, दुष्ट और लंपट मालूम पड़ते थे।' मनः-शांति के लिए गांधीजी सारी रात गीता के श्लोक बोलते रहे। ऐसी कठिन जेल उन्होंने जीवन में कभी नहीं भोगी थी। सवेरे सात बजे उन्हें कैदियों की एक गैंग में लगा दिया जाता, जो दिन-भर कुदाली से पथरीली जमीन की खुदाई किया करती। इस गैंग का मुकादम बड़ा ही निर्दयी था। खुदाई करते-करते बेचारे कैदियों की कमर दुहारी हो जाती, हाथों में छाले पड़ जाते और कई तो असह्य कष्ट से मूर्छित भी हो जाते थे। पर गांधीजी डटे रहते और अपने साथियों को बराबर हिम्मत बंधाया करते। शाम को और इतवार के दिन वह भगवद्गीता और रस्किन, थोरो तथा अन्य दार्शनिकों के जो ग्रंथ जेल में मिल जाते थे, पढ़ा करते। जेल के कड़े प्रतिबंध गांधीजी को आत्मविकास और जन-सेवा के लिए

अपनाये गए संयमपूर्ण जीवन और ब्रह्मचर्य के सर्वथा अनुकूल प्रतीत होते थे। उनके भावी जीवन की प्रबल शक्ति का स्रोत, उनके व्यक्तित्व और चरित्र की इस्पाती दृढ़ता इन जेलखानों में ही पैदा हुई थी। श्रीमती पोलक के शब्दों में—"उनके जेल से लौटने पर हर बार हमें उनमें एक अद्‌भुत विकास और चारित्रिक प्रगति देखने को मिलती थी, जो निश्चय ही जेल-जीवन का परिणाम हुआ करती थी।"[१]

जेल, देश-निकाला और भारी-भारी जुर्माने सत्याग्रह-आंदोलन को कुचल न सके। लेकिन हमेशा तो वह जोश बना नहीं रह सकता था, धीरे-धीरे शिथिलता आती गई। भारतीय जनता की, और खास तौर से उसके मालदार तबकों की हालत उन सैनिकों-जैसी हो चली जो बहुत दिनों की लगातार लड़ाई से ऊब या थक जाते हैं। गतिरोध हो गया था। अब भारतीय जोरदार मुकाबले के लिए तैयार नहीं थे, लेकिन हथियार उन्होंने फिर भी नहीं डाले थे।

१९०९ में गांधीजी इंग्लैंड की असफल यात्रा से लौटे तो उन्होंने समझ लिया कि अधिकारों की यह लड़ाई काफी लंबी चलेगी। भारतीय जनता पर सरकारी दमन का असर होने लगा था। कई व्यापारियों को भारी नुकसान उठाना पड़ा था और वे आंदोलन से अलग हो गये थे। जेल जानेवाले सत्याग्रहियों की तादाद कम हो गई थी और थोड़े-से चुने हुए पक्के लोग ही गिरफ्तार हो रहे थे। सत्याग्रह-मंडल ऐसे सत्याग्रहियों के कुनबों को भरण-पोषण के लिए हर महीने पैसा देता था, लेकिन अब मंडल के पास पैसा कम होता जा रहा था। सन् १९०६ में राजनीति में आने के बाद से गांधीजी की वकालत लगभग बंद-सी ही थी और उनके पास जो-कुछ जमा-पूंजी थी वह सारी-की-सारी आंदोलन की भेंट चढ़ चुकी थी। सत्याग्रहियों के मुसीबतजदा कुनबों की मदद के ही लिए नहीं आंदोलन से संबंधित जोहान्सबर्ग और लंदन के दफ्तरों को चलाने और 'इंडियन ओपिनियन' को चालू रखने के लिए भी पैसों की बड़ी जरूरत थी। आखीर तक टिक सकनेवाला ही इस लंबी लड़ाई में जीत सकता था। सरकार के पास सब साधन थे और अंत तक टिके रहने की सामर्थ्य थी। भारतीय

[१] पोलक, एम०—'गांधी : दि मैन' (मानव गांधी), पृष्ठ ९४।

सत्याग्रही खुद भूखा रहकर और अपने परिवार को भूखा मारकर कब-तक लड़ता ? खर्च को काफी हद तक कम किये बिना सत्याग्रह की लड़ाई को लंबे समय तक चला पाना असम्भव ही था। इसलिए गांधीजी ने सत्याग्रही कैदियों के परिवारों को किसी सहकारी खेत पर बसाने का निश्चय किया। इस काम के लिए डरबन की फिनिक्स बस्ती उनके ध्यान में थी। लेकिन जोहान्सबर्ग आंदोलन का केंद्र था और वहां से फिनिक्स रेल द्वारा पूरे तीस घंटे का रास्ता था; इसलिए फिनिक्स का विचार त्याग देना पड़ा।

ऐसे समय एक जर्मन स्थपति मि० केलनबेक ने गांधीजी की मदद की। ये सज्जन गांधीजी के साथी और सहयोगी थे। उन्होंने जोहान्सबर्ग से २१ मील दूर ११०० एकड़ जमीन खरीदी और सत्याग्रहियों को बिना किसी भाड़े-लगान के काम में लाने का अधिकार दे दिया। इस जमीन में एक हजार के लगभग फलवाले पेड़ थे और छोटा-सा मकान भी बना हुआ था। इस जगह का नाम रखा गया 'टालस्टाय-फार्म' और वहां जो माल-मसाला और मजदूर मिल गये उन्हींकी मदद से गांधीजी और केलनबेक टीन-चद्दरों की एक छोटी-सी बस्ती खड़ी करने के काम में लग गये। 'टालस्टाय-फार्म' पर रहनेवालों की तादाद पचास से पचहत्तर के बीच रही होगी, और उनमें भारत के हर हिस्से के हिंदू और मुसलमान और पारसी और ईसाई थे। वहां सबको एक ही रसोई से शाकाहारी भोजन मिलता था। बहुत थोड़े में और बड़ी मुश्किलों में वहां के लोग अपनी गुजर-बसर करते थे; सच पूछा जाय तो जेल से भी ज्यादा कठोर उनका जीवन था। वहाँ के हर निवासी को, जिनमें बच्चे भी शामिल थे, मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती थी। उस बस्ती को स्वावलंबी बनाने की हर कोशिश की गई थी। मि० केलनबेक की देख-रेख में एक छोटा-सा कारखाना चलता था, जिसमें जरूरत की छोटी-बड़ी कई चीजें बनाई जाती थीं। मि० केलनबेक जर्मन साधुओं के मठ में चप्पल बनाना सीख आये थे और उन्होंने यह हुनर गांधीजी और फार्म के दूसरे निवासियों को सिखा दिया था। उस समय का वर्णन करते हुए गांधीजी लिखते हैं, "हम सभी मजदूर बन गये थे, इससे पहनावा रखा मजदूरों का, पर यूरोपीय ढंग का—यानी

मजदूरों के पहनने का पतलून और उसी तरह की कमीज। इस पहनावे में जेल का अनुकरण था।"[1] जिसे अपने निजी काम से या सैर के लिए शहर जाना होता वह जोहान्सवर्ग तक आने-जाने की यात्रा पैदल करता था। गांधीजी यद्यपि चालीस साल के हो गये थे और सिर्फ फल खाते थे, लेकिन एक दिन में ४०-४२ मील चलना उनके लिए मामूली बात थी; एक बार तो उन्होंने दिन-भर में पूरे पचपन मील की मंजिल की और फिर भी नहीं थके।

गांधीजी के उत्साह का पार न था; उनकी "हिम्मत और श्रद्धा टाल्स्टाय-फार्म में पराकाष्ठा को पहुंची हुई थी।"[2] प्राकृतिक उपचार में उनकी आस्था दृढ़ होती गई; अपनी आरोग्य-विषयक पुस्तक भी उन्होंने इसी समय लिखी। स्वयं उनका कहना है, "फार्म में एक भी बीमारी के मौके पर न तो हमने डाक्टर बुलाया और न दवा का ही उपयोग किया।" केलन-बेक उनके विश्वस्त साथी थे और सभी प्रयोगों में बड़े उत्साह से हिस्सा लेते थे। दोनों मिलकर अहिंसा को अपनाने के नये-नये उपाय सोचा करते और अक्सर सांपों पर भी अहिंसा के प्रयोग करते थे। फार्म के बच्चों की पढ़ाई के लिए एक स्कूल भी खोला गया था। अपने बच्चों पर शिक्षण-संबंधी जो प्रयोग कर चुके थे, उन्हींके अनुसार गांधीजी वहां के बच्चों को पढ़ाते थे। वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय और चरित्र की शिक्षा पर अधिक जोर देते थे; और शारीरिक श्रम को तो उन्होंने अपने छात्रों के पाठ्यक्रम में अनिवार्य ही कर दिया था।

टाल्स्टाय-फार्म के बच्चे खुशी-खुशी गड्ढे खोदते, पेड़ काटते, बोझा ढोते और बढ़ईगिरी तथा मोची का काम सीखते थे। शिक्षक की जिम्मे-दारियों और कर्त्तव्य के बारे में गांधीजी की बहुत ऊंची धारणा थी, "मैं झूठ बोलता रहूं और अपने शिष्यों को सच्चा बनाने की कोशिश करूं तो वह बेकार जायगी। डरपोक शिक्षक अपने शिष्यों को वीरता नहीं सिखा सकता...मैंने देखा कि मुझे अपने साथ रहनेवाले लड़के और लड़कियों के सामने पदार्थ-पाठ रूप होकर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य मेरे शिक्षक

---

[1] 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', सस्ता साहित्य मंडल, १९५९, पृष्ठ २९४
[2] वही, पृष्ठ २९२

बन गये; और अपने लिए नहीं तो उनके लिए मुझे भला होकर रहना चाहिए, यह भी मैंने समझा।"[१]

उन दिनों उनके आत्म-निग्रह और संयम में जो वृद्धि हुई, उसका बहुत कुछ श्रेय गांधीजी ने टाल्स्टाय-फार्म-शिक्षण-संबंधी उत्तरदायित्वों के प्रति अपनी सजगता को दिया है। लेकिन उस फार्म का सत्याग्रह की लड़ाई के विकास में भी काफी मूल्यवान योगदान रहा है। जेल जानेवाले सत्याग्रहियों के परिवारों को तो वहां आश्रय मिला ही, जब गांधीजी ने सत्याग्रह का आखिरी दौर शुरू किया तो अपनी मर्जी से त्याग और गरीबी का जीवन अपनाकर शक्तिशाली ट्रांसवाल सरकार से लगातार जूझ रहे वहां के मुट्ठी-भर देशभक्तों की शानदार मिसाल ने शेष सारी भारतीय जनता को संघर्ष में कूदने के लिए अनुप्राणित भी किया और टाल्स्टाय-फार्म के कठोर संयम और दृढ़ अनुशासन में रहे हुए स्त्री, बच्चों और पुरुषों को तो जेल का कोई डर हो ही नहीं सकता था।

सत्याग्रह की वह लड़ाई पूरे चार साल तक चलती रही। इस बीच भारतीय देशभक्त जेल जाते और जेल से छूटकर आते रहे। भारतीय समाज के मालदार तबके में तो उतना जोश नहीं था, लेकिन गांधीजी के नेतृत्व में जो थोड़े-से चुने हुए पक्के लोग काम कर रहे थे उनके उत्साह और मनोबल में कोई कमी नहीं होने पाई थी। उधर भारत का जनमत भी इस प्रश्न पर विक्षुब्ध हो रहा था। कलकत्ते की बड़ी कौंसिल में गोखले ने गिरमिटियों का दक्षिण अफ्रीका भेजना बन्द कर देने का प्रस्ताव पेश किया था और वह स्वीकार भी हो गया था। भारत में बादशाह जार्ज पंचम के राजदरबार का समय निकट आता जान इंगलैंड की सरकार भी मामले को सुलझाकर भारतीयों को खुश करने के पक्ष में थी। इस सबका नतीजा यह हुआ कि १९११ के फरवरी महीने में दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने घोषणा की कि वह रंगभेदवाली रोक को उठा लेगी, एशियावासी होने के कारण ट्रांसवाल में भारतीयों के प्रवेश पर जो प्रतिबन्ध लगा हुआ है वह नहीं रहेगा, उसके बदले सिर्फ उनकी शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता की कड़ी जांच का प्रतिबन्ध रहेगा।

'२७ मई १९११ को 'इंडियन ओपिनियन' ने घोषणा की कि सरकार के

---

[१] 'आत्मकथा' : सस्ता साहित्य मंडल, १९६०, पृष्ठ ३९०

साथ एक अस्थायी समझौता हो गया है और इसलिए सभी भारतीयों एवं चीनियों को अपने काम-धंधे में लग जाना चाहिए। पहली जून को सभी सत्याग्रही कैदी रिहा कर दिये गए। यह समझौता १९१२ के अन्त तक बना रहा।

१९१२ की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी गोखले की दक्षिण अफ्रीका की यात्रा। पिछले पन्द्रह वर्षों से उनका गांधीजी से पत्र-व्यवहार चला आता था और कलकत्ते की बड़ी कौंसिल के भीतर और बाहर से भी वह दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के अधिकारों की लड़ाई का हर तरह से समर्थन करते रहे थे। उनकी यात्रा की योजना ब्रिटिश सरकार की मंजूरी से ही बनी थी, वह दक्षिण अफ्रीका में सरकारी अतिथि बनकर आये थे और वहां की सरकार ने उन्हें रेल-यात्राओं के लिए सैलून दिया था। गांधीजी ने कैपटाउन पहुँचकर गोखले का स्वागत किया और उनकी पूरी महीने भर की यात्रा के दौरान साथ रहकर उनके दुभाषिये और अनुचर का काम किया। गोखले जहां भी गये उनका शाही ढंग से स्वागत किया गया। वह जिस स्टेशन पर उतरते उसे खूब सजाया जाता, रोशनियां की जातीं और उनके चलने के लिए गलीचे बिछाये जाते। हर जगह उन्हें मानपत्र और किश्तियाँ भेंट की गईं। यूनियन की राजधानी प्रिटोरिया में उन्होंने यूनियन सरकार के मन्त्रिमण्डल से भेंट की और उसके बाद गांधीजी से कहा, "तुम्हें एक बरस के अन्दर हिंदुस्तान लौट आना है। सब बातों का फैसला हो गया। काला कानून रद्द हो जायगा। इमिग्रेशन कानून से वर्ण-भेदवाली दफा निकाल दी जायगी। तीन पौंड का कर उठा दिया जायगा।" इसपर गांधीजी ने जवाब दिया था," मुझे इसमें पूरी शंका है। इस मंत्रिमंडल को जितना मैं जानता हूं उतना आप नहीं जानते।"

दक्षिण अफ्रीका से गोखले की पीठ अभी मुड़ी ही थी कि यूनियन सरकार की धोखाधड़ी जाहिर हो गई। जनरल स्मट्स ने यूनियन पार्लमेंट में कहा कि "नेटाल के यूरोपियन यह कर उठाने को तैयार नहीं हैं, इसलिए यूनियन सरकार गिरमिटयुक्त भारतीय मजदूरों और उनके परिवारों पर लगाये गए तीन पौंड के कर को रद्द करने का कानून पास करने में असमर्थ है।"

सरकार के इस वचन-भंग ने सत्याग्रह-आंदोलन में नई जान फूंक दी।

: १३ :
ग्राखिरी दौर

गांधीजी ने आंदोलन का अंतिम दौर शुरू करने और उसमें अपनेको होम देने का फैसला कर लिया। भारत में गोखले को पता चला तो उन्होंने गांधीजी से उनकी 'शांति सेना' के संख्या-बल के बारे में पूछताछ की। गांधीजी ने कम-से-कम सोलह और अधिक-से-अधिक छियासठ सत्याग्रही सैनिकों के नाम उन्हें लिख भेजे। गोखले-जैसे अनुभवी नेता को इतनी कम संख्या से जरूर आश्चर्य हुआ होगा और यह बात उनकी समझ में नहीं आ सकी होगी कि इतने थोड़े लोगों से शक्तिशाली ट्रांसवाल सरकार को कैसे झुकाया जा सकेगा। गांधीजी की राजनीति को, जो हजारों लोगों को आंदोलन में खींच लाई थी, शुरू-शुरू में तो अवश्य गोखले जान नहीं पाये होंगे।

इस बार गांधीजी ने आंदोलन का सूत्रपात सोलह सत्याग्रहियों से किया, जिनमें कस्तूरबा भी थीं। इन सत्याग्रहियों ने नेटाल की फिनिक्स बस्ती से चलकर ट्रांसवाल में प्रवेश किया। सरकार ने बिना परवाना ट्रांसवाल में प्रवेश करने का आरोप लगाकर इन्हें २२ सितंबर को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। कुछ दिनों बाद ट्रांसवाल-स्थित टाल्स्टाय-फार्म से ग्यारह महिलाओं का जत्था बिना परवाना नेटाल में प्रवेश करने के लिए रवाना किया गया। इन्हें न्यू कैसेल पहुंचना था, जो नेटाल में कोयले की खानों का केन्द्र था। गिरफ्तारी से पहले इन महिलाओं ने खानों में काम करनेवाले भारतीय मजदूरों को काम छोड़ देने के लिए कहा और उन्होंने कहना मानकर हड़ताल कर दी।

कोयला खानों की हड़ताल बहुत बड़ी बात थी। हालत को काबू में रखने के लिए गांधीजी फौरन न्यू कैसेल पहुंच गये। मजदूरों को हिंसा और अव्यवस्था पर उतर आने से रोकना भी बहुत जरूरी था। खान-मालिकों ने गांधीजी को बातचीत के लिए डरबन बुलाया। मालिकों की ओर से कहा गया, "आपका तो इसमें कुछ जाता नहीं है। पर इन बहकाये हुए मजदूरों का जो नुकसान होगा, उसे क्या आप भर देंगे?" गांधीजी ने परम शांति

से जवाब दिया, "मजदूरों ने सोच-समझकर और अपने नुकसान को जानते हुए यह हड़ताल की है। जहांतक नुकसान का सवाल है, आदमी के लिए आत्म-सम्मान खोने से बड़ा नुकसान कोई हो नहीं सकता, जिसे ये मजदूर तीन पौंड के कर के रूप में बरसों के भुगतते आ रहे हैं।" वहां से लौटकर गांधीजी ने खान-मालिकों की धमकियों की बात हड़ताली मजदूरों को बता दी, लेकिन मजदूर डटे रहे; उन्हें अपने 'गांधी भाई' पर पूरा भरोसा था। अब मालिक दमन पर उतर आये। उन्होंने मजदूरों की पानी और बिजली बंद कर दी। इसपर मजदूर मालिकों के क्वार्टरों से अपने बोरिये-बिस्तरे उठाकर बाहर निकल आये। पहले तो गांधीजी की समझ में नहीं आया कि हजारों बेघर और बेकार हड़ताली मजदूरों का वे क्या करें? न्यू कैसेल के भारतीय व्यापारी सरकारी रोष के डर से उन मजदूरों की मदद करने से कतराते थे। एक भारतीय ईसाई परिवार हड़ताली मजदूरों को खाना खिलाने के लिए राजी हो गया। लेकिन हजारों मजदूरों को यों कितने दिन खिलाया जा सकता था? फिर इतनी बड़ी तादाद में बेपढ़े-लिखे और बेकार मजदूरों का शहर में योंही पड़े रहना खतरे से खाली भी नहीं था। गांधीजी ने उन्हें हिजरत करने की सलाह दी और हड़तालियों की उस सारी फौज को पैदल ट्रांसवाल ले जाने का फैसला किया। उन्हें ऐसा विश्वास था कि रास्ते में ही सरकार सारे मजदूरों को पकड़कर जेल में बंद कर देगी; लेकिन अगर किसी वजह से नहीं पकड़े जा सके तो सब लोगों को टाल्स्टाय-फार्म पहुंचा दिया जायगा और वहां मेहनत-मजदूरी करके वे अपनी गुजर-बसर का इंतजाम कर लेंगे।

सिर्फ डेढ़ पौंड डबल रोटी और एक औंस शक्कर के राशन पर उन मजदूरों ने न्यू कैसेल से नेटाल के सरहदी गांव चार्ल्स टाउन तक छत्तीस मील का सफर दो दिन में तय किया। वहां से ट्रांसवाल की सरहद ज्यादा दूर नहीं थी। एक सप्ताह के बाद ६ नवंबर, १०१३ को इस काफिले ने सीमा को पार करना शुरू किया। इन हिजरतियों में २०३७ पुरुष, १२७ स्त्रियां और ५७ बच्चे थे। 'सनडे पोस्ट' अखबार के अनुसार "गांधी के नेतृत्व में चलनेवाला वह विशाल हिजरती दल एक तरह का शम्भु-मेला ही था। देखने में तो सभी कमजोर, बल्कि मरियल; टांगें सूखकर लकड़ी हो रही थीं;

मगर डेढ़ पाव रोटी के राशन पर शेरों के दमखम से दर्राते चले जाते थे।" असंयम और अनुशासन-भंग की घटनाएं भी जरूर हुईं, लेकिन कुल मिलाकर उन गरीब अनपढ़ मजदूरों का साहस, अनुशासन और कष्टसहिष्णुता चकित कर देनेवाली थी। वे राजनीति का ककहरा भी नहीं जानते थे, परन्तु अपने नेता में उनका अडिग विश्वास था और उसका हर शब्द उनके उनके लिए वेद-वाक्य था। रास्ते में एक नाले को लांघते हुए एक बच्चा मां के हाथ से छूटकर धारा में डूब गया। पर उस वीर माता ने दिल छोटा नहीं किया। बोली. "मरे हुए का शोक करके क्या करेंगे ? जीवितों की सेवा करना हमारा धर्म है। और आगे बढ़ गई।

वोक्सरस्ट में गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया। बालफोर में सारे हिजरतियों को गिरफ्तार कर नेटाल पहुंचा देने के लिए स्टेशन ले जाया गया, जहां तीन स्पेशल ट्रेनें इसी काम के लिए खड़ी थीं। लेकिन हड़तालियों ने अपने 'गांधी भाई के हुकुम' के बिना रेलों में बैठने से इनकार कर दिया। हालत बहुत संगीन हो गई। लेकिन नेताओं के समझाने-बुझाने का असर हुआ और वे लोग राजी हो गये। रास्ते में उन्हें खाना नहीं दिया गया और नेटाल पहुंचते ही मुकदमा चलाकर जेल की सजा ठोक दी गई। सरकार ने बंद खानों को चलाने और हड़तालियों को सजा देने की एक नई तरकीब सोच निकाली। हड़ताली जहां-जहां से आये थे उन्हीं स्थानों को एक नया कानून बनाकर जेलों में बदल दिया गया और खानों के गोरे कर्मचारियों को उन जेलों का दारोगा बना दिया। सजा के तौर पर उन खानों में हड़तालियों से जबर्दस्ती काम करवाने का सरकार ने फैसला कर लिया था। लेकिन मजदूर बहादुर थे। उन्होंने काम करने से इनकार कर दिया। इसपर उनकी लातों, घूंसों और कोड़ों तक से पिटाई की गई। इस अमानुषी अत्याचार की खबर चारों ओर आग की तरह फैल गई और पश्चिमोत्तर नेटाल के सभी खेतों और खानों के गिरमिटिये हड़ताल पर उतर आये। यूनियन सरकार के आतंक का नंगा नाच शुरू हो गया—'आग और खून' की नीति पर अमल होने लगा। गरीब भारतीय मजदूरों के निर्मम दमन में गोरों का जातीय अहकार और उनके आर्थिक हित एक हो गये—सशस्त्र घुड़सवार सैनिक निहत्थे, असहाय गिरमिटियों को खानों और खेतों में काम

करने के लिए खदेड़ने लगे।

उधर वोक्सरस्ट-जेल में गांधीजी से पत्थर खुदवाने और झाड़ू लगवाने का काम करवाया जाता था। फिर उन्हें वहां से प्रिटोरिया की जेल में भेजा गया और दस फुट लंबी सात फुट चौड़ी कालकोठरी में बंद कर दिया गया। उजाला इसमें रात को कैदी की निगरानी के समय ही पहुंचता था, बाकी चौबीसों घंटे घुप्प अन्धेरा छाया रहता। यहां न तो गांधीजी को बेंच दी गई और न वह किसीसे बात ही कर सकते थे; और छोटे-मोटे जो कष्ट दिये गए उनकी तो कोई गिनती ही नहीं। यहांतक कि अदालत की पेशीपर हथकड़ी और बेड़ी डालकर ले जाया गया।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार के इस बर्बर दमन ने भारत में खलबली मचा दी और सारा देश भड़क उठा। गोखले को तार और पत्रों में पल-पल की खबर दी जा रही थी। बीमार होते हुए भी उन्होंने धन-संग्रह और नैतिक समर्थन के लिए देशव्यापी दौरा किया। भारत के लाट पादरी बिशप लेफ्राय ने अखबारों में खुला पत्र लिखकर प्रवासी भारतीयों का समर्थन किया। उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज पर सारे देश की नाराज़ी का बड़ा गहरा असर हुआ; उन्हें बताया गया कि "सिपाही-विद्रोह के बाद ऐसा देशव्यापी आन्दोलन दूसरा नहीं हुआ।" उन्होंने अपने एक भाषण में यूनियन सरकार की कड़ी आलोचना की। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रही भारतीयों के साथ भारत देश की पूर्ण सहानुभूति की घोषणा करते हुए उन्होंने यहांतक कहा कि "मेरे-जैसे गैर-भारतीयों की सहानुभूति भी वहां के भारतीयों के साथ है।"[1] इतना ही नहीं, इससे दो कदम आगे जाकर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका सरकार के दमन और अत्याचारों की निष्पक्ष जांच की भी मांग की।

जनरल स्मट्स अपने बुरे इरादों और दक्षिण अफ्रीका के गोरों की हठधर्मी में, जिसे खुद उन्होंने बढ़ावा दिया था, बुरी तरह फंस गये थे। उनकी हालत 'सांप-छछूंदर की-सी हो गई।'[2] इज्जत बचाने के लिए कुछ तो करना ही था, सो एक जांच-आयोग बिठाकर जान छुड़ाई। लेकिन जांच-आयोग

---

[1] हार्डिञ्ज आफ पेनशर्स्ट : 'माई इण्डियन ईयर्स', लंदन, १९४८, पृष्ठ ९१

[2] 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास', मंडल, १९५९, पृष्ठ ३७२

के तीनों सदस्यों में भारतीय तो एक भी न था और तीनों गोरों में दो खुल्लमखुला भारतीयों के कट्टर विरोधी थे। गांधीजी ने स्पष्ट कह दिया कि हमें ऐसे आयोग से न्याय की रंच-मात्र भी आशा नहीं; उचित है कि इस आयोग का फिर से गठन किया जाय। उधर गोखले ने मध्यस्थता में सहायता करने के लिए मि० एंड्रूज और पियर्सन को दक्षिण अफ्रीका भेजा।

जिन खास मांगों पर भारतीयों ने सत्याग्रह किया था वे मंजूर कर ली गईं। गिरमिट-मुक्त मजदूरों पर से तीन पौंड का कर उठा लिया गया; भारतीय हिन्दू और मुस्लिम पद्धति में किये गए विवाहों की वैधता मान ली गई; अंगूठे की छापवाले अधिवासी प्रमाण-पत्र को दक्षिण अफ्रीका में दाखिल होने और रहने का परवाना मंजूर किया गया।

जनरल स्मट्स के पुत्र ने लिखा है कि "मेरे पिता ने गांधी को ऐसी पटकनी दी कि वह चारों खाने चित्त हो गया और अपनी असफलता से खिन्न होकर भारत लौटने के मनसूबे गढ़ने लगा।"[1] लेकिन बाप की राय बेटे से बिलकुल भिन्न है; १९३९ में जनरल स्मट्स ने लिखा था कि "यह मेरे भाग्य की विडम्बना ही कही जायगी कि जिस आदमी का मैं उस समय भी सबसे अधिक आदर करता था उसीका मुझे विरोधी बनना पड़ा।" सत्याग्रह-आन्दोलन के बारे में उनका कहना था, "गांधीजी थोड़ा-सा विश्राम और जेल का एकान्त चाहते थे, वह उन्हें मिल गया। उनके लिए सब-कुछ उनकी योजना के अनुसार ही हो रहा था। कानून और व्यवस्था के संरक्षक के रूप में मुसीबत तो मेरी थी—एक ऐसे कानून को अमल में लाना पड़ रहा था, जिसके पीछे जनता का कोई खास बल नहीं था; और फिर उसी कानून को वापस लेने की हार और जिल्लत भी सहनी पड़ी। मजा तो था गांधीजी का, क्योंकि उनका षड्यन्त्र सफल हो गया था।"[2]

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस कारावास में गांधीजी ने जनरल स्मट्स के लिए एक जोड़ी चप्पल खुद बनाई थी; और जैसाकि ऊपर के उद्धरण से पता चलता है जनरल स्मट्स के मन में भी गांधीजी के प्रति किसी तरह का व्यक्तिगत द्वेष या घृणा का भाव नहीं था। जब लड़ाई खत्म

---

[1] स्मट्स, जे० सी० : 'जैन क्रिश्चियन स्मट्स', पृष्ठ १०६

[2] राधाकृष्णन, एस० द्वारा संपादित : 'महात्मा गांधी', लंदन, १९३९, पृष्ठ २७७-८

हो गई तो "दोनों के बीच शान्ति और सौहार्द का सुखद वातावरण पुनः निर्मित हो गया।"

: १४ :

दक्षिण अफ्रीका की प्रयोगशाला

गांधीजी के इतने प्रयत्नों के बाद भी दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की समस्या स्थायी रूप से हल न हुई; बीमारी कुछ समय के लिए रुक ज़रूर गई, पर निर्मूल न हुई। आगे चलकर तो रंग-भेद और वर्ग-विद्वेष ने इतना विकराल और घिनौना रूप धारण कर लिया और मदांध गोराशाही इस सीमा तक निर्लज्ज और आततायी हो गई जिसका सन् १९१४ के पहले के वर्षों में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि जिन मांगों को लेकर गांधीजी ने आठ साल तक सत्याग्रह किया और अन्त में विजयी हुए वे अब केवल इतिहास का विषय बनकर रह गई हैं।

लेकिन महत्व इस बात का नहीं है कि गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका को क्या दिया और उसके लिए क्या किया, बल्कि इस बात का कि दक्षिण अफ्रीका ने उन्हें क्या दिया और उनके विकास में किस हद तक हाथ बंटाया। वह वहां सहायक वकील की हैसियत से एक व्यापारी पेढ़ी के मुकदमे में मदद करने के लिए सिर्फ १०५ पौंड वार्षिक मेहनताने पर गये थे; फिर वहीं रह गये, सालाना पाँच हजार पौंड तक की वकालत जमाली और उसे अपनी मर्जी से छोड़ भी दिया। पहले दिन बंबई की खफीफा अदालत में एक मामूली-से मुकदमे में उनसे जिरह करते भी नहीं बना था; दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने एक नया राजनैतिक सगठन बना डाला और एक अनुभवी नेता की कुशलता से उसे चलाकर भी दिखाया। वहां के गोरे अफसरों और कूटनीतिज्ञों के द्वेषभाव तथा भारतीय व्यापारियों एवं मजदूरों की असहायावस्था ने उनके सोये हुए तेज को उद्दीप्त कर दिया—अन्तस्थ शौर्य और साहस को जगा दिया, और जैसा कि उन्होंने दादाभाई नौरोजी को लिखा था, वहां इस दिशा में काम करनेवाले वह ही अकेले

आदमी थे। मताधिकार और प्रतिनिधित्व से रहित नेटाल के भारतीयों का अस्तित्व ही खतरे में था; ऐसे समय में गांधीजी ने उनकी सहायता की। बदले में पुरस्कार तो क्या ही मिलना था, धंधा चौपट हो जाने और जान से मार दिये जाने की संभावनाएं ही अधिक थीं। लेकिन दक्षिण अफ्रीका में वकालत और सार्वजनिक कार्य आरम्भ करना गांधीजी के लिए कुल मिलाकर शुभ ही रहा। भारत में उतने सारे महान नेताओं और दिग्गज वकीलों की भीड़भाड़ में उन्हें कौन पूछता! अपने देश में नेतृत्व का गुण उनमें शायद ही विकसित हो पाता। पच्चीस वर्ष की उम्र में जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में नेटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की तो क्षेत्र बिलकुल खाली पड़ा था; श्रीगणेश उन्हींने किया और आगे भी सबकुछ उन्हींको करना था। जिन विचारों का किसी भी सुस्थापित राजनैतिक संगठन में मखौल ही उड़ाया जाता, उन्हें आजमाने की वहां पूरी-पूरी स्वतंत्रता थी। सत्य और प्रतिज्ञाओं का राजनीति से भला क्या वास्ता? बाद में यह प्रश्न भारत में भी बार-बार उठाया गया और यदि गांधी जी विचलित नहीं हुए तो इसका कारण यही था कि दक्षिण अफ्रीका में काफी समय पहले वह राजनीति से इनका संबंध जोड़ चुके थे और उस संबंध को पुख्ता भी कर चुके थे। ऐसी जगह काम शुरू करना, जहां पहले से किसी तरह का राजनैतिक काम न हो और अड़ंगा लगानेवाले धुरंधर नेता भी न रहें, अवश्य उस आदमी के लाभ की बात है, जो राजनीति और शास्त्र-ज्ञान में बिलकुल कोरा हो और आचरण से ही जिसके सिद्धांत निर्मित होते हों। नेटाल और ट्रांसवाल भारत के छोटे-से-छोटे प्रदेशों के बराबर भी नहीं हैं। लेकिन वहां के अनुभव आगे चलकर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में हमेशा गांधीजी को प्रेरणा देते और बराबर काम आते रहे। नेटाल और ट्रांसवाल में उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों का जो पारस्परिक सहयोग देखा, उससे हिंदू-मुस्लिम एकता में उनकी आस्था हमेशा के लिए दृढ़ हो गई। परवाने के काले कानून के खिलाफ सत्याग्रह के उतार-चढ़ाव वह देख चुके थे, इसलिए भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष के ज्वार-भाटों से कभी व्यग्र और विचलित नहीं हुए। हजारों गरीब और अनपढ़ मजदूरों को कोड़ों की मार, गोलीबार और जेल की यातनाओं का सामना करके भी

हिजरत में शरीक होते देखा था, इसलिए देश की लाखों-लाख जनता के लिए सत्याग्रह की उपयुक्तता में उन्हें कोई संदेह नहीं रह गया था।

जो जीवन के निर्माण का काल होता है, उसका अधिकांश गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में ही बिताया था। उनकी नीतियों ने और उनके विचारों और व्यक्तित्व ने भी वही रूप-रेखा ग्रहण की। नैतिक और धार्मिक प्रश्नों में यों तो उनकी रुचि बचपन से थी, लेकिन इन विषयों का विधिवत् अध्ययन करने का अवसर उन्हें दक्षिण अफ्रीका में ही मिला। प्रिटोरिया के क्वेकर मित्र एड़ी-चोटी का पूरा जोर लगाकर भी उन्हें ईसाई न बना सके, पर उन्होंने उनकी धर्म-संबंधी जिज्ञासा को जरूर तीव्र कर दिया था। उसके बाद तो ईसाई, हिंदू और दूसरे धर्म-सिद्धान्तों का भी उन्होंने गंभीर अध्ययन और मनन किया। गीता से अपरिग्रह का पाठ पढ़कर उन्होंने ऐच्छिक गरीबी को अपनाया। 'निःस्वार्थ सेवा' और 'अनासक्त कर्म' के आदर्शों ने दृष्टि की विशदता के साथ ही उनके सार्वजनिक जीवन में अतुलित शक्ति और दृढ़ आस्था का संचार भी किया।

सीमित अध्ययन से जितना लाभ गांधीजी ने उठाया उतना शायद ही किसीने उठाया होगा। पुस्तक उनके लिए घड़ी-भर का मन-बहलाव नहीं, अनुभवों का संचित कोष हुआ करती थी। पुस्तक के विचारों से सहमत होते तो उन्हें आत्मसात् कर लेते और तदनुसार आचरण भी करते, असहमत होते तो उससे हमेशा के लिए अपना मन हटा लेते थे। रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' से इतने प्रभावित हुए कि नेटाल की राजधानी छोड़कर जूलूलैंड के जंगल में जा बसे, ऐच्छिक गरीबी को गले लगाया और सही अर्थों में पसीने की कमाई खाने का प्रयत्न करने लगे। टाल्स्टाय की पुस्तकों का प्रभाव तो और भी जबरदस्त हुआ। आंख मूंदकर अनुकरण तो उन्होंने अवश्य नहीं किया, लेकिन यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उनके अपरिपक्व विचारों को प्रौढ़ता टाल्स्टाय की कृतियों के अध्ययन से ही मिली। आधुनिक राज्य की संगठित अथवा प्रच्छन्न हिंसा और नागरिक के सविनय अवज्ञा अथवा असहयोग के अधिकार-संबंधी अपने विचारों का समर्थन गांधीजी को टाल्स्टाय की किताबों में मिला। आधुनिक सभ्यता, और औद्योगीकरण से लेकर यौन-संबंधों और शिक्षा आदि अनेक विषयों

की टाल्स्टाय ने जो मीमांसा की उससे गांधीजी पूरी तरह सहमत थ। दोनों में पत्र-व्यवहार भी हुआ। जीवन की देहली पर खड़े नवयुवक गांधी ने अपने पत्रों में अपार श्रद्धा और कृतज्ञता निवेदित की है; गार्हस्थिक कष्टों से त्रस्त, आसन्न मृत्यु की छाया में खड़े वयोवृद्ध टाल्स्टाय ने अपने पत्रों में अत्यधिक हर्ष और प्रसन्न विस्मय व्यक्त किया है। और यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि टाल्स्टाय के बाद गांधीजी ने अपने जीवन में उनके कई विचारों पर प्रयोग और परीक्षण किये थे।

गांधीजी की पुस्तक 'हिंद स्वराज्य'[1] पर, जिसे उन्होंने १९०९ में लंदन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हुए जहाज पर लिखा था, रस्किन और टाल्स्टाय के विचारों की स्पष्ट छाप है। इस पुस्तक को पश्चिम के सुझाये हुए 'बम-पिस्तौल' के रास्ते पर चलकर मातृ-भूमि को स्वतंत्र करने के इच्छुक भारतीय क्रांतिकारियों की 'हिंसा की नीति' के जवाब में गांधीजी का सारगर्भित राजनैतिक घोषणापत्र ही समझना चाहिए।

गोखले ने १९१२ में 'हिंद स्वराज्य' को पढ़कर यह भविष्यवाणी की थी कि साल-भर भारत में रह लेने के बाद गांधीजी स्वयं ही अधकचरे विचारोंवाली अपनी इस पुस्तक को नष्ट कर देंगे। लेकिन गांधीजी ने ऐसा कुछ नहीं किया। १९२१ में 'नवजीवन' में उन्होंने लिखा कि 'हिंद स्वराज्य' में सिर्फ एक ही शब्द निकाला गया है और वह भी एक महिला के आग्रह पर। आगे उसी लेख में उन्होंने पाठकों को यह चेतावनी दी है कि "यह समझने की ज़रा भी गलती न की जाय कि 'हिंद स्वराज्य' में जिस तरह के स्वराज्य की कल्पना की गई है, मैं उसे लाने की कोशिश कर रहा हूं। मैं जानता हूं कि भारत अभी उस तरह के स्वराज्य के लिए तैयार नहीं है।...उस तरह के स्वराज्य के लिए मैं खुद को जरूर तैयार कर रहा हूं। बाकी जो आंदोलन है वह तो भारत की जनता जिस तरह का पार्लमिंटरी स्वराज्य चाहती है उसीको पाने के लिए है।"

'हिंद स्वराज्य' का आदर्श तो अकेले गांधीजी और उनके कुछ बहुत ही निकट के सहयोगियों का अपना आदर्श था। रेल, अस्पताल, स्कूली शिक्षा, कल-कारखाने, चुनाव-संस्थाएं और पाश्चात्य सभ्यता की यांत्रि-

[1] 'सस्ता साहित्य मंडल', नई दिल्ली से प्रकाशित

कता, तड़क-भड़क, विलासप्रियता आदि को गांधीजी बुरा कहते थे। लेकिन ये चीजें हमारे देश में आ गई थीं और तरक्की करती जाती थीं। गांधीजी को अपने जीवन में इन्हें बर्दाश्त करना पड़ा, लेकिन एक आवश्यक बुराई के रूप में ही उन्होंने इनसब चीजों को बर्दास्त किया। वह अकसर कहा करते कि "पाश्चात्य सभ्यता और उसकी भौतिक देन न तो हमारे देश के उपयुक्त है और न हमारा देश उसके लिए तैयार ही है।" गांधीजी के ये विचार उनके पक्के अनुयायियों और सहयोगियों को भी या तो समय से बहुत पिछड़े हुए या समय से बहुत आगे के मालूम पड़ते थे। 'हिंद स्वराज्य' का आदर्श अव्यावहारिक हो सकता था, लेकिन एक इसी बात से गांधीजी के निकट उसकी सचाई कम नहीं हो जाती थी। राजनीति, धर्म अथवा यौन-संबंध—समस्या किसी भी तरह की क्यों न हो, वह बड़ी निडरता से अपने विचार व्यक्त करते, उन विचारों के अनुसार आचरण भी करते, और परिणामों के लिए भी उतनी ही निडरता से तैयार रहते थे। उन्होंने अपने विचारों को कभी किसीपर लादा नहीं—यहांतक कि अपने पक्के अनुयायियों और दृढ़ समर्थकों पर भी नहीं। इतना जरूर चाहते थे कि जिसको विश्वास हो जाय, बात जिसके गले उतर जाय वह मानले और वैसा ही आचरण भी करे। अपने सिद्धान्तों और विचारों के मामले में नितांत अकेले रह जाने की भी उन्होंने कोई चिंता न की।

१८९३ में जो आत्म-विश्वास-रहित अनुभवहीन युवक डरबन के बंदरगाह पर उतरा था, १९१४ में दक्षिण अफ्रीका से लौटनेवाला व्यक्ति उससे बिलकुल ही भिन्न था। दक्षिण अफ्रीका में उसे एक क्षण का भी चैन नहीं मिला था। उस महाद्वीप पर कदम रखते ही उसे गोरों की रंग-भेद और वर्ण-विद्वेष की नीति के विरोध में जुट जाना पड़ा था। इस समाचार को लेकर जो लंबी लड़ाई लड़ी गई उसने गांधीजी को संपन्न अनुभवों की प्रौढ़ता प्रदान की और वह अपना एक मौलिक राजनैतिक दर्शन विकसित कर सके और सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलन की एक नई शैली का निर्माण भी, जिसे उन्होंने सत्याग्रह का नाम दिया और जिसने भारतीय राजनीति के आनेवाले तीस वर्षों में बड़े ही महत्व का काम किया।

: १५ :
उम्मीदवारी

"भारत मेरे लिए अनजाना देश है।" दक्षिण अफ्रीका से चलते समय गांधीजी ने एक विदाई-समारोह में ये शब्द कहे थे। १८८८ में वह इंग्लैंड गये और १९१४ में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका छोड़ा, इन छब्बीस वर्षों में वह चार साल से भी कम समय भारत में रहे थे।

लेकिन हिन्दुस्तान के लिए वह अपरिचित नहीं थे। १९१२ में, दक्षिण अफ्रीका की यात्रा से लौट आकर गोखले ने अपने देशवासियों को बताया था कि गांधीजी "जरूर उस धात के बने हैं जिससे वीरों और शहीदों को गढ़ा जाता है, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि वह अपने आत्मबल से आस-पास के मामूली लोगों को भी वीर और शहीद बना देते हैं।"

९ जनवरी, १९१५ को जब गांधीजी बंबई के अपोलो बंदर पर उतरे तो एक राष्ट्रीय वीर-जैसा ही उनका स्वागत हुआ। तीन दिन बाद जहांगीर पेटिट के महल-नुमा भवन में उनके सम्मान में एक शानदार स्वागत-समारोह किया गया। उसमें बंबई के 'बेताज के बादशाह' सर फीरोजशाह मेहता ने, जो कभी गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका के आंन्दोलन को सदेह की दृष्टि से देखते थे, "भारतीय स्वाधीनता संग्राम का वीर" कहकर उनका अभिनंदन किया।

उस समय की भारत-सरकार भी पीछे न रही। १९१५ के नये साल के खिताबों में उन्हें सरकार की ओर से केसरेहिंद स्वर्णपदक प्रदान किया गया। वह 'खतरनाक' राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं समझे गये थे, क्योंकि उनका गोखले जैसे उदार नेता से संबंध था और भारत लौटने से पहले जब वह इंग्लैंड गये थे तो वहां उन्होंने यूरोप के मोर्चों पर सेवा करने के लिए लंदन के भारतीयों का एक एबुलेंस दल भी संगठित किया था। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने एक ऐसा आंदोलन जरूर चलाया था, जिसमें लोगों ने कानून की अवहेलना की और जेल गये थे; लेकिन उस आंदोलन का कारण जितना राजनैतिक उतना ही मानवीय भी था। सभी भारतीयों और वर्ण-

द्वेष अथवा राजनैतिक कारणों से जिनका मन दूषित नहीं हो गया था, ऐसे सभी अंग्रेजों की सहानुभूति उस आंदोलन से थी; फिर भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिंज ने सत्याग्रह-आंदोलन का समर्थन कर दिया तब तो वह और भी 'विद्रोही' न रहा।

गांधीजी के भारत पहुंचते ही गोखले ने उनसे यह वचन ले लिया कि वह पूरे एक साल तक भारत की राजनैतिक परिस्थिति पर अपनी राय जाहिर नहीं करेंगे। यह एक साल गांधीजी के लिए 'उम्मीदवारी का समय' या 'परीक्षण का काल' था।

निर्वाह-योग्य वेतन पर देश और समाज की सेवा में पूरा समय और शक्ति लगानेवाले कुछ चुने हुए समाज-सेवियों और विद्वानों का एक मंडल गोखले ने भारत सेवक समिति (सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी) के नाम से स्थापित किया था। वह गांधीजी को इस समिति का सदस्य बनाना चाहते थे। गांधीजी तुरन्त राजी हो गये, लेकिन समिति की छोटी-सी अंतरंग मंडली को पश्चिमी सभ्यता और आधुनिक विज्ञान के प्रति उनका आलोचनात्मक रुख, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को धार्मिक पैमाने से नापने-जोखने की उनकी प्रवृत्ति और राजनैतिक संघर्ष के लिए सत्याग्रह का उपयोग आदि बातें पसंद न थीं; समिति के उद्देश्यों और गांधीजी के इन विचारों में उन्हें गहरा अन्तर दिखाई देता था। समिति की सदस्यता के लिए आवेदन-पत्र देकर गांधीजी पोरबंदर और राजकोट होते हुए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वविख्यात शांतिनिकेतन की यात्रा पर रवाना हो गये।

लेकिन वहां से उन्हें तुरन्त लौटना पड़ा। पूना में गोखले की मृत्यु हो गई थी, जिसके समाचार गांधीजी को तार द्वारा शांतिनिकेतन में मिले। क्षण-भर के लिए तो वह स्तंभित ही रह गये। गोखले उनके लिए क्या थे इसका पता उनकी 'आत्मकथा' के इस वाक्य से चलता है—"भारतवर्ष के तूफानी समुद्र में कूदते हुए मुझे एक कर्णधार की आवश्यकता थी और गोखले-सरीखे कर्णधार के नीचे मैं सुरक्षित था।"[1] उन्होंने साल-भर तक गोखले की मृत्यु का शोक पाला और जूते नहीं पहने। अपने गुरु और पथ-

---

[1] 'आत्मकथा', मंडल, १९६०, पृष्ठ ४३९

प्रदर्शक गोखले की आज्ञा और इच्छानुसार उन्होंने समिति में दाखिल होने की एक बार फिर कोशिश की। लेकिन समिति की अंतरंग मंडली में उन्हें सदस्य बनाने के सवाल पर अब भी वैसा ही गहरा मतभेद था। तब श्रीनिवास शास्त्री को, जो गोखले के बाद समिति के अध्यक्ष बनाये गए थे, एक पत्र लिखकर गांधीजी ने समिति की सदस्यता का अपना आवेदन-पत्र वापस ले लिया। वह अपना विरोध करनेवालों को धर्म-संकट में नहीं डालना चाहते थे।

१९१५ का पूरा साल गांधीजी व्यक्ति और समाज के सुधार और उन्नति के बारे में ही लिखते और बोलते रहे, लेकिन भारत के राजनैतिक प्रश्नों पर इस बीच उन्होंने, गोखले के आदेशानुसार, एक शब्द भी न कहा। इसका एक कारण यह भी था कि वह देश की राजनैतिक स्थिति का पूरी तरह अध्ययन कर लेना चाहते थे।

दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष के कुछ साथी और संबंधी भी गांधीजी के साथ भारत आ गये थे। वह इंग्लैंड में थे तभी उनके भतीजे मगनलाल गांधी के नेतृत्व में १८ लड़कों का एक दल यहां पहुंच गया था। पहले वह गुरुकुल कांगड़ी में और फिर गुरुदेव के शांतिनिकेतन में रहे। गुरुदेव ने उन्हें बहुत स्नेह से रखा और "लड़कों को भेजकर दोनों की साधना में जीवित संपर्क स्थापित करने का" अवसर देने के लिए गांधीजी को धन्यवाद भी दिया। लेकिन गांधीजी तो इन सबको बसाने के लिए अपना ही आश्रम चाहते थे, जहां दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स की ही तरह वह सेवा, सादगी और त्याग का जीवन बिता सकें।

गोखले ने आश्रम के लिए आर्थिक सहायता का वचन दिया था, लेकिन फरवरी १९१५ में उनकी मृत्यु हो गई। आश्रम के लिए निमंत्रण तो राजकोट, कलकत्ता, हरिद्वार और भारत के हर भाग से आये, परन्तु गांधीजी ने अहमदाबाद को पसंद किया। वहां के उद्योगपतियों ने आश्रम की सहायता करने का वचन दिया था। अहमदाबाद गुजरात का प्रमुख नगर था और वहां बैठकर गांधीजी अपने प्रदेश की ज्यादा अच्छी तरह सेवा कर सकते थे। लेकिन सबसे बड़ा कारण तो यह था कि देश का प्रधान वस्त्रोद्योग केंद्र होने से कताई-बुनाई के प्रयोगों की वहां बड़ी सुविधा थी; और गांधीजी

कताई-बुनाई को ही देश के दरिद्र ग्रामीणों के उद्धार का अचूक सहायक उद्योग मानते थे।

अपनी पुस्तक 'सत्याग्रह-आश्रम का इतिहास'[1] में गांधीजी ने आश्रम को "धार्मिक आचरणवाला सामूहिक जीवन" कहा है। उन्होंने 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग किसी संकुचित अर्थ में नहीं किया है। गांधीजी के आश्रम में संप्रदायगत धार्मिकता और उससे जुड़े हुए अनुष्ठानों आदि के लिए कोई गुंजाइश हो ही नहीं सकती थी। 'धार्मिक आचरण' से उनका अभिप्राय उन एकादश-व्रतों से है, जिनका पालन प्रत्येक आश्रमवासी के लिए अनिवार्य था। उन एकादश व्रतों में सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य मानव-आत्मा को विकसित करनेवाले सार्वदेशिक और सार्वलौकिक गुण हैं; सभी देशों के निवासी चाहें तो इनपर आचरण करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। अस्पृश्यता-निवारण, शरीरश्रम और अभय की आवश्यकता उस समय के भारत की विशिष्ट राजनैतिक और सामाजिक स्थिति के कारण समझी गई थी। जाति-पांति से जर्जर समाज में अछूतों और अंत्यजों को छूना भी पाप समझा जाता था; हाथ से काम करने को हिकारत की निगाह से देखा जाता था; विदेशी सरकार का आतंक जनता पर हावी हो रहा था।

ये व्रत निरे यांत्रिक ढंग से नहीं, बुद्धिपूर्वक रचनात्मक ढंग से पालन करने के लिए बनाये गए थे, जिनकी सहयता से व्यक्ति अपना नैतिक और आध्यात्मिक विकास कर सके। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय (चोरी न करना) आदि सद्गुणों का महत्त्व वैसे तो पुरातन काल से चला आता है, लेकिन मनुष्य जाति जबतक इन्हें अपने दैनिक आचरण का अंग नहीं बना लेती, इनकी आवश्यकता और इनका मूल्य और महत्त्व बने रहेंगे।

सबसे पहले गांधीजी के सत्य को लें। वह इसे कितना अधिक महत्व देते थे, इसका पता उनकी इस बात से चलता है कि "सत्याग्रह आश्रम की स्थापना ही सत्य की खोज, सत्य के प्रयोग और सत्य पर आचरण के लिए की गई है।" लेकिन सत्य कोई बना-बनाया तैयार नुस्खा नहीं है। जो एक के लिए सत्य है, वह दूसरे के लिए नहीं भी हो सकता। गांधीजी इसे स्वीकार करते थे, इसीलिए उनका कहना था, "अपनी आत्मा की रोशनी में सत्य को पह-

---

[1] 'मंडल' से प्राप्य

चानकर उसपर अमल करना सही भी है और हरेक का कर्तव्य भी।"

अहिंसा केवल यही नहीं है कि दूसरों को मारा-पीटा न जाय। यह तो अहिंसा की सिर्फ नकारात्मक धारणा हुई, जिसका स्वाभाविक परन्तु मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष यह होगा कि खाने, पीने और सांस लेने में भी असंख्य जीवों की हत्या होती है ! वास्तव में अहिंसा की मूल प्रेरणा है प्राणी-मात्र के प्रति दया और प्रेम-भाव और इसीको सही तौर पर समझने और अपनाने की जरूरत है। एक बार गांधीजी ने साबरमती-आश्रम में असह्य यंत्रणा से छटपटा रहे बछड़े के वध की आज्ञा दे दी थी तो भारत-भर के सनातनियों में होहल्ला मच गया था। लेकिन गांधीजी तो जीवधारियों को शारीरिक आघात न पहुंचाने को ही अहिंसा नहीं मानते थे। वह बहुत अच्छी तरह जानते थे कि बंदूकें, बम और तलवारें मानव-जीवन का उतना अधिक विनाश नहीं करतीं, जितना ईर्ष्या, द्वेष और वैर-भाव; ये बुराइयां तो मानवता को शिकंजे में कसकर और तड़पा-तड़पाकर मारती हैं। इसीलिए गांधीजी की अहिंसा का लक्ष्य मनुष्य-मात्र को कायिक और मानसिक दोनों तरह की हिंसा से मुक्त करना था।

ब्रह्मचर्य का व्रत उन लोगों के लिए था, जो अपनेको आजन्म जनसेवा के लिए संकल्पित कर देते थे। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या गांधीजी मानव की प्रकृत चेष्टा और स्वाभाविक इच्छा पर कठोर नियंत्रण नहीं लगा रहे थे ? लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्होंने ब्रह्मचर्य को शरीर-श्रम, समाज-सेवा, प्रार्थना और शयन तथा भोजन के कठोर नियमों के साथ संयम और अनुशासन के अन्तर्गत स्थान दिया था।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का व्रत तो इस तरह के आश्रम में एक स्वयंसिद्ध बात लगती है, लेकिन देखा जाय तो इसका सामाजिक अभिप्राय बहुत ही गहरा था। गांधीजी ने गीता से अपरिग्रह का आदर्श ग्रहण किया था। उस आदर्श के अनुसार तो "आदमियों को चिड़ियों के समान होना चाहिए, जिनके न घर होता है, न कपड़े-लत्ते और न पास में एक जून का खाना।" लेकिन जिस समाज में हम रहते हैं उसमें तो इस स्थिति को पाना संभव नहीं है, इसलिए गांधीजी का कहना था कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं घटाकर कम-से-कम कर देनी चाहिए। वह खुद धन-सम्पत्ति तो

पहले ही छोड़ चुके थे और अपनी भौतिक आवश्यकताओं को भी बहुत कम कर दिया था, यहांतक कि अपने भोजन और रहने की कुटिया को अपने से अधिक दूसरे भूखों और आवासहीनों के लिए ज़रूरी मानते थे; और अपने लिए इन चीजों को दूसरे जरूरतमदों की आवश्यकताओं का 'अपहरण' या चोरी समझते थे।

एक बार साबरमती-आश्रम में चोरी हुई और चोर कस्तूरबा का संदूक चुरा ले गये। इस घटना से गांधीजी के सामाजिक विचारों को समझने में काफी सहायता मिलती है। उन्होंने थाने में चोरी की रिपोर्ट नहीं की; चोरी के लिए अपनेको ही जिम्मेदार ठहराया और इस विचार से चिन्तित हो उठे कि चोरों का यह विश्वास सच हो गया कि आश्रम में चुराने लायक चीजें थीं और वह (गांधीजी) पास-पड़ोस के लोगों को, जिनमें चोर भी शामिल थे, आश्रम की भावना के साथ एकाकार नहीं कर सके थे। उन्हें इस बात का भी आश्चर्य हुआ कि कस्तूरबा के पास कोई संदूक भी था। जब बा ने बताया कि उसमें अपने पोते-पोतियों के कपड़े थे तो गांधीजी ने कहा, "अपने कपड़े-लत्तों की खबरदारी वे खुद रखें या उनके मां-बाप, तुम्हें क्या मतलब !" उस दिन के बाद से गांधीजी के साथियों में कस्तूरबा का ही सामान सबसे कम होता था।

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अस्वाद, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शरीरश्रम, सर्व-धर्म-समभाव और स्वदेशी—ये थे गांधीजी के एकादश-व्रत। सभी व्रतों का अपना प्रयोजन और अपना महत्व था। इनके नामोल्लेख से ही पता चल जाता है कि साबरमती-आश्रम के निवासियों का जीवन कितना सादा, संयमित और व्यस्त था। वहां कुछ-न-कुछ शारीरिक श्रम तो सभीको करना पड़ता था। कताई और बुनाई के विभाग थे, गौशाला थी और थोड़ी-बहुत खेती-बाड़ी भी थी। जूठे बरतनों की सफाई और कपड़ों की धुलाई हर आश्रमवासी खुद करता था। नौकर वहां कोई था ही नहीं। आश्रम का वातावरण किसी महंत के मठ या अखाड़े का नहीं, दयालु पर कसकर काम लेनेवाले कर्त्ता या कुलपति की छत्रछाया में एक बड़े परिवार का-सा था। गांधीजी उस परिवार के बापू थे और कस्तूरबा बा या मां। खासा पंचमेल समुदाय वहां इकट्ठा हो गया था। छोटे-छोटे बच्चे

थे तो अस्सी-अस्सी वरस के वूढ़े भी, यूरोपीय और अमरीकी विश्वविद्यालयों के स्नातक थे तो संस्कृत के प्रकांड पंडित भी, गांधीजी के कट्टर भक्त थे तो गांधीजी की हर वात में और हर कदम पर संदेह करनेवाले शंकालु भी। आश्रम एक ऐसी प्रयोगशाला थी, जहां के निवासियों पर गांधीजी अपनी नैतिक और आध्यात्मिक परिकल्पनाओं का परीक्षण किया करते थे। दुनिया के भीड़-भड़क्के से दूर जैसा लोगों के लिए परिवार होता है गांधीजी के लिए आश्रम भी ठीक वैसा ही था। वह परिवार रक्त या संपत्ति के कमजोर वन्धनों से नहीं, समान उद्देश्यों में निष्ठा के दृढ़ धागों से वंधा हुआ था। इस परिवार के कुलपति महान् जनवादी थे और उन्होंने सवेरे और शाम की प्रार्थनाओं के भजन, गीत और श्लोकों का चुनाव करने के लिए भी एक समिति नियुक्त कर दी थी। जव कोई प्रार्थना या शिकायत की जाती तो वह हँसकर कह देते थे, "भाई, मैं तो आश्रम का मेहमान हूं।" अपने आश्रम और सारे देश पर भी वह केवल नैतिक अधिकार के वल पर ही शासन करते थे। जव कोई गलती हो जाती या कोई आश्रम-वासी गंभीर अपराध कर वैठता तो वह सारा दोष अपने सिर पर ले लेते थे और उपवास करके उसका प्रायश्चित्त करते थे।

आश्रम की प्रयोगशाला में गांधीजी दूसरों पर ही नहीं स्वयं अपने पर भी प्रयोग करते थे। उसका आश्रम अहिंसक युद्ध के सैनिक नर-नारियों के प्रशिक्षण की सैनिक अकादमी भी थी। १९१५ के आरम्भ में गांधीजी ने सी० एफ० एड्रूज से तो यही कहा था कि पांच साल तक सत्याग्रह करने का अवसर आता दिखाई नहीं देता; लेकिन अपने आश्रम में वह युवक और युवतियों की मन और भावनाओं को पूरी तरह वश में रखने की शिक्षा वरावर दिये जा रहे थे। गांधीजी सत्याग्रहियों के लिए ऐसी शिक्षा वहुत जरूरी समझते थे, जिससे विपरीत संयोगों में भी वे अपना आपा न भूलें और घृणा तथा हिंसा को अपने पर हावी न होने दें। सावरमती-आश्रम ने आगे चलकर १९२० और ३० के सत्याग्रह-आंदोलनों में वही काम किया, जो फिनिक्स और टाल्स्टाय-फार्म ने दक्षिण अफ्रीका में किया था। इस आश्रम ने रचनात्मक कार्यक्रम के लिए भी कार्यकर्त्ता दिये, जो आंदोलनों के वीच की शिथिलता में राष्ट्र के मनोवल को वनाये रखते थे।

: १६ :

भारतीय राष्ट्रीयता

जब गांधीजी ने भारतीय रंगमंच पर प्रवेश किया तो राष्ट्रीय आंदोलन इस देश के शिक्षित और व्यवसायी वर्गों में अपनी जड़ें जमा चुका था। वकालत की पढ़ाई के लिए गांधीजी के इंग्लैंड जाने के लगभग तीन साल पहले, दिसम्बर १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला जलसा बम्बई में हो चुका था। इंग्लैंड में और वहां से भारत लौट आने के बाद भी गांधीजी की राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। १८९४ से पूरे बीस बरस तक वह दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की अस्तित्व-रक्षा की लड़ाई में लगे रहे थे। वहां से भारत लौट आने के कुछ ही वर्षों के अन्दर, जिस राष्ट्रीय आंदोलन को वह केवल दूर से देखते रहे थे, उसके संचालन के सारे सूत्र उनके हाथ में आगये और मृत्युपर्यंत उन्हींके हाथों में रहे। १९१५ में जब गांधीजी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया उस समय के उसके स्वरूप और उसपर गांधीजी की छाप को ठीक से समझने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन की तात्कालिक पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

भारत पर हमेशा अंग्रेजों का अधिकार बना नहीं रहेगा, इस बात को टामस मनरो और माउंटस्टार्ट एल्फिस्टन-जैसे अंग्रेज प्रशासक बहुत पहले ही समझ गये थे। पश्चिमोत्तर सीमांत की ओर से भारत पर हमले तो अंग्रेजों के आने से पहले भी कई हुए और यहां सातसौ वर्षों से भी अधिक समय तक विदेशी राज्य करते रहे। परन्तु वे भारतीय समाज में खपकर उसीका एक अंग बन गये थे। टामस मनरो के कथनानुसार अत्यधिक हिंस्र और क्रूर विदेशी आक्रमणकारी भारत में आये, लेकिन 'सारी जनता को सिरे से अविश्वसनीय समझने' की सीमा तक भारतीयों से घृणा करनेवाला सिवाय अंग्रेजों के और कोई न आया। सर हेनरी लारेंस ने भी 'काले लोगों' को उन्हींके अपने देश में फालतू जगह घेरनेवाले और महज गोरे शासकों की सुख-समृद्धि के साधन समझने की अंग्रेज प्रशासकों की दूषित मनोवृत्ति

की बड़ी कटु आलोचना की थी।

१८५७ के सिपाही-विद्रोह ने तो गोरे-कालों के बीच की इस खाई को और भी गहरा कर दिया। उस विद्रोह में किसी पक्ष ने अपने विरोधियों के साथ दया का व्यवहार नहीं किया और दोनों ओर से जबर्दस्त जुल्म ढाये गए। विद्रोहियों का सामना कर गदर को कुचलनेवालों की वीरता और कष्टों का अंग्रेजों ने गुणगान किया तो शक्तिशाली विदेशी शासन के खिलाफ हथियार उठाने और लड़ते-लड़ते शहीद हो जानेवालों की याद और गुणगान भारतीय करते रहे। गदर अपने पीछे भय, आतंक और गहरे संदेहों का वातावरण छोड़ गया। गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने महारानी विक्टोरिया को "बिना भेदभाव के घोर प्रतिहिंसात्मक दंड" के दौर-दौरे की बात लिखी; फिर भी गोरे उसे व्यंग्य से 'दयालु कैनिंग' कहते थे, क्योंकि वह उनकी अपेक्षानुसार भारतीयों को दंड नहीं दे रहा था! यही सब देखकर तो 'टाइम्स' का संवाददाता इस दुःखद निष्कर्ष पर पहुंचा था कि "दोनों जातियों में पारस्परिक विश्वास शायद पनप ही न सकेगा"। गोरे फौजीशाहों और नौकरशाहों को पारस्परिक विश्वास को पनपाने की कोई 'चिंता भी न थी, उन्हें चिंता सिर्फ इस बात की थी कि इस मुल्क पर उनकी पकड़ इतनी मजबूत हो जानी चाहिए कि यह फिर कभी सिर उठा ही न सके। इसके लिए सेना में गोरों का अनुपात काफी तादाद में बढ़ा दिया गया, भारतीय सैनिकों में फूट डालने के लिए उनमें पारस्परिक वैमनस्य को बढ़ावा दिया जाने लगा। काले सिपाही ऐसे प्रदेशों से छांट-छांटकर भर्ती किये गये, जिनकी स्वामिभक्ति निस्संदेह थी और जिन्होंने गदर में गोरों की दिल खोलकर मदद की थी। रियासतों से नरमी का वर्ताव किया गया और रियायतें दी गईं, जिससे वे भविष्य में विद्रोह को रोकने में सहायता दें। एक नई खाई ने गोरी नौकरशाही और भारतीय जनता को बिलकुल अलग-अलग कर दिया था। एक ओर था प्रभुता का उन्मत्त अहंकार और हेकड़ी, दूसरी ओर थी जबर्दस्त दीनता और गुलामी। हालत यहां तक गिर चुकी थी कि गदर के बाद के साठ वर्षों में किसी भी अधिकारी अथवा गैर-अधिकारी अंग्रेज से राजा राममोहनराय की तरह बराबरी के दावे से मिलने और बात करनेवाला कोई भारतीय पैदा ही न हुआ।

लोगों को निहत्थे करके और गोरी सैनिक टुकड़ियों की ताकत बढ़ाकर भारत में शांति स्थापित कर दी गई थी। संगीन की नोकों पर शांति भले ही कायम कर दी जाय, पर उन नोकों पर उसे हमेशा के लिए बिठाकर तो रखा नहीं जा सकता। विदेशी शासन के खिलाफ जनता के रोष को और सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक शक्तियों के उभार को कैंटूनमेंटों की शांत-एकांत दुनिया और 'सिविल लाइनों' में बसनेवाले गोरे रोक नहीं सकते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों के आधिपत्य के बाद भारत में कुल ३१ अकाल पड़े—सात शुरू के पचास वर्षों में और चौबीस बाद के पचास वर्षों में। १८७० से ८० के बीच पूर्वी बंगाल और दक्षिण के किसानों की हालत इतनी खराब हो गई और उनमें इतना असंतोष फैला कि सरकार को मजबूर होकर किसानों की रक्षा और अकाल में उनकी सहायता के कानून बनाने पड़े। असंतोष की यह गूज शहरों में भी सुनाई देने लगी थी। जान स्टुअर्ट मिल आदि स्वतंत्र विचारकों की कृतियों से प्रभावित भारत का नवशिक्षित वर्ग अपने देश में भी ब्रिटिश उदारतावाद के सिद्धांतों को लागू हुआ देखना चाहता था; अंग्रेजों की कथनी और करनी का भेद उससे छिपा न रहा।

आरंभ में तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी अंग्रेजों के प्रसंशक थे। अपने बचपन में उन्होंने इंग्लैंड में जान ब्राइट के भाषण सुने थे और उनके विश्वव्यापी महान् उदारतावाद से बड़े प्रभावित हुए थे। युवक मदनमोहन मालवीय भी अंग्रेजों की पार्लामेंटरी प्रथा के प्रशंसक और भक्त थे। जब मैकाले ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश किया तो यहां के ब्रिटिश अधिकारियों का माथा ठनका था और उन्हें जो खतरा दिखाई दिया वह आगे चलकर ठीक ही साबित हुआ; वे जानते थे कि मैकाले की शिक्षा-पद्धति की उपज नये भारतीय तरुण मैकाले के उत्तराधिकारियों से भविष्य में यह मांग अवश्य करेंगे कि उन्हें अपनी महान् ब्रिटिश परंपराओं के ही अनुसार भारत में रहना और बरतना चाहिए। अंग्रेज अधिकारी न तो उदारतावादी थे और न आमूल परिवर्तनवादी, लेकिन भारत का नवोदित मध्यमवर्ग ब्रिटेन की सारी अच्छाइयों का संबंध वहां की उदारतावादी

राजनीति और आमूल परिवर्तनवादी अर्थनीति के साथ जोड़ता था। पश्चिमी शिक्षा पाये हुए इन भारतीयों की पहली मांग अपने देश के प्रशासन में हिस्सा पाने की मांग थी। १८७७-७८ में भारत में जो पहला संगठित आंदोलन हुआ वह सरकारी नौकरियों में भारतीयों को लिये जाने के ही प्रश्न पर था। बंगाल के सुप्रसिद्ध वक्ता सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने देशव्यापी दौरा किया और सर्वत्र बड़ी-बड़ी सभाओं में यह मांग की कि इंडियन सिविल सर्विस की प्रवेश-परीक्षाएं भारत और इंग्लैंड दोनों जगह होनी चाहिए।

इन्हीं दिनों धार्मिक और सामाजिक सुधार के आंदोलन भी शुरू हुए, जिन्होंने देश के मध्यम वर्ग में नया जोश भर दिया और भारत के स्वर्ण युग की ओर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद ने हिन्दू धर्म का परिष्कार किया और भारतीयों को अपनी महान आध्यामिक एवं सांस्कृतिक धरोहरों का दिग्दर्शन कराकर लंबी दासता की सहज उपज राजनैतिक अवसाद और हीन भावना से मुक्त किया। मैक्स मूलर-जैसे विदेशी विद्वानों और आलकाट-जैसे थियोसोफिस्टों ने भारतीय दर्शन और धर्म के अक्षय कोष की ओर ध्यान आकृष्ट कर भारतीयों के आत्म-सम्मान में वृद्धि की।

गदर के बाद से दोनों जातियों के अलगाव और गोरे शासकों के दूर-दूर रहने की नीति से भारतीयों को पग-पग पर लांछित और अपमानित होना पड़ता था। उन दिनों किसी भी गोरे मालिक का अपने भारतीय नौकर या 'काले कुली' की जान लेकर अदालत से इस दलील के बल पर कि मरनेवाले की तिल्ली बढ़ी हुई थी, बरी हो जाना मामूली बात थी। नौकरशाही के टुकड़ों पर पलनेवाले वर्ग की चाटुकारिता से नफरत भी की जाती थी और उन्हें बढ़ावा भी दिया जाता था। एक दिलचस्प उदाहरण १८६८ का वह बाकायदा सरकारी प्रस्ताव है, जिसके द्वारा देशी सज्जनों को यूरोपियन काट का बूट या जूता पहनकर 'सभ्यवेश में' दरबारों और दूसरे उत्सवों में शरीक होने की इजाजत बख्शी गई थी और देशी जूतियां पहननेवालों पर यह पाबंदी लगाई गई थी कि 'निर्धारित सीमा में' आते ही उन्हें अपनी जूतियां उतार देनी चाहिए। अदालती कार-

वाइयों में रंग और वर्ण के आधार पर किये जानेवाले पक्षपात को खत्म करने के लिए लार्ड रिपन के 'इलवर्ट विल' का गोरे अफसरों और अंग्रेज़ व्यापारियों ने जैसा जवर्दस्त विरोध किया, उसने भारतीय मध्यम वर्ग की आंखें खोल दीं। आखिर वह बिल पास हुआ और अपने संगठित आंदोलन से सरकार को झुकाने की वात भारतवासियों की समझ में आ गई।

देश में आधुनिक उद्योगों की स्थापना से राष्ट्रीय उभार में एक नया महत्वपूर्ण तत्त्व और जुड़ा। पहली सूती कपड़ा मिल वंबई में १८५४ में स्थापित हुई और पचास वर्ष के अन्दर इनकी संख्या दोसौ हो गई। लेकिन भारतीय उद्योग इंग्लैंड के उद्योग से प्रतिस्पर्द्धा करें, यह ब्रिटिश सरकार फूटी आंखों भी नहीं देख सकती थी। १८८२ में सरकार ने कपड़े पर से आयात-कर उठा लिया तो भारतीय उद्योगपति को कोई मुगालता नहीं हुआ। वह जानता था कि ऐसा करके सरकार भारतीय उपभोक्ता को कोई राहत नहीं पहुंचा रही, वल्कि लंकाशायर और मैनेचेस्टर के ब्रिटिश उत्पादकों की ही मदद कर रही थी।

इसे इतिहास की विडवना ही कहा जायगा कि भारत से अंग्रेजी राज्य को समाप्त करनेवाली इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रणेता और संस्थापक एक अंग्रेज थे। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में ए० ओ० ह्यू म के नाम से विख्यात और समादृत मि० एलन ओक्टेवियन ह्यूम भारत सरकार के कृषि-सचिव थे। तीस वरस से भी अधिक समय इंडियन सिविल सर्विस में नौकरी करने के वाद उन्होंने जव अवकाश ग्रहण किया तो इनका ऐसा विश्वास था कि इंग्लैंड ने भारत में शांति तो अवश्य स्थापित कर दी, लेकिन वह यहां की आर्थिक समस्याओं को हल नहीं कर सका, और सरकार का जनता से कोई संपर्क नहीं रह गया है। इसलिए प्रशासन में भारतीयों का कुछ प्रतिनिधित्व नितांत आवश्यक है। उन्होंने एक ऐसे संगठन की आवश्यकता महसूस की "जो हमारे ही कार्य से उत्पन्न महान और विकसित होती हुई शक्ति की रोक-थाम कर सके।" उस समय के वाइसराय लार्ड डफरिन से मिलकर जब उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर चर्चा करने के लिए एक अखिल भारतीय वार्षिक सम्मेलन की अपनी योजना वताई तो वाइसराय ने यह सलाह दी कि उस सम्मेलन में प्रशासन-संवंधी

प्रश्नों पर भी चर्चा होनी चाहिए। ह्यूम साहब ने भारत के सभी प्रमुख नगरों का दौरा किया, इंग्लैंड भी गये और प्रथम अधिवेशन के निर्धारित समय पर लौट भी आये। २८ दिसम्बर, १८८५ को कलकत्ता के प्रमुख बैरिस्टर श्री डब्ल्यू सी० बनर्जी की अध्यक्षता में भारत के विभिन्न भागों से आये हुए बहत्तर प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। बनर्जी महाशय ने अपने भाषण में कहा कि "यूरोप के ढंग की शासन-प्रणाली की अभिलाषा करना राजद्रोह नहीं हैं।" १८८५ में पहले प्रस्ताव पर जो पहला भाषण दिया गया था उसका आरम्भ इस प्रकार होता है—"भारत में शक्तिशाली ब्रिटिश शासन लाने के लिए उस करुणा-निधान परम पिता परमेश्वर को कोटिशः धन्यवाद।" ऐसे राजभक्तिपूर्ण भाषणों की भरमार के ही कारण आज का समालोचक उस समय की कांग्रेस की कार्रवाइयों को 'राजनीतिक भिखमंगा-पन' कहता है।

कांग्रेस के शुरू के पच्चीस अधिवेशनों में से पांच की अध्यक्षता अंग्रेजों ने की थी। १८९२ में लंदन में भी एक अधिवेशन करने का सुझाव पेश हुआ था और १९११ में यदि उनकी पत्नी की मृत्यु न हो जाती तो रामज़े मैक्डानल्ड उस वर्ष के अधिवेशन की अध्यक्षता करते। उन दिनों कांग्रेस के अधिवेशनों में प्रतिवर्ष जो प्रस्ताव पारित किये जाते थे, उन्हें आज के हिसाब में तो जवानी जमा-खर्च ही कहा जायगा। लेकिन उस समय गोरी नौकरशाही उन निर्दोष लच्छेदार भाषणों को भी खतरनाक समझती थी। जल्दी ही सरकार का सरपरस्ती और बढ़ावा देने का रुख बदला और कुछ-कुछ नाराजी का हो गया। १८८५ में कांग्रेस के जन्म पर आशीर्वाद देने-वाले लार्ड डफरिन ने तीन ही वर्ष बाद एक "बहुत छोटा-सा अल्पमत" कह-कर उसका निरादर किया। १८९० में सरकारी अधिकारियों को यह आदेश दिया गया कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों में शरीक न हों। १८९८ में लार्ड एल्गिन ने शिमला के युनाइटेड सर्विसेज क्लब में भाषण करते हुए कहा, "भारत तलवार से जीता गया है और तलवार से ही उसपर कब्जा रहेगा।" लार्ड एल्गिन के उत्तराधिकारी लार्ड कर्जन ने सन् १९०० में भारत के उप-निवेश सचिव को यह आश्वासन दिया कि "कांग्रेस टूट रही है और मेरी परम अभिलाषा है कि अपने भारत में रहते हुए इसके शांतिपूर्वक निधन में सहा-

यता करूं ।"

लार्ड कर्जन ने अवश्य सहायता की, लेकिन कांग्रेस के मर जाने में नहीं, बल्कि उसमें और राष्ट्रीय आंदोलन में नये प्राण पूरित करने में। बंग-भंग का प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से जो महत्व रहा हो, बंगालियों ने उसे अपनी एकता पर आक्रमण ही समझा और एक प्रचण्ड विरोधी आंदोलन उठ खड़ा हुआ। उस आन्दोलन का स्वरूप था, विदेशी (ब्रिटेन में बनी वस्तुओं) का बहिष्कार ; और अंग्रेजों की हत्याओं की छुटपुट घटनाएं भी घटीं।

१९०५ से कांग्रेस में गरम और नरम दल का संघर्ष आरंभ हुआ। १९०६ में फूट को टालने के लिए वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी को ८१ वर्ष की उम्र में इंग्लैंड से बुलाकर कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया गया। दूसरे वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में बड़ी ही तनावपूर्ण स्थिति में हुआ। नरम दल को अधिवेशन में अपने बहुमत का विश्वास था तो गरम दल को अपनी देशव्यापी लोकप्रियता का। पहले ही दिन हंगामा हो और उस गड़बड़ी में अधिवेशन को स्थगित कर देना पड़ा। अधिवेशन में आये हुए १६०० प्रतिनिधियों में नरम दल के समर्थकों की संख्या एक हजार के लगभग थी। इन समर्थकों को जमा करके नरम दलवालों ने पुलिस के संरक्षण में अपना एक कन्वेन्शन किया और विधान पास करके प्रचलित शासन-पद्धति में 'वैधानिक उपायों से' सुधारों के प्रति अपने विश्वास को फिर से दुहराया। इस पहली मुठभेड़ में गरम दलवालों की हार हुई।

सूरत-कांग्रेस के एक निपुण पर्यवेक्षक वैलेंटाइन शिरोल के मतानुसार "सूरत में जो कुछ हुआ वह देशव्यापी घटना-चक्र का एक मामूली-सा प्रति-बिंब ही था...स्वराज्य का नारा ब्रिटिश भारत के हर सूबे में गूंज रहा था।" अंग्रेजों और राजभक्त भारतीयो की छुट-पुट हत्याओं में इस असंतोष की अभिव्यक्ति हो रही थी। भाषाओं के अखबार, खास तौर पर श्री बाल गंगा-धर तिलक का मराठी 'केसरी' और श्रीअरविंद घोष का बंगाली 'वंदेमातरम्' जनता के जोश को उभाड़ रहे थे। कुछ आतंकवादी समितियां भी यहां-वहां बन गई थीं। बाद में आतंकवादी क्रांतिकारी आंदोलन की शाखा-

प्रशाखाओं की जांच-पड़ताल के लिए सरकार ने जो समिति नियुक्त की थी उसकी राय में यह आंदोलन "काफी फैला हुआ, मजबूत और खूब सोच-विचारकर चलाया जा रहा था।" गांधीजी उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में थे। अपने देश में आतंकवाद की इस बढ़ती हुई लहर से वह इतने चिंतित हुए कि भारत की राजनैतिक हलचलों के तटस्थ पर्यवेक्षक होते हुए भी उन्होंने अपने पत्र 'इंडियन ओपिनियन' में भारतीय आतंकवादियों को समझा-कर सही राह पर लाने की दृष्टि से एक लेखमाला शुरू कर दी।

इधर संवैधानिक सुधारों के मीठे वादों से फुसलाकर सरकार नरम-दल को अपने साथ बनाये रखने की कोशिश कर रही थी। लेकिन सुधार के वादे इतने मामूली होते और इतनी देर में किन्तु-परन्तु के साथ पूरे किये जाते कि उनका सारा महत्व ही नष्ट हो जाता था। ऐसे वादों से जनता को संतोष तो क्या ही होता, सुधारों की उसकी भूख और तेज हो जाती थी। मिंटो-मार्ले सुधारों के कारण धारासभाओं में निर्वाचितों की संख्या बढ़ जरूर गई थी, लेकिन बहुमत तो अब भी सरकारी पक्ष का ही था। लार्ड मार्ले के कथनानुसार सरकार "पार्लमिंटरी मताधिकार का नाम भी नहीं लेना चाहती थी। हम पार्लमिंट नहीं कौंसिल चाहते थे।" और सबसे बुरी बात तो यह हुई कि सांप्रदायिकता के आधार पर मुसलमानों का पृथक् निवार्चन का अधिकार मंजूर कर लिया गया। जनवाद के जन्म के साथ ही उसमें विष घोल दिया गया।

१९०० के बाद के देशव्यापी राजनैतिक जागरण और उत्साह की हवा मुसलमानों को भी लग चुकी थी। मुस्लिम लीग की स्थापना १९०६ में हुई। शुरू से ही लीग मुसलमानों की वफादारी और कौंसिलों तथा नौकरियों में मुसलमानों की तादाद बढ़ाने पर जोर देती रही थी। लेकिन लीगी नेताओं की नई पीढ़ी बुजुर्गों के पहनाये वफादारी के चोगे को नोचने लगी थी। उनके असंतोष का कारण स्थानीय या घरेलू बिलकुल नहीं था, वह कारण था हिंदुस्तान की सर जमीन के बाहर का। गदर ने मुसलमानों के हुकूमते इलाहिया के सारे सपनों को चूर-चूर कर दिया था, अब बाहर के मुस्लिम देश ही उनकी प्रेरणा का स्रोत रह गये थे। लेकिन खुद उन देशों की हालत अच्छी नहीं थी। मध्यपूर्व की घटनाओं ने भारतीय मुसलमानों

को बुरी तरह व्यग्र कर दिया था। फारस (वर्तमान ईरान) को रूस और इंग्लैंड ने दो प्रभाव-क्षेत्रों में बांट लिया था। बलकान-युद्ध से अंग्रेजों ने अपनेको दूर ही रखा था, परंतु महान तुर्क साम्राज्य उस लड़ाई में अपने कुछ यूरोपीय इलाके खो बैठाया। बलकान की लड़ाई इतिहास के सबक की दृष्टि से तो पुराने-धुराने तुर्क साम्राज्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप में राष्ट्रीयता की उभरती हुई शक्तियों की ज़ोर आजमाई थी, लेकिन भारतीय मुसलमानों के लिए वह सिर्फ ईसाई ताकतों के खिलाफ इस्लाम के जीवन-मरण की जंग थी। इक़बाल और शिबली-जैसे शायरों ने और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और मोहम्मद अली-जैसे आलिम फाज़िल (विद्वान्) और सियासतदानों ने मुस्लिम मध्यमवर्ग को दुनिया में इस्लाम पर मंडरा रहे खतरों से आगाह किया। नतीजा यह हुआ कि मुसलमानों की वफादारी के कौल का रंग फीका पड़ने लगा। १९१३ में मुस्लिम लीग ने अपने उद्देश्य की घोषणा की तो उसमें सिर्फ मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा की ही बात नहीं थी "हिंदुस्तान के लिए मौजूँ हुकूमत खुदइख्तियारी को हासिल करने की बात भी कही गई थी। उस साल कांग्रेस के अध्यक्ष एक मुसलमान, नवाब सैयद मुहम्मद थे। उन्होंने लीग के इस विस्तारित उद्देश्य का स्वागत किया और यह अभिलाषा प्रकट की कि दोनों संस्थाओं को देश-हित के लिए पारस्परिक सहयोग करना चाहिए।

१९१४ में जब पहला विश्व-युद्ध शुरू हुआ तो भारतीय मुसलमान अच्छी-खासी दुविधा में पड़ गये। दुविधा का कारण एक मुस्लिम नेता के शब्दों में यह था कि "हमारे खलीफा (तुर्की की सरकार) और हमारे बादशाह (इंग्लैंड की सरकार) में जंग छिड़ गई है।" कहने का तात्पर्य यह कि मुस्लिम मध्यमवर्ग की राजनैतिक चेतना को बाहर की घटनाओं ने उभारा और हिंदू मध्यमवर्ग की राजनैतिक चेतना को देश की छाती पर बैठी हुई विदेशी सरकार के खुले-मुंदे कृत्यों ने। १९१६ में जब कांग्रेस और लीग का समझौता हुआ तो असंतोष की ये दोनों धाराएं मिलकर एक हो गईं।

लेकिन १९१५ में जब गांधीजी लौटकर भारत आये तो देश के राजनैतिक आंदोलन में मंदी थी। कांग्रेस पर फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोखले-जैसे नरमदली नेताओं का आधिपत्य था। गरम दल के

नेता तिलक अभी जेल से छूटे ही थे और चुप थे। पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय देशनिकाले की सजा भुगत रहे थे। अरविंद घोष राजनीति से संन्यास लेकर पांडिचेरी जा बैठे थे। तुर्की के मामले में अंग्रेजी नीति के कटु आलोचक मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और अली-बंधु कुछ ही महीनों में जेल में ठूस दिये गए। इनसब कारणों से राजनैतिक आंदोलन काफी शिथिल हो गया था और युद्ध में उलझी हुई अंग्रेज सरकार के लिए राष्ट्रीय आंदोलन की यह शिथिलता वरदान ही थी।

: १७ :

शानदार अलगाव

१९१५ के शुरू के दिनों में देश की राजनीति में जो सुस्ती घर कर गई थी, अगले वर्ष होमरूल आंदोलन के छिड़ते ही वह काफूर हो गई। इस आंदोलन की प्रवर्तक सुप्रसिद्ध थियोसोफिस्ट नेता, अपने समय की शिक्षा-विशेषज्ञ श्रीमती एनी बेसेंट मूलतः आयरिश थीं। वह भारत में आकर बस गई थीं और यहां की सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के लिए अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक काम करती रहीं। अपने राजनैतिक और सामाजिक कार्यों के द्वारा उन्होंने यहां काफी ख्याति अर्जित कर ली थी। वह बहुत अच्छी लेखिका, कुशल वक्ता और अप्रतिम संगठनकर्त्री भी थीं। प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार जार्ज बर्नाड शा ने एक बार उनकी कार्यक्षमता का उल्लेख करते हुए कहा था, "स्त्री होकर भी वह तीन आदमियों के बराबर काम कर सकती हैं।" श्रीमती बेसेंट ने पहला विश्व-युद्ध छिड़ने के कुछ महीने पहले लंदन की एक सभा में कहा था, "भारत की राजभक्ति का मूल्य भारत की स्वतंत्रता है।" होमरूल के प्रस्तावित आंदोलन के बारे में अपने अंग्रेजी दैनिक 'न्यू इंडिया' में लिखना और प्रचार करना तो उन्होंने १९१८ की बसंत से ही आरम्भ कर दिया था। उसी वर्ष दिसंबर में, जब कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो अपने भावी आंदोलन के पक्ष में लोकमत बनाने और समर्थन प्राप्त करने के लिए वह उसमें शरीक भी हुईं। कांग्रेस के नरम दल ने विरोध किया

परन्तु सितंबर १९१६ में उन्होंने होमरूम लीग[1] की स्थापना कर ही दी।

श्रीमती एनी बेसेंट ने गांधीजी को भी होमरूम लीग के संस्थापकों में शरीक करना चाहा था, लेकिन वह लड़ाई के समय ब्रिटिश सरकार को परेशानी में डालनेवाले किसी भी राजनैतिक आंदोलन के पक्ष में नहीं थे। संवैधानिक सुधारों का समय, गांधीजी की राय में, युद्धकाल में नहीं, उसके बाद आता था। उनका विश्वास था कि युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वशासन का अधिकार अवश्य मिल जायगा। इसके विपरीत श्रीमती बेसेंट की यह राय थी कि ब्रिटेन जबतक युद्ध की मुसीबत में फंसा हुआ है तभी तक उसे भारत को स्वतंत्र करने के लिए मजबूर किया जा सकता है। इसका गांधीजी ने यह जवाब दिया था, "आपको अंग्रेजों पर अविश्वास हो सकता है, श्रीमती बेसेंट, मुझे नहीं; और लड़ाई के जमाने में मैं विरोध करनेवाले किसी भी आंदोलन की मदद नहीं करूंगा।"

श्रीमती एनी बेसेंट की होमरूल लीग का उद्देश्य संवैधानिक उपायों से भारत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वराज्य प्राप्त करना था। आज यह उद्देश्य अवश्य उतना प्राणवान नहीं लगेगा, लेकिन १९१६-१७ में इसने भारतीय राजनीति में बिजली का-सा असर किया था। देश की पढ़ी-लिखी जनता इस आंदोलन में इसलिए तेजी से खिंच आई थी कि कुछ सीमा तक तो यह उनकी आकांक्षाओं को ध्वनित करता था, युद्ध-जनित व्यापक असंतोष को व्यक्त करने का एक माध्यम भी था। श्रीमती बेसेंट की संगठनात्मक क्षमताओं और प्रचार-संबंधी सूझ-बूझ ने जहां शिक्षित वर्ग की राजनैतिक चेतना को उद्‌बुद्ध किया वहीं देश के राजनैतिक जीवन में जोश और उत्साह भी भर दिया।

तत्कालीन भारत-सरकार होमरूल आंदोलन की प्रगति से कितनी चिंतित हो उठी थी, इसका पता उस समय के होम मेंबर (गृहमंत्री) सर-

---

[1] श्रीमती बेसेंट के पहले, २२ अप्रैल १९१६ को तिलक भी एक होमरूम लीग स्थापित कर चुके थे। १९१४ में छः बरस की कठोर नजरबन्दी से रिहा होकर वह लौट आये थे। १९१६ में, देश के राजनैतिक जीवन को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से, उन्होंने होम रूल लीग स्थापित की; और जेल से मुक्त होने पर देशवासियों से जो एक लाख रुपये की थैली मिली थी, वह लीग को दे दी।—अनुवादक

रेजिनाल्ड क्रेडॉक के निम्न विचारों से भली-भांति चल जाता है। ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ समाचार-पत्रों के विषैले प्रचार की बात करते हुए वह कहते हैं कि होमरूल की सिफारिश संवैधानिक सुधार के रूप में उतनी नहीं की जाती जितनी भारत में ब्रिटिश शासन की सारी बुराइयों और शिकायतों से छुटकारा दिलानेवाले एकमात्र उपाय के रूप में। आंदोलन के प्रबल जन-समर्थन से ब्रिटिश शासन बड़ी मुश्किल में पड़ गया। मिस्टर क्रेडाक के शब्दों में "सारा शिक्षित समुदाय पूरी तरह श्रीमती बेसेंट और तिलक के पीछे है। नरमदलीय नेताओं में से जिनका प्रभाव था, वे अब रहे नहीं, एक-एक कर मर गये और जो अब हैं उनका शिक्षितवर्ग पर कोई असर नहीं है।"

श्रीमती बेसेंट का 'घमंडिन' और 'नेतृत्व की भूखी' तथा तिलक का 'ब्रिटिश-मात्र से घोर घृणा करनेवाले' के रूप में उपहास करनेवाले क्रेडॉक को इन दोनों नेताओं के द्वारा उत्पन्न की हुई प्रशासकीय और संवैधनिक समस्याओं की गंभीरता को भी स्वीकार करना पड़ा, "भारत में राजद्रोह किनारे को तोड़-फोड़ जानेवाली समुद्री लहरों की तरह है। १९०७-८ में जोर का रेला आया और तोड़-फोड़कर लौट गया। अब फिर रेला आ रहा है, जो लगता है कि काफी ऊपर तक चढ़कर तोड़-फोड़ करेगा। अक्षत भूमि को बचाने के लिए हमें जल्दी से बांध बना लेना चाहिए।"

यह होमरूल आंदोलन का ही प्रभाव[1] था कि अगस्त १९१७ में बादशाह सलामत की सरकार को "साम्राज्य के अविच्छिन्न अंग के रूप में भारत को क्रमशः उत्तरदायी शासन प्रदान किये जाने की दृष्टि से प्रशासन के हर विभाग में भारतीयों के उत्तरोत्तर समावेश और देश में स्वशासन की

---

[1] होमरूल आंदोलन का एक शुभ परिणाम यह भी हुआ कि राष्ट्र के कार्यकर्ताओं में एक केंद्र में मिलकर काम करने की अभिलाषा जाग उठी और १९१६ के दिसम्बर महीने में लखनऊ के कांग्रेस-अधिवेशन में गरम और नरम दोनों दलों के नेता आपसी मतभेद को भुलाकर राष्ट्र की हितचिंता के लिए एक मंच पर इकट्ठा हुए उसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाला लाजपतराय, श्रीमती बेसेंट और तिलक सभी ने भाग लिया। गांधीजी उसमें प्रतिष्ठित दर्शक के ही रूप में शरीक हुए थे।
—अनुवादक

संस्थाओं के क्रमिक विकास" को अपनी भारत-संबंधी नीति का लक्ष्य घोषित करना पड़ा।

गांधीजी अभी तक भारतीय राजनीति के दर्शक ही थ। उन्होंने होम-रूल आंदोलन में कोई भाग नहीं लिया और १९१६ की लखनऊ-कांग्रेस के अधिवेशन में लीग और कांग्रेस के बीच जो समझौता हुआ, उसमें भी उनका कोई हिस्सा नहीं था। इस समय राष्ट्रीय आंदोलन पर छाप गांधीजी की नहीं तिलक और श्रीमती बेसेंट की थी और सरकार के निकट भी उन्हीं दोनों का महत्व था। १९१७ में एविडन मांटेगू ने अपनी डायरी में लिखा था कि "इस समय भारत में सबसे प्रभावशाली व्यक्ति तिलक ही हैं।" गांधीजी के बारे में मांटेगू की राय थी कि "वह निरे समाज-सुधारक हैं। जनता के कष्टों को मिटाने की उनकी अभिलाषा बड़ी तीव्र है और वह यह काम अपनी प्रसिद्धि के लिए नहीं, देशवासियों की दशा सुधारने की शुभ निष्ठा से करते हैं। कुलियों-जैसे कपड़े पहनते हैं। आगे आने से बचते हैं; और अपनी संपन्नता से विमुख हवा में जीनेवाले शुद्ध आदर्शवादी हैं।'

तत्कालीन राजनीति में गांधीजी की ख्याति न होने का एक कारण तो यह था कि उन्होंने युद्धकाल में किसी राजनैतिक आंदोलन में भाग न लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया था; और दूसरे, उनके विचार और काम करने के तरीके कांग्रेस के उस समय के नरम और गरम दोनों ही दलों के विचारों और कार्यप्रणालियों से मेल नहीं खाते थे। गोखले ने १९०९ के कांग्रेस अधिवेशन में "भारतीय मानवता का अत्यधिक विकसित रूप" कहकर उनकी प्रशंसा की थी; लेकिन १९१५ में गोखले के ही घनिष्ठ सहयोगियों ने गांधीजी को भारत-सेवक-समिति का सदस्य बनाने से इनकार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका के आंदोलनों की वजह से कांग्रेस का उग्र पक्ष उनकी इज्जत जरूर करता था, परन्तु एक तो वह गोखले के साथी समझे जाते थे और दूसरे युद्धकाल में अंग्रेजों को संकट में न डालने की उनकी नीति लोगों की समझ में नहीं आती थी, इसलिए गरम दलवालों में वह लोकप्रिय नहीं हो पाये।

१९१५ से १८ तक के समय में गांधीजी अलग-अलग भले ही रहे हों, परंतु उनके व्यक्तित्व, राजनैतिक सिद्धांतों और नीतियों का निर्माण तो हो ही चुका था और स्थिरता भी प्राप्त कर चुका था। होमरूल आंदोलन में

अपने शरीक न होने का कारण बतलाते हुए उन्होंने एक मित्र से कहा था, "इस उम्र में जब ज्यादातर मामलों में मेरी राय कायम हो चुकी है, मैं किसी संस्था या संगठन की नीति पर असर डालने के ही लिए उसमें शरीक हो सकता हूं, उसके असर के नीचे चलने के लिए नहीं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मैं नई रोशनी से बचना चाहता हूं। मेरे कहने का मतलब तो सिर्फ इतना ही है कि नई रोशनी इतनी तेज जरूर होनी चाहिए कि मुझे मोहित कर सके।"[1]

और सत्याग्रह के जाज्वल्यमान प्रकाश से अधिक तेज रोशनी और हो भी क्या सकती थी! पिछले दस वर्षों से निजी और सार्वजनिक जीवन में वह इसी-के प्रकाश में अपना रास्ता खोजते और पाते रहे थे। अन्याय को मिटाने, बुराइयों को दूर करने और झगड़ों को सुलझाने का यह एक अचूक उपाय स्वयं उन्होंने खोज निकाला था। दक्षिण अफ्रीका में इसे सफलता से आजमा चुकने के बाद यहां देशवासियों द्वारा मदद मांगी जाने पर वह इससे इनकार कैसे कर सकते थे? और यही कारण था कि युद्धकाल में राजनैतिक आंदोलन से अपनेको अलग रखने का निर्णय किये रहने के बाद भी जनता की जिन तकलीफों को मिटाना एकदम जरूरी हो गया था, उनके लिए वह फौरन तैयार हो गये।[2]

---

[1] १९४४ में गांधीजी की ७५वीं वर्षगांठ पर प्रकाशित ग्रंथ 'गांधीजी' में जी० ए० नटेसन का लेख 'संस्मरण, पृष्ठ २१५।

[2] भारत लौटकर भी गांधीजी नेटाली गिरमिटियों और गिरमिट की अर्द्ध-गुलामी की प्रथा को नहीं भूले थे। चंपारन के किसानों, अहमदाबाद के मजदूरों और खेड़ा सत्याग्रह की लड़ाइयां लड़ने से पहले उन्होंने इस कलंकित प्रथा को उठवाने के लिए देशव्यापी आंदोलन किया। २५ फरवरी, १९१० को भारत की बड़ी कौंसिल में गोखले का प्रस्ताव पास हो जाने से भी गिरमिट की प्रथा बंद नहीं हो पाई थी। गांधीजी के भारत आने पर मालवीयजी ने १९१६ में फिर बड़ी कौंसिल में इस प्रथा को उठाने का प्रस्ताव पेश किया, तो लार्ड हार्डिंग ने उसे स्वीकार कर यह आश्वासन दिया कि "वक्त आने पर" इसे उठा दिया जायगा। इसके खुलासे की मांग करने पर उन्होंने कहा कि "दूसरी व्यवस्था करने में जितना समय लगेगा उतने समय में"। तब फरवरी १९१७ में मालवीयजी ने इस प्रथा को तुरंत उठा

सहायता की पहली पुकार बिहार के चंपारन जिले से आई, जिसकी गांधीजी ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। वहां के किसानों में नील की खेती को लेकर असंतोष बहुत तीव्र हो उठा था, जो निलहे गोरों के खिलाफ भारतीयों के जातीय रोष और घृणा का रूप धारण करता जा रहा था। १९१६ के दिसंबर महीने में, कलकत्ता के कांग्रेस-अधिवेशन में, जब चंपारन की समस्या पर चर्चा हुई तो गांधीजी भी वहां उपस्थित थे। चंपारन की बहस में हिस्सा लेने के लिए कहे जाने पर, उन्होंने इसलिए मना कर दिया कि उन्हें समस्या की कोई जानकारी नहीं थी; चंपारन का उन्होंने नाम-भर सुना था और सिर्फ इतना जानते थे कि वह बिहार में कहीं है। अधिवेशन के बाद, चंपारन के एक किसान, राजकुमार शुक्ल ने उन्हें वहां चलकर सारी स्थिति स्वयं देखने का आग्रह किया। शुक्लजी बराबर गांधीजी के पीछे लगे रहे और उनके साथ-साथ सारे देश का दौरा किया, और अंत में उन्हें चंपारन ले जाकर ही माने। वहां की समस्या वास्तव में बड़ी उग्र और जटिल थी, और लगभग पिछली पूरी शताब्दी से निलहे गोरों और नील की खेती करनेवाले किसानों में झगड़ा और मनमुटाव चला

देने का कानून बड़ी कौंसिल में पेश करने की इजाजत मांगी, जो वाइसराय ने नहीं दी। इसलिए गांधीजी ने इस प्रश्न को लेकर भारत का दौरा शुरू किया। पहली सभा बम्बई में श्री जहांगीर पेटिट, सर लल्लूभाई शामलदास, डा० रीड आदि के संयोजकत्व में हुई और "३१ जुलाई १९१७ तक इस प्रथा को बंद कर देने" का प्रस्ताव पास किया गया। बम्बई से लेडी ताता के नेतृत्व में महिलाओं का एक प्रतिनिधि मंडल भी वाइसराय से मिलने के लिए गया। गांधीजी कराची, कलकत्ता और सभी प्रमुख नगरों में गये। सब जगह बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं और बम्बईवाला प्रस्ताव पास किया गया। स्वयं गांधीजी के शब्दों में "सब जगह अच्छी-खासी सभाएं हुईं और सर्वत्र लोगों में भरपूर उत्साह था...। सन् १८९४ में इस प्रथा का विरोध करनेवाली पहली दरख्वास्त मैंने तैयार की थी और यह उम्मीद रखी थी कि किसी दिन यह अर्द्ध-गुलामी जरूर रद्द होगी।" और १२ अप्रैल, १९१७ को युद्धकालीन कार्रवाई के रूप में गिरमिटियों की भरती बंद करने की घोषणा वाइसराय को करनी पड़ी। वैसे पूरी तरह तो इस प्रथा का अंत १ जनवरी, १९२० को ही हुआ। —अनुवादक

आता था।

समस्या की कुछ जानकारी तो राजकुमार शुक्ल ने रास्ते में करा ही दी थी, अब गांधीजी खुद मौके पर जाकर जांच-पड़ताल करना चाहते थे। पटना से वह मुजफ्फरपुर और वहां से चंपारन जिले के सदर मुकाम मोतीहारी पहुंचे। अधिकारियों ने उनकी उपस्थिति को जिले की शांति भंग होने का खतरा करार देकर 'पहली गाड़ी से' जिला छोड़ जाने की नोटिस दे दी। गांधीजी ने इस आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया २८ अप्रैल, १९१७ को मुकदमा चलानेवाले मैजिस्ट्रेट के सामने उन्होंने यह बयान दिया—"कानून का आदर करनेवाले प्रजाजन की हैसियत से तो मुझे जो हुक्म दिया गया है, उसका पालन करने की मेरी स्वाभाविक इच्छा होती है और होनी भी चाहिए। पर मुझे लगा कि वैसा करके तो मैं जिन लोगों के लिए यहां आया हूं उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर पाऊंगा...इस बात को मैं अच्छी तरह समझता हूं कि हिंदुस्तान के लोक-जीवन में मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखनेवाले आदमी को कोई कदम उठाकर उदाहरण उपस्थित करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए...आज्ञा का उल्लंघन करने में मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नहीं, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानून को स्वीकार करता है, अर्थात् अंतरात्मा की आवाज़, उसका अनुसरण करना है।"

तिरहुत संभाग के आयुक्त ने, क्योंकि चंपारन उसके संभाग का जिला था, अपने वरिष्ठ अधिकारियों से परामर्श किये बिना गांधीजी की गिरफ्तारी का हुक्म दे दिया था, इसलिए भारत-सरकार ने उस हुक्म को रद्द कर दिया और मुकदमा उठा लिया गया। अब गांधीजी किसानों की शिकायतों की जांच-पड़ताल के काम में लग गये। उन्होंने किसानों के बयान लेना शुरू किया। वह हर किसान से कड़ी जिरह करते, हर बयान की बहुत बारीकी से छान-बीन करते; कोई बात को ज़रा-सा भी बढ़ा-चढ़ाकर कहता तो उसे फौरन वहीं रोक देते, और जो जिरह में उखड़ जाता उसका बयान तो कलमबंद ही नहीं किया जाता था। उस समय के एक अंग्रेज आई० सी० एस० अफसर डब्लू० ए० लुइस ने, जो बेतिया का सब-डिविजनल आफीसर था, चंपारन के जिला मैजिस्ट्रेट डब्लू० एच० हिकाक को

लिखे अपने २९ अप्रैल, १९१७ के पत्र में गांधीजी की कार्य-पद्धति और उनके व्यक्तित्व का बड़ा ही सुन्दर और यथार्थ चित्रण किया है—

"मि० गांधी कल, रविवार की शाम, यहां पहुंचे और आज, सोमवार के सवेरे मुझसे मिलने के लिए आये। उनका कहना है कि रैयतों पर हकीकत में ज्यादतियां हो रही हैं; और मि० गांधी की जांच-पड़ताल का मकसद जैसा कि उन्होंने मुझे बताया, रैयतों को उनकी तकलीफों और उनपर हो रही ज्यादतियों से निजात दिलाना है। मि० गांधी ने मुझे यह भी यकीन दिलाया कि उनकी जांच-पड़ताल बिलकुल गैर-जानिबदार होगी।

"बुधवार को दुपहर के बाद मैं खुद उस गांव में गया जहां वह लोगों के बयान ले रहे थे और थोड़ी देर तक उनके साथ भी रहा। मि० गांधी हर बयान देनेवाले से कड़ी जिरह करते हैं, क्योंकि वह बयानों में ऐसी कोई बात दर्ज नहीं करना चाहते, जो गलत हो और काटी जा सके। बाबू ब्रजकिशोर भी उनके साथ हैं और ठीक उन्हींके तरीके पर काम कर रहे हैं... वह बयानों को कलमबंद भी करते जाते हैं।

"एक तरह से तो मि० गांधी ने इस इलाके में यहां के हाकिमों से भी ऊंची जगह अपने लिए बना ली है। उनका कहना है कि यहां की हुकूमत पर निलहे साहबों का काफी असर है।

"निलहे साहब मि० गांधी को कुदरतन अपना दुश्मन समझते हैं, क्योंकि नील की ज्यादातर कोठियां, जिनमें वे कोठियां भी शामिल हैं, जिनके इंतजाम और हिसाब-किताब को हम काफी अच्छा समझते रहे हैं, रुपये-टके और लेन-देन के मामले में उस कड़ी पड़ताल में, जो मौजूदा हालात में की जा रही है, कभी खरी उतर ही न सकेंगी; और मि० गांधी के पास उनके खिलाफ ऐसे वाकयात होंगे, जिनकी सचाई से इनकार करना एकदम गैर-मुमकिन होगा।

"मि० गांधी की मौजूदगी का रैयतों पर जो असर हुआ है, उसके बारे में भी मुझे खासतौर पर कुछ कहना है...हम मि० गांधी को जो अपने जी में आये समझने के लिए आज़ाद हैं—हवा में उड़नेवाला, जिद्दी, इन्कलाबी या और भी कुछ। लेकिन रैयत तो उन्हें अपना मसीहा ही मानती है और आम किसानों का ऐसा खयाल है कि उनमें कुछ गैबी इल्म (दैवी

शक्तियां) भी हैं। वह गांव-गांव जाकर लोगों की शिकायतें सुनते हैं और उन जाहिल लोगों के दिमागों में रामराज्य और सतजुग का फितूर भर देते हैं। मैंने जब उन्हें इसके खतरनाक नतीजों से आगाह किया तो उन्होंने यकीन दिलाया कि वह हर लफ्ज़ को सोच-समझकर और तौलकर मुंह से निकालते हैं, इसलिए उनकी किसी भी बात का नतीजा लोगों को बरगलाने और गदर के लिए उभाड़नेवाला नहीं हो सकता। मैं मि० गांधी की बात पर यकीन करने को तैयार हूं, क्योंकि उनकी ईमानदारी में मुझे ज़रा भी शक नहीं; मगर अपने साथियों के मुंह तो वह बंद करने से रहे...

"मि० गांधी जिले के किसानों की तकलीफों को मिटाने के लिए कुछ भी उठा न रखेंगे और जरूरत पड़ी तो इस सवाल पर अपनेको कुर्बान भी कर देंगे; और जबतक हालात में काफी रद्दो-बदल नहीं कर दिये जाते वह यहां से जायंगे भी नहीं, बराबर डटे रहेंगे। लेकिन मुझे इस बात का यकीन है कि वे इन मुश्किल सवालातों के मामले में समझदारी से ही पेश आयंगे।"

चंपारन में गांधीजी की उपस्थिति से भारत-सरकार भी चिंतित हो उठी थी; उसे यह डर सताने लगा कि कहीं वह बिहार में सत्याग्रह न छेड़ दें। इसलिए होम मेंबर क्रेडाक की सलाह के अनुसार वाइसराय ने बिहार के गवर्नर, सर एडवर्ड गेट को एक जांच-आयोग नियुक्त करने और उसके सदस्यों में गांधीजी को भी रखने का सुझाव दिया। गवर्नर ने वाइसराय के इस सुझाव का पहले तो विरोध किया। उन्होंने लार्ड चेम्सफोर्ड को लिखा कि "यह तो गांधीजी को सिर चढ़ाना होगा, और इसका भी क्या भरोसा कि आयोग का असर अच्छा ही हो।" लेकिन अन्त में जांच-समिति नियुक्त की गई और गांधीजी को उसका सदस्य भी बनाया गया। मगर जांच-समिति की नियुक्ति, जैसा कि गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, मि० गेट की 'भलमनसी' के कारण नहीं, भारत सरकार के कहने से ही हुई थी।

गांधीजी के पास कम-से-कम आठ हजार किसानों के बयान थे। किसानों की खेती-सम्बन्धी कोई समस्या ऐसी नहीं थी, जिसका ज्ञान गांधीजी को न रहा हो। अपनी जानकारी, दृढ़ता और धीरज से उन्होंने जांच-समिति में किसानों के मामले की पैरवी की। समिति ने किसानों की

सब शिकायतों को सही माना और एकराय से निलहों के अनुचित रीति से लिये हुए रुपयों का अमुक भाग वापस करने और सौ वर्ष पुरानी दमनकारी 'तिनकठिया'[1] पद्धति को रद्द करने की सिफारिश की।

गांधीजी अभी बिहार में ही थे कि अहमदाबाद की कपड़ा-मिलों में झगड़े के आसार दिखाई देने लगे। १९१७ के अगस्त महीने से मिल मजदूरों को 'प्लेग बोनस' दिया जा रहा था। यह इसलिए शुरू किया गया था कि प्लेग के जमाने में मजदूर शहर छोड़कर भाग न जायं। कुछ मिलें तो तनख्वाह का अस्सी प्रतिशत तक 'प्लेग बोनस' दे रही थीं। जब प्लेग का खतरा मिट गया तो मिल-मालिकों ने इस 'बोनस' को बन्द कर देना चाहा। मजदूरों ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि लड़ाई के जमाने में जीवन-निर्वाह का खर्च पहले से दूना हो गया था और बोनस से महंगाई में जो ज़रा-सी राहत मिली हुई थी, उसके बन्द कर दिये जाने पर तो उनकी मुसीबतें और भी बढ़ जायंगी।

मिल-मालिकों और मज़दूरों के आपसी झगड़े की आशंका से अहमदाबाद का अंग्रेज कलक्टर चिंतित हो उठा। मिल-मालिकों पर गांधीजी के प्रभाव की बात वह जानता था। उसने उनसे अनुरोध किया कि आप मिल-मालिकों को किसी तरह समझौते के लिए राजी कीजिये। प्रमुख मिल-मालिक अम्बालाल साराभाई गांधी-परिवार के मित्र थे। शुरू-शुरू में एक हरिजन-परिवार को आश्रमवासी बना लेने पर जब गांधीजी का साबरमती-आश्रम घोर आर्थिक संकट में पड़ गया था तो अम्बालाल भाई के दान ने ही उसकी रक्षा की थी। गांधीजी ने तुरन्त दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों से चर्चाएं आरम्भ कर दीं। लम्बी चर्चाओं के बाद पंच-फैसले के लिए दोनों पक्ष राजी हो गये। पंच-मंडल में मिल-मालिकों के तीन और मज़दूरों के भी तीन प्रतिनिधि रखने और कलक्टर को अध्यक्ष बनाने की बात तय

---

[1] बिहार में बीस कट्ठे का एक एकड़ होता है। चंपारन के किसान अपनी ही जमीन में हर बीस कट्ठे में से तीन कट्ठे में निलहों के लिए नील की खेती करने को कानून से मजबूर थे। यह कानून ईस्ट इंडिया कंपनी के जमाने में १८१७ के आसपास बनाया गया था और तबसे निलहे गोरे वहां के किसानों पर जुल्म ढाते आ रहे थे। —अनुवादक।

पाई। लेकिन अभी पंचमंडल ने अपना काम शुरू भी नहीं किया था कि एक हड़ताल की ओट लेकर मालिकों ने मज़दूरों पर समझौता तोड़ने का आरोप लगा दिया, खुद पंच-मंडल से अलग हो गये और यह घोषणा कर दी कि जो मज़दूर बीस सैकड़ा बोनस मंजूर नहीं करेगा, उसे काम पर से निकाल दिया जायगा।

जब मिल-मालिकों ने मज़दूरों के खिलाफ 'संयुक्त कार्रवाई' करने की धमकी दी तो गांधीजी ने कहा था कि वे "चींटियों के संघ के मुकाबले हाथियों का संघ" बना रहे हैं। वह सत्याग्रह के एक प्रयोग के रूप में मज़दूरों की लड़ाई लड़ना चाहते थे और यह निश्चय करना भी कि अहमदाबाद के मिल-मज़दूरों की वाजिब मांग को शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक हड़ताल से कहां-तक हासिल किया जा सकता है। उनकी राय में बोनस को पैंतीस प्रतिशत से ज्यादा घटाने की गुंजाइश नहीं थी, इसलिए उन्होंने पैंतीस प्रतिशत बोनस की ही मांग रखी। सत्याग्रह के सिद्धान्तों पर की जानेवाली हड़ताल उसके परम्परागत परिचित रूप से भिन्न तो होनी ही थी। मज़दूरों को जोश दिलाने के लिए उनके गुस्से और घृणा को भड़काने की बिलकुल ही मुमानियत थी और न मालिकों एवं न गद्दारों के ही साथ मार-पीट जैसी हिंसात्मक कार्रवाइयां की जा सकती थीं। कटुता, झूठी शिकायतों, अतिरंजित दावों और गाली-गलौज की होड़ा-होड़ी की भी इसमें कोई गुंजाइश नहीं थी। हड़ताल के समय की बेकारी का उपयोग रचनात्मक कामों में करने का फैसला किया गया था। मज़दूर दूसरे उद्योग सीखेंगे, मकानों की मरम्मत करेंगे और श्रमिक बस्तियों की सड़कों और रास्तों की सफाई करेंगे।

मिल-मालिकों और मज़दूरों की इस लड़ाई का एक और मनोरंजक पहलू यह भी था कि प्रमुख उद्योगपति अम्बालाल साराभाई की बहिन अनसूया बहन गांधीजी के पक्ष में और मज़दूरों की नेता थीं। हड़ताल शुरू हुई और उसके साथ-साथ गांधीजी की चिंता भी बढ़ती गई। कुछ ही दिनों बाद मज़दूरों का जोश ठंडा पड़ने लगा। जब यह साफ दिखाई देने लगा कि बिना काम और बिना पैसों के ज्यादा दिन टिक पाना मज़दूरों के लिए असंभव है तो गांधीजी ने उपवास शुरू कर दिया। उन्होंने तो शुरू में ही

कह दिया कि अगर मजदूर भूखों मरने लगे तो सबसे पहले वह खुद ही भूखे रहेंगे। गांधीजी के उपवास का असली उद्देश्य तो मजदूरों की हिम्मत को टिकाये रखना था, लेकिन मिल-मालिकों पर भी उसका असर पड़े बिना न रहा, क्योंकि उनमें से बहुत-से गांधीजी की इज्जत और उनसे स्नेह भी करते थे। साथ ही, उन लोगों पर इस उपवास का अप्रत्यक्ष परन्तु निश्चित दबाव भी पड़ा।[1] सत्याग्रह में इस प्रकार के दबाव को अनुचित मानकर गांधीजी तीन दिन के उपवास के बाद समझौते के लिए राजी हो गये। हड़-ताल और उपवास इसीलिए करने पड़े थे कि मालिकों ने पंचफैसले के सिद्धांत को ठुकरा दिया था। अब उन्होंने फिर पंच से फैसला करवाने की बात स्वीकार कर ली। पंच ने फैसला मजदूरों के पक्ष में दिया और इस तरह अंत में पैंतीस प्रतिशत बोनस की लड़ाई में उनकी जीत हुई।

अहमदाबाद के मजदूरों की लड़ाई के तुरंत बाद ही गांधीजी को खेड़ा जिले के किसानों के संघर्ष में जुट जाना पड़ा। सूखे के कारण फसल नष्ट हो गई थी और सारे जिले में लगभग अकाल की-सी स्थिति हो गई थी। लगान की माफी के सवाल पर वहां के किसानों और स्थानीय अधिकारियों में ठनी हुई थी। ऐसा कानून था कि अगर फसल चार आने या इससे कम हो तो उस साल का लगान माफ हो जाना चाहिए। सारा झगड़ा कूत को लेकर था। सरकारी अफसरों का कहना था कि फसल चार आना से ज्यादा हुई है और किसानों का कहना था कि चार आने से कहीं कम है। भारत-सेवक-समिति के तीन सदस्यों ने मौके का मुआयना किया; उनकी कूत और बंबई धारा-सभा के उस समय के सदस्य विट्ठलभाई पटेल और खुद गांधीजी की कूत के अनुसार फसल में बारह आने से भी ज्यादा का नुक-सान हुआ था। लेकिन सरकार ने इसे 'बाहरी लोगों की कूत' करार देकर मानने से इनकार कर दिया।

गुजरात सभा ने इस आंदोलन में प्रमुख रूप से भाग लिया। गांधीजी इस सभा के अध्यक्ष थे। जब दरख्वास्तों, मुलाकातों और प्रेस-वक्तव्यों का नतीजा नहीं निकला तो आंदोलन का सूत्र गांधीजी ने संभाला और सत्या-ग्रह की घोषणा कर दी। भारत में गांधीजी के द्वारा चलाया जानेवाला

---

१ महादेव देसाई : 'एक धर्म-युद्ध', पृष्ठ ४५

यह पहला किसान-सत्याग्रह था। इसमें बुनियादी बात थी, किसानों को सरकारी अमले के डर से और जमीन-जायदाद की कुर्की-नीलामी के डर से मुक्त करना। गांधीजी और वल्लभभाई पटेल ने गांव-गांव जाकर किसानों को सत्याग्रह के मौलिक सिद्धांतों और उसके व्यवहार-पक्ष की शिक्षा दी और उन्हें अहिंसक लड़ाई के लिए तैयार किया। लगान-वसूली में सरकार की ओर से सख्तियां बढ़ती गईं। लगान देने से इनकार करनेवालों के जानवर वेच दिये गए, घरों का सामान जब्त करके नीलाम कर दिया गया; कइयों की तो खड़ी फसलें तक कुर्क कर दी गईं। लेकिन किसानों ने धीरज न छोड़ा और न हिम्मत हारी। अकाल, प्लेग और महंगाई की तिहरी मार के बाद किसानों ने सरकारी दमन को भी सहा, पर अन्त में वे थकने लगे। उन्हें इस तरह बरबाद हो जाने देना गांधीजी ने उचित नहीं समझा। वे सम्मानजनक निबटारे का कोई रास्ता निकालने की बात सोच ही रहे थे कि सरकार ने कहला भेजा कि अच्छी हैसियतवाले जो किसान दे सकते हैं उन्हींसे लगान वसूल किया जाय और गरीबों पर वसूली के लिए कोई सख्ती न की जाय! गांधीजी ने इसे पर्याप्त कारण मानकर सत्याग्रह-आंदोलन वापस ले लिया।

सत्याग्रह के इन आरम्भिक प्रयोगों को ठीक से समझने के लिए इस बात को ध्यान में रखना होगा कि उन दिनों पहला महायुद्ध चल रहा था और गांधीजी सरकार के ध्यान को बंटाना या उसे मुसीबत में डालना बिलकुल ही नहीं चाहते थे। सरकार से सीधी भिड़ंत को वे यथासंभव टालने के पक्ष में थे। चंपारन और खेड़ा में जब मुठभेड़ हो ही गई तो उन्होंने वहां की लड़ाइयों को उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रखा और न्याय की थोड़ी-सी झलक मिलते ही समझौता कर लिया और उन्हें अखिल भारतीय संकट का रूप न लेने दिया।

पहले महायुद्ध के प्रति उनका दृष्टिकोण देश के और सब नेताओं से बिलकुल भिन्न था। उन्हें आशा थी कि यदि भारत ने इंग्लैंड की युद्ध में दिल खोलकर मदद की तो लड़ाई के अन्त में देश को स्वशासन का अधिकार जरूर दे दिया जायगा। लेकिन और कोई नेता उनके इन विचारों से सहमत नहीं था।

जब पहला महायुद्ध छिड़ा तो गांधीजी इंग्लैंड होते हुए देश लौट रहे थे। उनका इरादा इंग्लैंड में कुछ सप्ताह रहने का भी था। ६ अगस्त, १९१४ को वह इंग्लैंड पहुंचे और तुरन्त वहां के भारतीयों का एक एंबुलेंस दल बनाने के काम में जुट गये। यदि उन्हें वहां पसली के दर्द की बीमारी न हो जाती और उसने उग्र रूप धारण न कर लिया होता तो शायद वह स्वयं भी उस एंबुलेंस दल में भर्ती हो जाते और उनका भारत लौटना अनिश्चित काल के लिए रुक जाता।

भारत लौटने पर उन्होंने देश को युद्ध में बिना शर्त सहायता देने के घोर विरोध में पाया। उस समय युद्ध में सहायता देना राजभक्ति का परिचायक माना जाता था और राजभक्ति का परिचय देना राजनैतिक पिछड़ेपन का लक्षण और सरकारी पिट्ठुओं का काम था, देशभक्तों का नहीं। लेकिन गांधीजी ने युद्ध में सरकार से सहयोग करने की कोई कीमत नहीं मांगी और न कोई शर्त लगाई। १९१७ के नवंबर महीने में, गुजरात राजनैतिक सम्मेलन में उन्होंने ये वाक्य कहे थे—"संकट में राजभक्ति दिखाने का यह मतलब नहीं है कि हम स्वराज्य के योग्य हो गये। राजभक्ति तो खुद एक गुण है। सारी दुनिया के सभी देशों के नागरिकों का यह एक जरूरी गुण है।"[1]

१९१८ में जब मित्र राष्ट्रों की हालत शोचनीय हो गई और पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनों के जबर्दस्त आक्रमण का खतरा काफी बढ़ गया तो वाइसराय ने युद्ध की परिस्थिति पर और उसमें सहायता देने के प्रश्न पर विचार करने के लिए दिल्ली में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। उसमें तिलक, जिन्ना और खापर्डे-जैसे प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं को इसलिए नहीं बुलाया गया, क्योंकि उन्होंने सहयोग की शर्तों का सवाल उठा दिया था। वे निश्चयपूर्वक जानना चाहते थे कि सरकार किन शर्तों पर देश का सहयोग चाहती है। अंग्रेजों के अस्पष्ट और गोलमोल वादों पर राष्ट्र का कोई भरोसा नहीं रह गया था। नेतागण सम्मेलन में शरीक होने से पहले सरकार के मुंह से यह सुन लेना चाहते थे कि वह सहयोग के बदले में कितने और कौन-से संवैधानिक सुधार देने को तैयार होगी। गांधीजी का पहला

[1] नटेसन : 'महात्मा गांधी के भाषण और लेख' (अंग्रेजी-संस्करण), पृष्ठ ४०९

विचार तो सम्मेलन का बहिष्कार करने का ही हुआ, परन्तु बाद में वह राजी हो गये और सम्मेलन में शरीक होकर वाइसराय के रंगरूट-भरती के प्रस्ताव का सिर्फ एक ही हिन्दी वाक्य में समर्थन किया, "मुझे अपनी जिम्मेवारी का पूरा खयाल है और उस जिम्मेवारी को समझते हुए भी मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूं।"

फिर तो वह तन-मन से रंगरूट-भरती के काम में लग गये। अहिंसा के पुजारी गांधीजी का यूरोप और मध्यपूर्व के मोर्चों पर लड़नेवाली ब्रिटिश फौज के लिए गुजरात के गांवों में रंगरूट-भरती के लिए जाना अच्छा-खासा मज़ाक ही कहा जायगा। कुछ महीनों पहले ही जिस खेड़ा जिले में वह करबंदी-आंदोलन का नेतृत्व कर चुके थे वहां किसीने उनसे सीधे मुंह बात भी न की। गांधीजी और वल्लभभाई पटेल के लिए लोगों को फौज में भरती होने के लिए राजी करना लगभग असंभव ही साबित हुआ। इसकी अपेक्षा किसानों को जेल जाने के लिए तैयार करना कहीं आसान था। एक गांव में, जो आंदोलन में सबसे आगे रहा था, न तो उनसे कोई मिलने के लिए आया और न किसीने उन्हें अपने घर में ही ठहराया। तीन दिन तक गांधीजी और वल्लभभाई पटेल गांव की सीमा पर पड़े रहे और हाथ से टिक्कड़ बनाकर खाते रहे।

गांधीजी और उनके साथियों को सवारी के लिए अकसर बैलगाड़ियां भी नहीं मिल पाती थीं और एक दिन में बीस-बीस मील तक पैदल चलना पड़ जाता था। गांधीजी इन तकलीफों को बर्दाश्त न कर सके और उन्हें पेचिश हो गई। दवाई तो वह लेते नहीं थे। उपवास किया, लेकिन फायदा नहीं हुआ। जैसाकि उन्होंने बाद में कहा, अपने 'घोर अज्ञान के कारण' इंजेक्शन लगवाने से भी इनकार कर दिया। उनके मित्र अम्बालाल साराभाई को पता चला तो वह उन्हें अहमदाबाद की अपनी हवेली में ले गये। दवाई लेने को गांधीजी राजी नहीं हुए और खाली तिमारदारी से अच्छे नहीं हो रहे थे। एक दिन तेज बुखार की हालत में ही साबरमती-आश्रम पहुंचाने का आग्रह करने लगे और वहां पहुंचकर ही चैन लिया। दूसरे दिन डा० राजेन्द्रप्रसाद मिलने के लिए आये तो उन्होंने गांधीजी को मरणासन्न अवस्था में पाया—शरीर सूखकर लकड़ी हो गया था और जीवन की कोई

उमंग भी बाकी नहीं रही थी। गांधीजी को अपने जीवन पर पश्चात्ताप होने लगा कि आजतक कोई भी काम पूरा न कर सके। जिसे भी उठाया अधूरा ही छोड़ दिया और अब मृत्यु आ गई, लेकिन अगर ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है तो उसके आगे किसीका क्या वस !

गांधीजी ने जीने की सब आशाएं छोड़ दी थीं। अपनेको अब-तब का मेहमान समझ रहे थे। अन्त समय निकट आया जान गीता का पाठ सुनने लगे और सारे आश्रमवासियों को अपनी मृत्यु-शय्या के पास बुला लिया। जब सब लोग वहां आकर चुपचाप खड़े हो गये तो गांधीजी ने कहा, "भारत के नाम मेरा आखिरी संदेश यही है कि अहिंसा से ही उसे मुक्ति मिलेगी और अहिंसा के ही द्वारा वह विश्व की मुक्ति में अपना योगदान करेगा।"

गांधीजी मृत्यु-शय्या पर पड़े मौत की घड़ियां गिन रहे थे कि वर्फ के हिमायती एक डाक्टर उनका इलाज करने के लिए आये। बरफ से ही इलाज करने के कारण उनका उपनाम 'आइस डाक्टर' रख दिया गया था। गांधी-जी ने उन्हें अपने शरीर पर प्रयोग करने दिया। नतीजा अच्छा रहा; उनमें जीने की कुछ आशा बंधने लगी और उत्साह आया। जीने की इच्छा इतनी बलवती हो उठी कि दूध न लेने की प्रतिज्ञा के खिलाफ कस्तूरबा के इस तर्क को कि वह तो सिर्फ गाय के दूध के लिए थी, वह उनके अनुरोध पर बकरी का दूध लेने को राजी हो गये। लेकिन यह केवल प्रतिज्ञा के अक्षर-पालन का संतोष था; और जैसाकि स्वयं गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—"सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह के लिए जीने की इच्छा रखकर अपने सत्य को दाग़ लगा दिया...यह मुझे रोज चुभता है।"

गांधीजी की जीने की इच्छा को और भी बलवती करने का सामान भारत सरकार ने भी शीघ्र ही तैयार कर दिया। इसी समय रौलट कमेटी की रिपोर्ट और रौलट बिल प्रकाशित हुए। गांधीजी ने उन्हें पढ़ा तो छट-पटा उठे, बोले, "अगर मैं बीमार न होता तो अकेला ही जूझता और देश को जगाने के लिए सारे भारत का दौरा करता।" मित्र सलाह के लिए आने लगे और विचार किया जाने लगा कि नागरिक अधिकारों का अपहरण करने-वाले इस नये कानून के खिलाफ देशव्यापी स्तर पर किस तरह लड़ा जा सकता है ? अंग्रेजों की सद्भावना पर विश्वास कर उनको संकट की घड़ी

में जिस तरह सहायता की थी और युद्ध के अंत में उनकी ओर से जिस शुभ संकेत की आशा बंधी थी, वह सब गांधीजी को रह-रहकर याद आने लगा। एक बार फिर उन्हें रोटी के बदले पत्थर मिले थे। युद्ध-काल में अपने-आपको राजनैतिक आंदोलन से उन्होंने पूरी तरह अलग रखा था। अब शांति-काल में जो अन्याय किया गया, उसके खिलाफ लड़ने को वह व्यग्र हो उठे।

: १८ :

अमृतसर की काली छाया

रौलट बिलों का विरोध करने के लिए गांधीजी ने अपनी बीमारी की भी परवा न की और मैदान में उतर आये। देश में पनप रहे आतंकवाद (हिंसात्मक कार्रवाइयां) का सामना किस तरह किया जाय, इसपर विचार करने के लिए सरकार ने सर सिडने रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की थी। उसने जांच करके जो रिपोर्ट पेश की उसीके आधार पर रौलट बिल बनाये गए थे।

गांधीजी खुद आतंकवाद के कट्टर विरोधी और जबर्दस्त आलोचक थे। दस बरस पहले, जब रौलट बिलों का कहीं अस्तित्व भी नहीं था, वह अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज्य' में आतंकवाद को नैतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से निंदनीय और त्याज्य ठहरा चुके थे। बम और पिस्तौल के मुकाबले उन्होंने सत्याग्रह को ज्यादा कारगर उपाय बताया था। केवल कुछ स्थानों पर होनेवाली आतंकवादी कार्रवाइयों के कारण दमनकारी काला कानून बनाकर सारे देश को सजा देना, गांधीजी, आतंकवाद के कट्टर विरोधी होते हुए भी, उचित नहीं समझते थे; न उनकी दृष्टि में यही ठीक था कि एक ऐसी सरकार को, जो जनता के प्रति उत्तरदायी न हो, इतने व्यापक अधिकार दे दिये जायं।

रौलट बिलों का विरोध करने के प्रश्न पर सभी भारतीय नेताओं ने

अभूतपूर्व एकता दिखाई। जिन्ना की राय में, शांतिकाल में ऐसा दमनकारी कानून बनानेवाली सरकार निरी असभ्य और जंगली सरकार थी। सर तेजबहादुर सप्रू ने बिलों को "सैद्धांतिक दृष्टि से गलत, व्यावहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण और अति व्यापक" बताया। विट्ठलभाई पटेल ने कहा, "यदि ये बिल पास हो गये तो संवैधानिक सुधारों के लिए किये जानेवाले हमारे वैधानिक आंदोलन का गला ही घुट जायगा।"

लेकिन भारत सरकार ने इस विरोध को कोई महत्व नहीं दिया; विरोध की सारी आवाज़ को निहायत कमजोर और भारतीय नेताओं की बेकार की चिल्ल-पों करार देकर उपेक्षा कर दी और १९१९ के मार्च महीने के तीसरे सप्ताह में बड़ी फुर्ती से और बहुत ही भौंडे तरीके से सरकार ने एक बिल को बड़ी कौंसिल में पेश कर दिया। कौंसिल में जितने भी चुन-कर आये हुए भारतीय नेता थे उन सबने इस बिल का डटकर विरोध किया और विपक्ष में अपने मत दिये। लेकिन फिर भी वह पास हो गया।[१]

---

१ रौलट बिलों के नाम से दो बिल थे। एक अस्थायी था, जिसका उद्देश्य भारत-रक्षा-कानून के समाप्त हो जाने से उत्पन्न स्थिति का मुकाबला करना था। उसमें यह विधान था कि क्रांतिकारियों के मुकदमे हाईकोर्ट के तीन जजों की अदालत में पेश हों और वे शीघ्र उनका फैसला कर दें, जहां क्रांतिकारी अपराध बहुत होते हों वहां अपील न हो सके; जिसपर राज्य के विरुद्ध अपराध करने का संदेह हो उससे जमानत ली जाय, उसे किसी स्थान विशेष में रहने और किसी खास काम को करने से रोका जाय, लेकिन ऐसा हुक्म देने से पहले उस व्यक्ति की जांच जज और एक गैर-सरकारी आदमी से करवा ली जाय। जिस व्यक्ति से सार्वजनिक शांति भंग होने की आशंका हो उसे गिरफ्तार कर स्थान-विशेष में बंद रखने का अधिकार प्रांतीय सरकारों को दे दिया गया। दूसरा बिल साधारण फौजदारी कानून में एक स्थायी परिवर्तन चाहता था, जिसके अनुसार किसी राजद्रोही सामग्री का प्रकाशन या वितरण करने के उद्देश्य से पास रखना जेल की सज़ा तक का दंडनीय अपराध करार दिया गया; सरकारी गवाह बननेवालों की रक्षा का भार अधिकारियों को सौंपा गया; पहले से सरकार की आज्ञा प्राप्त किये बिना जिन अपराधों के लिए मुकदमा नहीं चल सकता उनकी प्रारंभिक पुलिस-जांच का अधि-कार जिला मैजिस्ट्रेटों को दे दिया गया; और जिसे राज्य के विरुद्ध अपराध करने में सज़ा मिल चुकी हो उसकी सज़ा के बाद दो वर्ष तक की नेकचलनी की जमानत

जिस तरह यह बिल पास किया गया उसने गांधीजी की आंखें खोल दीं। उस समय वह बड़ी कौंसिल की दर्शक गैलेरी में उपस्थित थे। उन्होंने वहां बिल के विरोध में भारतीय नेताओं के युक्ति-युक्त और जोशीले व्याख्यानों को सुना और विरोध के उस प्रबल स्वर को चिकने घड़े पर पानी की तरह सरकारी पक्ष के निकट व्यर्थ हो जाते हुए अपनी आंखों से देख भी लिया। इस संबंध में उन्होंने बाद में ठीक ही लिखा था : "ऊंघते को आदमी जगा सकता है, जागता ऊंघे तो उसके कान पर ढोल बजाने से क्या होगा ?"[1] उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया कि गोरी नौकरशाही और अंग्रेज व्यापारियों ने मिलकर भारत सरकार के कान इस बुरी तरह भर दिये हैं कि वह जनता की सही आवाज़ को कभी नहीं सुन सकती। जनता की भावनाओं और लोकमत की थोड़ी-सी भी कद्र करनेवाली सरकार ऐसे बिल को, जिसका सभी पक्षों और दलों के भारतीय नेताओं ने घोर विरोध किया हो, कानून का रूप कभी नहीं देगी। और जो सरकार निकट भविष्य में काफी बड़े पमाने पर संवैधानिक सुधारों को लागू करने की बातें करती हो वह स्वराज्य की किस्त देने से पहले इतनी बुरी भूमिका क्यों बांधेगी !

वैधानिक उपायों से जब रौलट बिल के विरोध का कोई परिणाम नहीं हुआ और वह पास हो गया तो गांधीजी ने रौलट कानून को हटवाने के लिए सत्याग्रह का निश्चय किया। फरवरी १६१६[2] में वे रौलट बिलों के विरोध में एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित कर चुके थे, जिसमें कहा गया था, "यदि इन बिलों को कानून का रूप दिया गया तो जबतक इन्हें वापस न लिया जायगा तबतक हम इन तथा अन्य ऐसे कानूनों को भी, जिसे इसके बाद नियुक्त की जानेवाली सत्याग्रह कमेटी उचित समझेगी, मानने से नम्रतापूर्वक इनकार कर देंगे। हम इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि इस युद्ध में ईमान-

---

लेने का विधान किया गया। इनमें से एक बिल मात्र के तीसरे सप्ताह में पास हो गया और दूसरा वापस ले लिया गया। —अनुवादक।

[1] 'आत्मकथा'; सस्ता साहित्य मंडल (१६६०); पृष्ठ ५१७

[2] 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास'—इन्द्र विद्यावाचस्पति और 'कांग्रेस का इतिहास'—डा० बी० पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार १८ मार्च, १६१६। —अनुवादक

दारी के साथ सत्य का अनुसरण करेंगे और किसीके जान-माल को हानि नहीं पहुंचायंगे।"

बीमारी के बाद अभी गांधीजी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो पाये थे, लेकिन सरकार ने पहले रौलट बिल को कानून का रूप दे दिया था, इसलिए उन्हें मैदान में उतर आना पड़ा। देश की जनता को सत्याग्रह का अर्थ समझाने के लिए उन्होंने देश-व्यापी दौरा किया और 'सत्याग्रह सभा' के नाम से एक नया संगठन बनाया। मदरास में वह राजाजी के घर ठहरे हुए थे। एक दिन सवेरे उठकर उनसे बोले, "रात को स्वप्नावस्था में मेरे मन में यह विचार आया कि इस कानून के जवाब में हमें सारे देश में हड़ताल करने की सलाह देनी चाहिए। उस दिन सब उपवास करें, काम-काज बन्द रखें और प्रार्थना करें।" पहले १९१९ के मार्च की ३० तारीख रखी गई थी, फिर छठी अप्रैल कर दी गई। शोक या विरोध में हड़ताल करना भारत में कोई नई बात नहीं थी, लेकिन एक दिन राष्ट्रव्यापी राजनैतिक हड़ताल जरूर नई और बहुत बड़ी बात थी। बम्बई में हड़ताल के साथ-साथ सविनय विरोध के रूप में 'हिन्द स्वराज्य' और 'सर्वोदय' आदि कुछ ऐसी किताबें भी बेची गईं, जिन्हें सरकार ने राजद्रोहात्मक करार देकर प्रतिबन्ध लगा दिया था। ७ अप्रैल को प्रेस कानून के विरोध में गांधीजी के सम्पादन में 'सत्याग्रह' नामक एक छोटे-से-समाचार-पत्र का प्रकाशन भी शुरू किया गया।

दिल्ली में गलतफहमी के कारण ६ अप्रैल के बदले ३० मार्च को ही हड़ताल हो गई और उसमें झगड़े के कारण थोड़ा खून-खराबा भी हुआ। गांधीजी ने तुरन्त उपद्रवकारियों और स्थानीय अधिकारियों की भी भर्त्सना की। अधिकारियों के आचरण के बारे में उन्होंने कहा कि उन लोगों ने तो मक्खी को मारने के लिए हथौड़ा ही चला दिया। सबसे अधिक उत्तेजना पंजाब में थी। वहां के नेताओं का खयाल था कि यदि गांधीजी पंजाब में आ जायं तो उससे शांति-स्थापना में बड़ी मदद मिल जायगी। लेकिन सरकार ने उन्हें वहां पहुंचने ही नहीं दिया। वह बंबई से दिल्ली के लिए रवाना हुए तो दिल्ली के पास एक छोटे-से स्टेशन पर उन्हें गिरफ्तार कर एक स्पेशल ट्रेन से पुनः बंबई भेज दिया गया और वहां पहुंचने पर वह

रिहा कर दिये गए। वह दुवारा दिल्ली जाने का इरादा कर ही रहे थे कि वंवई, अहमदावाद, नदियाद और गुजरात के दूसरे शहरों में उपद्रव हो जाने के समाचार आने लगे। उनके अपने ही प्रदेश में जनता सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धांतों को भूलकर हिंसात्मक काररवाई पर उतर आयगी, इसकी तो गांधीजी ने सपने में भी कल्पना नहीं की थी। लोगों के मन में छिपी हिंसा की शक्ति को सही-सही आंकने में उनसे भूल हो गई थी। उन्होंने आगे बढ़ने, दुबारा गिरफ्तार होने और आंदोलन को चालू रखने का विचार उसी समय त्याग दिया और सत्याग्रह को स्थगित कर दिया। जनता को पूरी तरह तैयार किये विना सत्याग्रह-संग्राम शुरू कर देने की अपनी हिमालय-जैसी वड़ी भूल के प्रायश्चित्त स्वरूप उन्होंने तीन दिन का उपवास भी किया।

उधर, इस बीच, पंजाव में घटना-चक्र ने वड़ा ही विकट और शोक-जनक रूप धारण कर लिया था। वहां एक साथ कई वातें ऐसी हो गईं, जिससे जनता का अन्दर-ही-अन्दर घुमड़ता हुआ असंतोष और गुस्सा एक-दम भड़क उठा। यद्यपि गांधीजी ने अभी तक पंजाब का दौरा नहीं किया था, परन्तु उनके नाम का जादू तो वहां भी चलता ही था। जैसे ही दिल्ली के निकट उनकी गिरफ्तारी का समाचार पंजाब पहुंचा सारे प्रांत में गुस्से की लहर दौड़ गई। १० अप्रैल को जव अमृतसर के जिला मजिस्ट्रेट ने दो नेताओं[१] को गिरफ्तार कर लिया तो लोगों की भीड़ आपे से वाहर हो गई; उसने टाउन हाल और डाकखाने को आग लगा दी, टेलीग्राफ के तार काट डाले और कुछ अंग्रेजों को, जिनमें दो महिलाएं भी थीं, घायल कर दिया। बिग्रेडियर-जनरल डायर की कमान में फौज वुलाकर किसी तरह भीड़ को काबू किया जा सका और शहर सेना के हवाले कर दिया गया। दो दिन तक शांति रही, लेकिन तीसरे दिन १३ अप्रैल को वैसाखी का त्यौहार था और उस दिन जलियांवाला बाग में एक सभा की घोषणा की गई थी। वह सभा भीषण नर-मेध में बदल गई। डायर ने शस्त्र-बल

---

[१] गिरफ्तार किये जानेवाले नेता डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल थे, जो वहां कांग्रेस का संगठन कर रहे थे। जिला मजिस्ट्रेट ने उन्हें गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान को भेज दिया था, जिससे नगर में सनसनी फैल गई।—अनुवादक

से सभा को भंग करने का फैसला पहले ही कर लिया था। जलियांवाला बाग का दरवाजा इतना संकरा था कि उसमें होकर बख्तरबन्द गाड़ी अन्दर नहीं जा सकती थी। डायर और उसके सैनिक पैदल ही घुस गये और दस मिनट में उन्होंने १६५० फैर किये। वैसाखी के त्यौहार के कारण उस सभा में पुरुषों के अलावा, स्त्रियां और बच्चे भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। सारी निहत्थी जनता उस बगीचे में "पिंजड़े में बन्द चूहों" की तरह फंस गई और कोई भी भाग न सका। सरकारी बयान के मुताबिक उस गोली-कांड में ३७९ मरे। सर चिमनलाल सीतलवाड का, जो गोलीकांड की जांच के लिए नियुक्त हंटर-कमेटी के सदस्य थे, अनुमान था कि ४०० मरे और १२०० घायल हुए थे।

बाद में डायर ने जांच-कमेटी को अपना उद्देश्य बताते हुए कहा था कि उसका उद्देश्य "कड़ी कार्रवाई के द्वारा लोगों को सबक देना" और उनमें 'नैतिक असर' पैदा करना ही था। लेकिन जिस साम्राज्य को बचाने का वह दावा कर रहा था उसे जितनी बड़ी चोट उसने पहुंचाई थी उसकी उसे उस समय शायद ही कल्पना हुई होगी। अमृतसर के हत्याकांड का भारतीयों और अंग्रेजों के संबंधों को प्रभावित करने (बिगाड़ने) वाली घटना के रूप में १८५७ के विद्रोह का जितना ही महत्त्व है।[1] भारत में रहनेवाले अंग्रेज अफसर '१८५७ के आतंक' से अपनेको कभी मुक्त नहीं कर पाये; अमृतसर का गोली-कांड वास्तव में उनकी इसी दूषित मनोवृत्ति का भयंकर परिणाम था। इसी मनोवृत्ति के कारण पंजाब के गवर्नर सर माइकेल ओडायर और उनकी सरकार के मन में यह दहशत बैठ गई थी मानो उन्हें उखाड़ फेंकने का कोई प्रांतव्यापी षड्यंत्र रचा गया हो।

१९१९ में, अमृतसर के बाद, सारे पंजाब में दमन का जो नंगा नाच हुआ, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं को जो अमानवीय यंत्रणाएं दी गईं, पढ़े-लिखे लोगों को जिस तरह सताया और अपमानित किया गया उस सबके मूल में अंग्रेज अफसरों के मन पर छाया हुआ 'विद्रोह का आतंक' ही काम कर रहा था। इसी आतंक से प्रेरित जनरल डायर ने जिस जगह अंग्रेज महिला

---

[1] टामसन एण्ड गैरेट : 'राइज एण्ड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया,' पृष्ठ ६०९

पर हमला किया गया था उस सड़क पर भारतीयों को पेट के बल रगने के लिए विवश किया; इसी आतंक से प्रेरित होकर उन्हें हुक्म दिया गया कि जो भी अंग्रेज सामने पड़ जाय उसे सवारी में से उतरकर फौरन सलाम किया जाय; इसी आतंक के कारण कई गांवों पर मशीनगनों और हवाई जहाजों से गोलियां बरसाई गईं; भारतीयों की सारी मोटरगाड़ियां छीन ली गईं; कर्नल जानसन ने लाहौर के सभी कालेजों के लगभग एक हजार विद्यार्थियों के लिए तीन सप्ताह तक मई की चिलचिलाती धूप में रोजाना १६ मील पैदल चलकर दिन में चार बार हाजिरी देने का नियम लागू कर दिया; और जब एक कालेज की बाहरी दीवार पर यह नोटिस फटा हुआ पाया गया तो उस कालेज के सारे छात्रों, कर्मचारियों और अध्यापकों तक को गिरफ्तार कर लिया गया। निश्चय ही उन फौजी अफसरों का ऐसा खयाल था कि वे संकट की घड़ी में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा कर रहे हैं। वे यूरोप और मध्यपूर्व के मोर्चों से ताजा लौटे थे और पूरे जी-जान से अपनी कारगुजारी दिखाने को बेताब थे। पंजाब के हत्याकांड के विरोध में सरकार द्वारा दी जानेवाली 'सर' की पदवी को ठुकरानेवाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस आतंकराज के बारे में बिलकुल ठीक कहा था, "जलियांवाला बाग में जो हुआ, वह पैशाचिक युद्ध का पैशाचिक प्रतिफल ही था।"

सरकार ने पंजाब की घटनाओं पर लोहे का ढकना-सा डाल दिया था। गांधीजी ने १८ अप्रैल को सत्याग्रह स्थगित कर दिया था और वह पंजाब जाना चाहते थे। वह सरकार से कोई झगड़ा नहीं मोल लेना चाहते थे, इसलिए उन्होंने वाइसराय से वहां जाने की बकायदा अनुमति मांगी, लेकिन पूरे छह महीने तक उन्हें उस प्रांत में जाने की इजाजत नहीं दी गई। सी० एफ० एंड्रूज वहां से गांधीजी को जो खबरें भेज रहे थे, वे बड़ी ही चिंताजनक थीं। इस बीच सरकार ने लार्ड हंटर की अध्यक्षता में पंजाब के उपद्रवों की पड़ताल के लिए एक जांच-समिति नियुक्त कर दी थी। कांग्रेस ने उसका विरोध किया और अपनी ओर से एक गैर-सरकारी जांच-समिति बनाई, जिसमें पं० मोतीलाल नेहरू, सी० आर० दास, अब्बास तय्यबजी, एम० आर० जयकर और गांधीजी को रखा गया।[1] इस गैर-सरकारी

[1] फजलुलहक भी इस समिति के सदस्य थे और के० संतानम को मंत्री बनाया गया

समिति के सदस्य की हैसियत से जब गांधीजी पंजाब गये तभी उन्हें वहां मार्शल-ला लागू किये जाने का पता चला। अपनी छान-बीन के बाद जनता पर किये गए भयंकर अत्यचारों के बारे में जो अकाट्य तथ्य गांधीजी के हाथ में आये वे निश्चय ही दिल दहलानेवाले थे। पंजाव में उन्होंने जो देखा-सुना उससे ब्रिटिश साम्राज्य के ईश्वरीय देन होने का उनका जो विश्वास चला आता था वह काफी हद तक डगमगा गया। लेकिन सरकार में उनकी आस्था फिर भी बनी रही। पंजाव के क्रूर दमन के लिए उन्होंने कुछ सिर-फिरे अंग्रेज अफसरों को जिम्मेवार माना और यह आशा प्रकट की कि सचाई मालूम हो जाने पर सरकार हालत को जरूर सुधारेगी।

२४ दिसंवर, १९१९ को इंग्लैंड के बादशाह पंचम जार्ज ने एक शाही फरमान निकालकर इंडियन रिफार्म्स एक्ट (नये संवैधानिक सुधार) की स्वीकृति और राजनैतिक बंदियों को माफी[१] देने की घोषणा की। उस फरमान में अधिकारियों और प्रजाजन को आपस में सहयोग करने के लिए भी कहा गया था। इस शाही घोषणा पर अपनी राय देते हुए गांधीजी ने लिखा था, "यह ऐसा दस्तावेज है, जिसपर हर अंग्रेज को गर्व और हर भारतीय को संतोष होना चाहिए। इस शाही घोषणा ने अविश्वास को मिटाकर विश्वास को जगाया है। अब देखना है कि सरकारी अधिकारी इसपर किस हद तक आचरण करते हैं।"

लेकिन भारत-स्थित ब्रिटिश नौकरशाही ने घोषणा के अनुसार विश्वास जगाने और सहयोग करने की दिशा में कोई तत्परता नहीं दिखाई। गांधीजी ने केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों से 'हृदय-परिवर्तन' की जितनी भी अपीलें

था। एम० आर० जयकर को पं० मोतीलाल नेहरू के स्थान पर लिया गया, जब अमृतसर-कांग्रेस के सभापति चुने जाने के बाद उन्होंने समिति से त्यागपत्र दे दिया था।

—अनुवादक

[१] राजनैतिक बंदियों की माफी के सम्बन्ध में घोषणा के शब्द इस प्रकार थे—"गत उपद्रवों के कारण जिन लोगों को दंड दिये गए हैं, उनमें से जिनके छोड़ने से सार्वजनिक सुरक्षा को कोई भय न हो, उन्हें छोड़ दिया जायगा।"

—अनुवादक

कीं वे सब-की-सब अनसुनी हो रहीं। जब मार्च १९२० में, पंजाब में मार्शल ला के अंतर्गत फांसी की सजा पाये हुए बीस कैदियों की अपीलें रद्द कर दी गईं तो उन्होंने लिखा—"सबसे बड़ी अदालतों पर भी राजनैतिक असर पड़े बिना न रह सका।" जब पंजाब में अत्याचार करनेवाले अफसरों को वहां से हटाया नहीं गया और फिर पंजाब में रहनेवाले अंग्रेजों द्वारा उनका सम्मान भी किया जाने लगा तो गांधीजी के विस्मय की सीमा न रही। जब हंटर-कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो उन्होंने उसे 'लीपा-पोती करने की कोशिश" से अधिक और कुछ न पाया। वह मन-ही-मन सोचने लगे कि कहीं भारत में ब्रिटिश नौकरशाही की कोई ऐसी गुप्त आचरण-संहिता तो नहीं बनी हुई है, जिसके आगे "महान ब्रिटिश जाति का कोई बस नहीं चल पाता और उसे नौकरशाही के आगे झुक जाना पड़ता है?"

अनचाहे भी यह दुःखद विश्वास उनके मन में दृढ़ होता चला गया कि जिस शासन-प्रणाली को वह सुधारने का प्रयत्न करते रहे हैं, वह सुधार के काबिल रही ही नहीं, उसे तो नष्ट ही करना होगा। १९१९ के दिसंबर महीने में उन्होंने अमृतसर-कांग्रेस को यह सलाह दी थी कि ब्रिटिश सरकार द्वारा दी गई शासन-सुधारों की नई क़िस्त को स्वीकार कर सहयोग के द्वारा पूर्ण उत्तरदायी शासन का वातावरण तैयार करना चाहिए। लेकिन दस ही महीने बाद सितंबर १९२० में उन्हें कहना पड़ा कि नई कौंसिलें और भारतीयों को गवर्नर बनाने की बातें सिर्फ हमारी "ताकत को घटाने की चालबाजियाँ" ही हैं।

पंजाब पर किये गए अत्याचारों के अतिरिक्त 'खिलाफत-संबंधी' अन्याय भी गांधीजी के इस विचार-परिवर्तन का एक कारण था।

: १९ :

विद्रोह का रास्ता

पंजाब की घटनाओं ने १९१९ में गांधीजी की साम्राज्य-भक्ति को डिगा अवश्य दिया था, लेकिन उसे आखिरी धक्का दिया खिलाफत के प्रश्न

ने, जिसे लेकर अगले साल भारत में एक प्रचंड राजनैतिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ था।

१९१४ में पहला महायुद्ध छिड़ा तो भारतीय मुसलमानों ने अपनेको बड़ी असमंजपूर्ण स्थिति में पाया। तुर्की का सुलतान उनका खलीफा था और इस लड़ाई में वह जर्मनी के बादशाह कैसर के साथ था यानी भारतीय मुसलमानों के बादशाह शाहे बरतानिया के खिलाफ। भारतीय सेना में मुसलमान भी बड़ी संख्या में थे। सरकार के लिए उनकी बेचैनी को मिटाना जरूरी हो गया। इसलिए ब्रिटिश प्रधान मंत्री, लायड जार्ज ने खास इसी सवाल पर एक नीति-संबंधी वक्तव्य में कहा "हम तुर्की से एशिया माइनर और थ्रैस की उपजाऊ और ऐतिहासिक भूमि, जहां के ज्यादातर निवासी तुर्क ही हैं, छीनने के लिए यह लड़ाई नहीं लड़ रहे।" भारत के वाइसराय ने भी सार्वजनिक रूप से यह वादा किया कि "अरबिस्तान, मेसोपोटामिया और जद्दा के मुस्लिम तीर्थ-स्थानों की स्वतंत्रता की रक्षा की जायगी।'

१९१४ में जब गांधीजी कुछ समय के लिए इंग्लैंड रुके थे तो वहां के भारतीय मुसलमानों की तुर्की-संबंधी चिंता की बात उन्हें मालूम हुई थी। १९१५ से १८ के बीच के समय में जब वह सरकार से किसी भी तरह का संघर्ष लेने के पक्ष में नहीं थे, तो भारतीय मुस्लिम नेता उनसे प्रायः खिलाफत के भविष्य के संबंध में सलाह-मशवरा किया करते थे। उन्हीं दिनों गांधीजी ने मुस्लिम लीग और अलीगढ़ के मुस्लिम विश्व विद्यालय में भाषण दिये। मुस्लिम देशभक्तों को वह हमेशा यही सलाह देते थे कि उन्हें धीरज रखना चाहिए और हिंसा तथा उत्तेजना से बचते हुए अहिंसात्मक उपायों का अवलंबन करना चाहिए। खिलाफत के एक नेता मुहम्मद अली उस समय जेल में थे। गांधीजी का उनसे भी पत्र-व्यवहार था। १९१८ में जब वह वाइसराय द्वारा आयोजित युद्ध-सम्मेलन में भाग लेने के लिए दिल्ली गये तो मुहम्मद अली को रिहा करने की जोरदार सिफारिश की और मुसलमानों को यह आश्वासन देने का कि तुर्की के भविष्य के बारे में मुसलमानों की भावनाओं का आदर किया जायगा सरकार से आग्रह भी किया।

१९१८ के नवंबर महीने में जब पहला महायुद्ध समाप्त हो गया तो

खिलाफत के सवाल ने फिर जोर पकड़ा। १९२० के जनवरी महीने में मुस्लिम नेताओं का एक प्रतिनिधि-मंडल वाइसराय से मिला तो उन्होंने यह कहकर छुट्टी कर दी कि यदि भारतीय मुसलमानों का कोई डेपुटेशन इंग्लैंड जाना चाहे तो उसके लिए सारा इंतजाम कर दिया जायगा।

वाइसराय से दरख्वास्तें करने और इंग्लैंड प्रतिनिधि-मंडल भेजने में अब बहुत-से मुस्लिम नेताओं का विश्वास भी नहीं रह गया था। उनमें मौलाना अबुल कलाम आज़ाद भी थे, जो उन दिनों 'अलहिलाल' नामक उर्दू पत्र का संपादन करते थे। खिलाफत के नेताओं की एक बैठक छह घंटे तक इस बात पर बहस करती रही कि अब अगला कदम क्या हो; लेकिन किसी नतीजे पर नहीं पहुंच पाई। गांधीजी को उस बैठक में खासतौर पर बुलाया गया था। उन्होंने यह काम एक उपसमिति के जिम्मे सौंपने की सलाह दी। उस उपसमिति में अबुल कलाम आज़ाद, हकीम अजमल खां और गांधीजी को रखा गया। मौलाना आज़ाद के कथनानुसार "असहयोग का विचार सबसे पहले उस उपसमिति में ही पैदा हुआ।"[1] दूसरे दिन गांधीजी ने जब "ब्रिटिश सरकार से असहयोग का कार्यक्रम" मुस्लिम नेताओं के आगे रखा तो बहुत-से घबरा उठे और उन्होंने तजवीज पर गौर करने के लिए वक्त की मांग की।

१९२० के फरवरी महीने में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की अध्यक्षता में कलकत्ता में खिलाफत-सम्मेलन हुआ और उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि गांधीजी की तजवीज को मंजूर कर लेना चाहिए। इसी बीच तुर्की के साथ संधि की शर्तें प्रकाशित हुईं, उससे मुसलमानों का असंतोष और बढ़ गया। तुर्की के साथ नरमी का वह बर्ताव नहीं किया गया, जिसकी भारतीय मुसलमानों को आशा थी और जिसकी वे बराबर मांग करते आ रहे थे। वाइसराय की इस सलाह ने तो कि "अपने तुर्की बिरादरों की बदकिस्मती को चुपचाप और धीरज से बर्दाश्त कर लेना ही हिंदी मुसलमानों के लिए वाजिब है" और भी जले पर नमक छिड़क दिया। भारतीय मुसलमानों के सब्र का घड़ा भर चुका था। खिलाफत के नेता अपने विरोध और गुस्से को किसी भी तरीके से जाहिर करने के लिए बेताब हो उठे। ९ जून

[1] महादेव देसाई : 'मौलाना आज़ाद', आगरा (१९४०), पृष्ठ २७

को इलाहाबाद में खिलाफत कमेटी की बैठक हुई और उसमें एक राय से गांधीजी के असहयोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। वाइसराय को एक महीने का नोटिस देकर असहयोग-आंदोलन शुरू करने का भार भी गांधीजी को ही सौंपा गया था। ऊपर के फैसले के पंद्रह दिन बाद गांधीजी ने वाइसराय को लिखकर सूचित कर दिया कि ब्रिटेन ने युद्ध-काल में मुसलमानों से जो वादा किया था, उसके अनुसार अगर तुर्की की संधि-शर्तों में परिवर्तन नहीं किया गया तो वह मुसलमानों को सरकार से असहयोग करने और हिंदुओं को भी उस आंदोलन में शरीक हो जाने के लिए कहेंगे।

खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों से पूरी तरह सहमत न होते हुए भी अपने अत्यधिक धार्मिक दृष्टिकोण के कारण गांधीजी यूरोपियनों और पढ़े-लिखे हिंदुओं की अपेक्षा उनकी भावनाओं को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते थे और इसीलिए इस प्रश्न पर मुसलमानों से उनकी सहानुभूति थी। लेकिन दुर्भाग्य से खिलाफत के बारे में उनका सारा ज्ञान धर्मप्राण मौल-वियों और अखिल इस्लामवाद के उत्साही समर्थकों द्वारा दी हुई जानकारी तक ही सीमित रहा, इसलिए वह इस समस्या के घोर प्रतिक्रियावादी स्व-रूप को समझने में असमर्थ रहे। वह यह देख ही न सके कि खिलाफत तो खुद ही मौत की घड़ियां गिन रही है, यहांतक कि तुर्की के मुसलमान ही उसे जीवित रखना नहीं चाहते; और तुर्कों के ओटोमान साम्राज्य को प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में जर्मनी के हैप्सबर्ग साम्राज्य की ही तरह बचाया नहीं जा सकता और इस्लामी दुनिया के अरब आदि सभी छोटे-बड़े मुस्लिम राष्ट्र तुर्की साम्राज्य के जुए को उतार फेंकने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

सितंबर १९२० में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ और उसमें गांधीजी का असहयोग का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया गया। अब वह एक साथ राष्ट्रीय और खिलाफत दोनों ही संघर्षों के नेता थे। अली बंधुओं के साथ उन्होंने सारे देश का दौरा किया और सर्वत्र हिंदू-मुस्लिम एकता का जैसे ज्वार ही आ गया। हिंदू और मुसलमान दोनों ही बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उनके भाषण सुनने को जमा होते थे। यहांतक कि पर्दानशीन मुस्लिम

महिलाएं भी उन्हें आग्रहपूर्वक अपनी सभाओं में ले जाने लगीं; जहां बूढ़े-बूढ़े मौलवी भी आंखों पर पट्टी बांधे वगैर तकरीर नहीं कर सकते थे, लेकिन गांधीजी को इतना "पाक, नेक और साफ़दिल" समझा जाता था कि उनकी आंखों पर पट्टी बांधने की जरूरत ही नहीं महसूस की गई। यह सब देखकर गांधीजी को भी हिंदू-मुस्लिम एकता की अपनी मनोभिलाषा पूरी होने का विश्वास होने लगा।

अब वह एक ऐसे जन-संघर्ष का नेतृत्व करने जा रहे थे, जिसका उद्देश्य देश से विदेशी शासन को समाप्त करना था। अहिंसक होते हुए भी वह संघर्ष एक खुला विद्रोह था।

जिस साम्राज्य का उन्होंने गौरव-गान किया था, जिस साम्राज्य की लड़ाइयों को, अहिंसावादी होने के बावजूद, अपना मानकर उन्होंने मदद की थी, उसी साम्राज्य के खिलाफ राजद्रोह के रास्ते पर अनचाहे ही वह काफी दूर तक निकल आये थे। 'यंग इंडिया'[१] के १५ दिसंबर, १९२१ के अंक में उन्होंने लिखा था—"लार्ड रीडिंग को यह बात समझ लेनी चाहिए कि असहयोग करनेवाले सरकार से जंगी लड़ाई लड़ रहे हैं; और उन्होंने सरकार के खिलाफ बगावत कर दी है।"

ये वही गांधीजी थे, जिन्होंने मदरास के वकीलों की एक सभा में १९१५ के अप्रैल महीने में "अपार हर्ष के साथ ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी वफादारी को दुहराते हुए" उस साम्राज्य की "कई खूबियों में से

---

१ अंग्रेजी साप्ताहिक "यंग इंडिया" और उसके हिंदी तथा गुजराती संस्करण 'नवजीवन' गांधीजी ने प्रथम सत्याग्रह आंदोलन के समय १९१९ में शुरू किये थे। जैसाकि खुद महात्माजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, "इन अखबारों के जरिए मैंने सत्याग्रह को शिक्षा जनता को यथाशक्ति देना शरू किया। पहले दोनों अखबारों की थोड़ी ही प्रतियां छपा करती थीं; सो बढ़ते-बढ़ते ४०,००० के आसपास पहुंच गई थीं।...दोनों अखबारो ने आड़े समय पर जनता की अच्छी सेवा की और फौजी कानून के जुल्म को हल्का करने में हिस्सा लिया।" बाद में इनको बंद करके इनकी जगह 'हरिजन' और 'हरिजन सेवक' शुरू किये। 'हरिजन सेवक' 'हरिजन' का हिंदी संस्करण था और दूसरी भी कई भारतीय भाषाओं में उसके संस्करण प्रकाशित होते थे।

सबसे बड़ी खूबी" यह बताई थी कि "ब्रिटिश साम्राज्य के हर प्रजाजन को अपनी योग्यता और रुतबे के अनुसार तरक्की का पूरा मौका मिला हुआ है और हर आदमी अपने विवेक के अनुसार सोचने-विचारने को पूरी तरह आज़ाद है।"

दक्षिण अफ्रीका में पूरे बीस वर्षों तक गोरी सरकार से संघर्ष कर चुकने के बाद यह बात तो गांधीजी को मालूम हो ही जानी चाहिए थी कि गोरे और कालों में तथा शासक एवं शासितों में कोई समता इस साम्राज्य में नहीं थी। जिन उपनिवेशों में गोरों का बाहुल्य था, जैसे कि आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि, वे तो बहुत तेजी से शासक देश के समकक्ष आते जा रहे थे, लेकिन इंग्लैंड के अधीनस्थ देशों में उत्तरदायी शासन की प्रगति की रफ्तार या तो बहुत धीमी थी या बिलकुल ही नहीं थी। भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव कैसे पड़ी और यहां उसकी जड़ें कैसे मजबूत हुईं, इसकी जानकारी गांधीजी को न रही तो, सो बात नहीं। ईस्ट इंडिया कंपनी की जीत का कारण उन्होंने भारतीय राजाओं की आपसी लड़ाइयों और पारस्परिक फूट को ही माना था। भारत में शांति-स्थापना के अंग्रेजों के दावे की उन्होंने यह कहकर आलोचना की थी कि शांति केवल नाम को ही थी, असलियत में तो भारतीयों को निर्वीर्य और कायर बना दिया गया था और रेलों, अदालतों और विदेशी शिक्षा-प्रणाली ने देश पर विदेशी शासन के शिकंजे को कसा ही था। भारत में अंग्रेजी राज्य पर इतने कड़े आरोप लगाने के बाद भी उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला, वह बड़ा ही अद्भुत था—भारत को कुचलने का दोषी ब्रिटिश राज्य नहीं, विदेशी सभ्यता थी, जिसने इस तरह की शासन-प्रणाली को जन्म दिया था। उनकी दृष्टि में सारी अंग्रेज जाति उस सभ्यता से पीड़ित और उसकी शिकार बनी हुई थी; वह घृणा की नहीं दया की पात्र थी। इसीलिए वह विजेताओं पर आध्यात्मिक विजय की बात किया करते थे। उन्होंने कहा भी था, "ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी वफादारी जाहिर करने में मेरा स्वार्थ ही है। मैं अंग्रेज जाति के जरिए अहिंसा का महान संदेश फैलाना चाहता हूं।" १९१५-१६ में पश्चिम के भौतिकवाद के घोर विरोध के कारण और पूर्व की प्राचीन संस्कृति, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, चर्खा और खादी

के विकास और भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार पर अपने अत्यधिक आग्रह के कारण वह निरे आदर्शवादी, राजनीति से एकदम परे और बिलकुल ही दूसरी दुनिया के व्यक्ति मालूम पड़ते थे।

इस सबसे कुछ लोगों का यह विश्वास हो चला था कि गांधीजी अपनी शक्ति और प्रतिभा का उपयोग निर्दोप और अहानिकर सामाजिक सुधारों को गति देने में ही करेंगे। लेकिन यह उन लोगों की भूल थी। गांधीजी के निकट राजनैतिक और अराजनैतिक कार्यों का विभाजन करनेवाली कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं थी। जब वे लोगों से धर्म पर आचरण करने के लिए कहते तो हमेशा इस बात पर जोर देते थे कि एक ईश्वर को छोड़ और किसी भी सांसारिक शक्ति से डरना नहीं चाहिए। जिस स्वदेशी को अपनाने का वह उपदेश देते थे वह भी "जहां हम रहते है वहीं की चीजों का उपयोग और वहीं की सेवा करने" की धार्मिक प्रवृत्ति ही थी और इसीसे वह यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकाला करते थे कि अपनेको जीवित रखे बिना भारत लंकाशायर के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। राष्ट्रभाषा के रूप में किसी विदेशी भाषा के प्रयोग के वह सख्त खिलाफ थे और १९१८ के युद्ध-सम्मेलन में तो हिंदी में बोलकर उन्होंने सबको चकित ही कर दिया था। सरकार शीघ्र ही इस नतीजे पर पहुंच गई कि यह आदर्शवादी गांधी तो मानवी शक्ति का ऐसा बारूदखाना है, जिसे न तो काबू में रखा जा सकता है और न जिसके बारे में यही कहा जा सकता है कि यह कब क्या कर बैठेगा?

१९१६ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटन करते हुए तो गांधीजी ने कई बातें बिलकुल साफ-साफ ही कह दीं। भारतीय राजाओं को उन्होंने उनकी तड़क-भड़क और श्री-संपन्नता के लिए खूब कसकर फटकारा—"जब मैं यह सुनता हूं कि ब्रिटिश भारत या देशी राज्यों के किसी बड़े शहर में कोई महल बनाया जा रहा है तो मैं चौंक पड़ता हूं और एकदम मेरे मुंह से निकल जाता है कि हाय वह तो किसानों की गाढ़ी कमाई का पैसा है!" उसी भाषण में उन्होंने आगे कहा था, "अगर हम ईश्वर में भरोसा रखते हैं और उससे डरते हैं तो फिर हमें किसीसे डरने की जरूरत नहीं—न राजा-महाराजाओं से, न वाइसरायों से और न बादशाह पंचम-

जार्ज से ही।" श्रीमती एनी वेसेंट भी उस समारोह में उपस्थित थीं; उनसे यह सब सहा नहीं गया और वह चिल्ला उठीं, "वंद भी कीजिये इस सबको।" और वहां उपस्थित एक वड़े अंग्रेज अफसर ने चिनचिनाकर कहा था—"हमें इस आदमी की इस तरह की बकवासों को बंद करना ही होगा।"

लेकिन जिसे गांधीजी उचित समझते थे उसे कहने और करने से उन्हें दुनिया की कोई भी ताकत रोक नहीं सकती थी। चंपारन के मजिस्ट्रेट से उन्होंने कहा था—"आज्ञा का उल्लघन करने में मेरा उद्देश्य कानून से स्थापित सरकार का अपमान करना नहीं, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानून को स्वीकार करता है, अर्थात् अंतरात्मा की आवाज़, उसका अनुसरण करना है।" और यह सिद्धांत उस समय के किसी भी उग्रतम राजनीतिज्ञ से निस्संदेह कहीं अधिक क्रांतिकारी था।

आरंभिक वर्षों के इन अनुभवों ने भारत में ब्रिटिश राज्य के असली स्वरूप को देखने-समझने में गांधीजी की काफी सहायता की। ब्रिटिश साम्राज्य की अच्छाइयों में उनका विश्वास क्रमशः डिगता चला गया।

अपनी मातृ-भूमि की गरीबी का कुछ ज्ञान तो उन्हें पहले से भी था; 'हिंद स्वराज्य' में उन्होंने उसका जिक्र भी किया था, लेकिन उसकी वास्तविकता तो उन्होंने देश में आकर ही जानी और जो देखा-सुना, उससे दंग ही रह गये। बिहार के एक गांव में एक औरत को गदे कपड़ों में देखकर उन्होंने कस्तूरबा से कहा था कि वह उसे सफाई से रहने की बात समझा दें। उस औरत ने कस्तूरबा को अपनी झोंपड़ी में लेजाकर जवाब दिया था, "देखिये, घर में मेरी इस पहनी हुई साड़ी के अलावा दूसरा कोई भी कपड़ा नहीं है। मैं क्या तो धोऊं और क्या पहनूं? आप महात्माजी से कहकर मेरे लिए एक साड़ी का इंतजाम और करवा दीजिये; फिर उनका हुकुम सिर-माथे, रोज धुली साड़ी पहना करूगी।"

१९१७ में दक्षिण अफ्रीका में बाढ़ के कारण वहां के भारतीयों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। उन्होंने भारत से सहायता की मांग की तो उसी वर्ष दिसंबर महीने में 'इंडियन ओपिनियन' में गांधीजी ने एक लेख लिखकर कहा कि उन्हें भारत से सहायता की आशा नहीं करनी चाहिए—"यहां

इतनी भयंकर गरीबी है कि वहां के बाढ़ग्रस्तों के लिए भी किसी तरह की आर्थिक सहायता मांगने की हिम्मत मैं नहीं कर सकता। यहां तो एक पाई भी सोने की मुहर के बराबर है। इस समय मैं ऐसे प्रदेश में हूं, जहां हजारों लोग सिर्फ एक जून सत्तू और नमक या सिर्फ उबाली हुई दाल खाकर जी रहे हैं।"

गुजरात राजनैतिक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए नवंबर १९१७ में भी उन्होंने देश की घोर गरीबी का उल्लेख किया था। उन्होंने कहा था कि सरकार ईमानदारी से ऐसा मानती है कि राष्ट्र की संपन्नता में वृद्धि हो रही है; "अपने विवरणों और वृत्तांतों पर वह इतना अधिक आंख मूंदकर विश्वास करती है।"

शुरू-शुरू में ब्रिटिश उच्चाधिकारी गांधीजी का बड़ा सम्मान करते रहे, क्योंकि वे उन्हें पक्का राजभक्त समझते थे। लेकिन ज्योंही गांधीजी ने सरकारी नीतियों और अधिकारियों की आलोचना करना शुरू किया, सारी सरकारी मशीनरी के कान खड़े हो गये और वह अधिकारियों के उतने प्रिय पात्र भी नहीं रहे। प्रादेशिक और केंद्रीय अधिकारियों की अपेक्षा जिलों के हाकिम उनसे अधिक घबराने लगे, क्योंकि उन बेचारों को गांधीजी के आंदोलन का खटका हमेशा लगा रहता था और यह आशंका भी कि न जाने कब वह खतरे का रूप धारण कर ले। गांधीजी की पहली भिड़ंत तिरहुत संभाग के आयुक्त से हुई और दूसरी बंबई सूबे में अहमदाबाद के आयुक्त से। अहमदाबाद के कमिश्नर को तो उन्होंने "ब्रिटिश साम्राज्य के लिए जर्मनी से भी बड़ा खतरा" माना था और उसके साथ अपने संघर्ष को "ब्रिटिश साम्राज्य को अंदरूनी खतरे से बचाने की कोशिश" कहा था! १९१७ में तो वह सरकार के निकट इतने अविश्वसनीय हो उठे कि उनके पीछे खुफिया पुलिस भी लगा दी गई। नौकरशाही के समूचे तंत्र को वह भय पर टिका हुआ मानते थे और यह कि "अफसर तो जनमत के आगे न झुकने को ही अपनी अफसरी और शान" समझता था। बार-बार के अनुभवों से जब उन्हें विश्वास हो गया कि सरकारी तंत्र अपनी इज्जत के सवाल पर कितना अड़ियल, अपनी गलतियों को सुधारने के मामले में कितना दीर्घ-सूत्री और अनमनीय होता है तभी उन्होंने संघर्ष का मार्ग अपनाया था।

उन्होंने लिखा भी था—"मनुष्य की गिरावट और भ्रष्टता में विश्वास करना मेरे स्वभाव के खिलाफ है, लेकिन नौकरशाहों का पतन तो इस हद तक हो गया है कि अपने मतलव को पूरा करने के लिए वे किसी भी तरीके को अपनाने से बाज नहीं आते।" नौकरशाही से पूरी तरह निराश हो चुकने पर ही वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस प्रणाली को सुधारा नहीं जा सकता, समाप्त ही करना होगा।

भारत के वाइसराय ने इस वात को वहुत पहले ही समझ लिया था कि यदि गांधीजी अच्छे मित्र बन सकते हैं तो वह उतने ही खतरनाक विरोधी भी साबित हो सकते हैं। १९१७-१८ में चंपारन की लड़ाई और दिल्ली के युद्ध-सम्मेलन के समय तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने गांधीजी का सहयोग और शुभेच्छाएं वनाये रखने की कुछ कोशिशें कीं; लेकिन वाद के दो वर्षों में अन्य उच्च अधिकारियों की भांति उनका भी यह विश्वास दृढ़ हो चला कि गांधीजी तो सरकार से झगड़ने का वहाना ही ढूंढ़ा करते हैं और कोई वात समझना नहीं चाहते, हर मामले में जवर्दस्त विरोधी रुख वनाये रहते हैं। शुरू के उन दिनों में ब्रिटिश सहकार जहां उनकी इज्जत करती थी वहां उनकी नीतियों और उद्देश्यों को लेकर आशंकित भी रहती थी। सरकार उनके सत्याग्रह-आंदोलन को भारत में ब्रिटिश राज्य के लिए सिर्फ एक चुनौती ही मानती थी, उस चुनौती के नैतिक और अहिंसात्मक आधार को, जिसे गांधीजी इतना अधिक महत्व देते थे, वह बिलकुल ही नहीं देख पाती थी। अंग्रेजों के लिए भारत से अहिंसावादी तरीकों से भी हटाये जाने में भला कौन-सी अच्छाई हो सकती थी! वैसे उनका यह विश्वास भी नहीं था कि कोई जन-आंदोलन अहिंसक रह भी सकता है। रौलट बिलों और खिलाफत के सवालों पर गांधीजी की यह सलाह कि झुकने से सरकार की प्रतिष्ठा वढ़ेगी और उसे सफलता मिलेगी, अंग्रेजों की समझ में नहीं आ पाती थी, और इसलिए उनकी दोस्ती और साम्राज्य-भक्ति पर उन्हें विश्वास नहीं हो पाता था।

यह कहना कि १९२० की ग्रीष्म और शरद् की घटनाओं ने गांधीजी को राजभक्त से विद्रोही बना दिया, सही नहीं है। उन घटनाओं ने तो केवल उस प्रक्रिया को पूरा किया जो वहुत पहले शुरू हो चुकी थी। १९२०

में उनकी घोर निराशा उस आशा के टूटने की ही जबर्दस्त प्रतिक्रिया थी, जो उन्होंने युद्धकाल में अंग्रेजों को दी गई मदद के बदले युद्ध के बाद स्वराज्य की स्थापना के सम्बन्ध में लगा रखी थी। सरकार द्वारा सभी तरह के आंदोलनों के विरोध की नीति और राजनैतिक एवं आर्थिक अन्यायों को मिटाने के लिए अहिंसक उपायों पर अमल करने के सहज अधिकार के गांधीजी के दावे में कभी-न-कभी तो संघर्ष होना ही था और अन्त में वह हुआ। आश्चर्य यही है कि उसमें इतना अधिक विलम्ब हुआ। युद्ध-काल में गांधीजी सरकार को आंदोलन करके किसी परेशानी में नहीं डालना चाहते थे और सरकार भी उनके समर्थन और सहानुभूति को खोने के पक्ष में नहीं। लेकिन कोई भी विदेशी सरकार गुलाम प्रजा के इस अधिकार को कि वह उसके विधि-विधानों और प्रशासन को, अहिंसक उपायों से ही क्यों न हो, चुनौती दे, कब स्वीकार कर सकती है। इसलिए जब गांधीजी ने पंजाब के अत्याचारों और तुर्की के प्रति ब्रिटिश नीति के विरोध में अहिंसक विद्रोह की कमान संभाली तो सरकार ने उसे अपनी सत्ता और अस्तित्व के लिए चुनौती समझा और मुकाबले के लिए तैयार हो गई।

राजनीति में भी गांधीजी बड़ी ही भावुकता और सहृदयता से पेश आते थे। समझौते का कोई मौका वह हाथ से जाने नहीं देते थे। १९१९ के अंतिम और १९२० के आरंभिक महीनों में वह सरकार की ओर से कोई ऐसा शुभ संकेत पाने की आशा लगाये रहे, जो ब्रिटिश न्याय में उनकी डिगती हुई आशा को पुनः दृढ़ कर सके। १९१९ के दिसंबर महीने में शाही फरमान की घोषणा हुई। गांधीजी ने उसका स्वागत किया, पर अंत में वह सदा की तरह का एक निरा शब्दजाल होकर ही रह गया। भारत में बादशाह सलामत की सरकार ने उस फरमान की सही मन्शा को अमली रूप देने की जरा भी कोशिश नहीं की। पंजाब की घटनाओं और खिलाफत के सवाल पर अधिकारियों की कथनी और करनी के भेद को गांधीजी ने खूब अच्छी तरह देख लिया था। स्वभाव से सहज विश्वासी होने के कारण जबतक सरकार की नेकनीयती में उनकी आस्था बनी रही वह बराबर विश्वास करते रहे, लेकिन जिस क्षण आस्था टूटी, उन्हें ब्रिटिश राज्य एक नये ही रूप में दिखाई देने लगा! शासन की बुराइयों को वह अधिकारियों के

व्यक्तिगत दुर्गुणों और कमजोरियों का परिणाम मानते रहे थे और शासन की अच्छाइयों को वह शाश्वत समझते आये थे। लेकिन 'यंग इंडिया' के ३१ दिसंबर १९२१ के अंक में उन्होंने लिखा—"अच्छाइयां तो नीरो और मुसोलिनी के राज्यों में भी कुछ-न कुछ हो ही सकती हैं, लेकिन असहयोग का फैसला कर लेने के बाद तो हमें अच्छाइयों का विचार करना ही नहीं है...ब्रिटिश सरकार की उपकारी संस्थाएं लोक कथा के उस मणिधर सांप की तरह हैं, जिसके दांतों में हलाहल विष भरा होता है।"

: २० :

एक साल में स्वराज्य

गांधीजी ने खिलाफत कमेटी और कांग्रेस के आगे सरकार से अहिंसात्मक असहयोग का जो कार्यक्रम रखा था और जिसे देश की जनता और सरकार ने इतना क्रांतिकारी समझा था वह वास्तव में गांधीजी के व्यक्तित्व और उनके दार्शनिक विचारों का ही अभिन्न अंग था। १९०९ में उन्होंने लिखा था—"भारत को अंग्रेजों ने नहीं जीता, हमींने उसे उनके हवाले कर दिया। भारत में वे अपनी ताकत के बलपर नहीं हैं, हमीं उन्हें यहां रखे हुए हैं।"[१] इसके एक साल बाद कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को भेजे गए अपने संदेश में उन्होंने कहा था, "पेसिव रेजिस्टेंस ही भारत में हमारी सारी तकलीफों की रामबाण दवा है।" इसलिए जब वह इस नतीजे पर पहुंचे कि सरकार को किसी भी तरह सुधारा नहीं जा सकता तो "कुशासक को किसी भी तरह का सहयोग न देने के प्रजा के अनंतकालीन अधिकार"[२] का उपयोग करने की उन्होंने घोषणा कर दी। सरकारी शिक्षा-संस्थाओं का बहिष्कार करके इनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित करने की उनकी योजना में रवींद्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, श्री निवास शास्त्री और सी० आर० दास जैसे उनके प्रमुख समकालीनों को भी गहरा

१ गांधीजी : हिंद स्वराज्य; सस्ता साहित्य मंडल (१९५८); पृष्ठ ३४

२ लार्ड चेम्स फोर्ड को २२ जून, १९२० को लिखा गांधीजी का पत्र।

संदेह था। लेकिन स्वयं गांधीजी को कोई संदेह नहीं था, क्योंकि वह स्वयं अपने लड़कों पर इस नई शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग कर चुके थे। शिक्षा के लिए अंग्रेजी माध्यम को वह भारतीय बालकों को उन्हींके अपने देश में विदेशी बनाने की दूषित प्रथा कहकर निंदा करते थे। और जैसा वह कहते थे वैसा स्वयं करते भी थे। १९१५ में जब दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर बंबई में उनका स्वागत किया गया था तो उसमें अपना भाषण गुजराती में देकर उन्होंने वहां के सभी गण्य-मान्य नागरिकों को स्तंभित कर दिया था। १९१८ में वाइसराय द्वारा आयोजित युद्ध-सम्मेलन में हिन्दी में बोलकर उन्होंने वाइसराय और उनके सहयोगियों को 'ठेस' भी पहुंचाई थी।

भारत में ब्रिटिश अदालतों के अनिष्टकारी प्रभाव के बारे में तो वह अपना निर्णय १९०८ में अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज्य' में ही दे चुके थे—"वकीलों ने भारत को गुलाम बनाया, हिंदू-मुसलमानों के झगड़ों को बढ़ावा दिया और यहां अंग्रेजी सत्ता को मजबूत किया। अंग्रेजी शासन-काल की अदालतों की लंबी और खर्चीली कार्रवाइयों और उनके सत्यानाशी परिणामों के बारे में अपने समय के प्रमुख वकील पं० मोतीलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि "अदालत में जो जीता सो हारा, जो हारा सो मरा।"

'स्वदेशी' अर्थात् अपने ही देश की बनी चीजों का इस्तेमाल गांधीजी के असहयोग-आंदोलन का दूसरा कार्यक्रम था। दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आने के बाद से ही वह 'स्वदेशी' को अपनाने का उपदेश देते आ रहे थे। फरवरी १९१६ में उन्होंने ईसाई धर्म-प्रचारक पादरियों के एक सम्मेलन में कहा था कि भारत स्वयं जिंदा रहे बिना लंकाशायर के लिए जिंदा नहीं रह सकता। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और हाथ की कती-बुनी खादी के उपयोग की उनकी नीति को असहयोग-आंदोलन के जमाने में भारत सरकार और कई भारतीय राष्ट्रभक्तों ने भी भारत के साथ ब्रिटेन की व्यापार नीति पर करारा आघात कहा था। लेकिन गांधीजी विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को राजनैतिक दबाव की तरह बिलकुल ही इस्तेमाल नहीं कर रहे थे, उनका मूल उद्देश्य तो इसके द्वारा भारत के प्राचीनतम गृहोद्योग को पुनर्जीवित करना ही था। खेती पर दबाव इतना अधिक बढ़ गया था कि किसानों को पूरी रोजी नहीं मिल पा रही थी; चरखा अच्छी फसलवाले साल में उन्हें

कुछ रोजी दे सकता था और सूखे-गीले साल में तो वह भुखमरी और बेकारी के खिलाफ उनका 'बीमा' ही था।

कौंसिलों के बहिष्कार को लेकर कांग्रेस में बड़े बहस-मुबाहसे हुए और यहांतक कहा गया कि धारा-सभाएं तो स्वशासन की कला सिखाने के आवश्यक केंद्र हैं। लेकिन गांधीजी इस विचारधारा से ज़रा भी सहमत नहीं थे। न उन्होंने कौंसिलों के अन्दर जाकर 'भीतर से तोड़-फोड़' करने की नीति का ही समर्थन किया। दिसम्बर १९१९ में भी, जबतक अंग्रेजों की ईमानदारी में उनका विश्वास बना रहा, उन्होंने मोंटेगू-चेम्स-फोर्ड सुधारों को कार्यान्वित कहने की सिफारिश की; लेकिन जब विश्वास उठ गया तो वह कौंसिलों को देशसेवकों के मार्ग की बाधा और प्रलोभन समझने लगे।

इस तरह गांधीजी के असहयोग-आंदोलन का सार था, अंग्रेजी अदालतों, शिक्षण-संस्थाओं, कौंसिलों और विदेशी कपड़ों का बहिष्कार। अपने इस आंदोलन को उन्होंने कभी अवैधानिक नहीं समझा, क्योंकि उनके शब्द-कोश में वैधानिक और नैतिक एक-दूसरे के पर्याय ही थे। ब्रिटिश सत्ता इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ गई थी कि असहयोग-आंदोलन सफल हो गया तो उसकी सारी प्रशासनिक मशीनरी ठप्प हो जायगी। लार्ड चेम्स फोर्ड ने पहले तो "हद दर्जे की बेवकूफी" कहकर इस आंदोलन की खिल्ली उड़ाई; साथ ही, यह भी कहा कि जिनका सरकार से कुछ भी लेना-देना है, उन्हें यह तबाह कर देगी। साफ है कि वह ऐसी बात कहकर देश के सम्पन्न वर्गों को आतंकित करना चाह रहे थे। कई नरम दली (माडरेट) नेताओं ने भी इस आंदोलन की आलोचना में सरकार का साथ दिया। मुहम्मदअली जिन्ना ने कांग्रेस के दिसम्बर १९२० के नागपुर-अधिवेशन में इस आंदोलन का जबर्दस्त विरोध किया। गोखले के उत्तराधिकारी श्रीनिवास शास्त्री ने "सरकार का अनुचित और अविवेकपूर्ण विरोध करनेवाले अव्यावहारिक कार्यक्रम" के खतरों से अपने देशवासियों को सचेत किया।

असहयोग-आंदोलन के विरोध में ब्रिटिश सरकार और देश के माडरेट नेताओं की भी मुख्य दलील यह थी कि इससे अराजकता फैल जायगी। गांधीजी ने अराजकता के खिलाफ पहले से ही पेशबन्दी कर ली थी, लेकिन

असहयोग को नकारात्मक और खतरनाक आंदोलन कहकर निंदित करने-वालों ने उन सतर्कताओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। वास्तव में तो उस आंदोलन को 'असहयोग' का नाम देना ही भ्रामक था; क्योंकि जहां कुछ संस्थाओं को तोड़ा जा रहा था वहीं उनकी जगह नई संस्थाओं का निर्माण भी तो किया जाने को था। सरकारी स्कूलों और कालेजों को छोड़नेवाले शिक्षकों और विद्यार्थियों से राष्ट्रीय विद्यापीठों में सम्मिलित होने के लिए कहा गया था, अदालतों का बहिष्कार करनेवाले वकीलों और विवादार्थियों (मुवक्किलों) से कहा गया था कि वे अपने मुकदमे पंचायतों में ले जायं; सेना और पुलिस से इस्तीफे देनेवालों को कांग्रेस और खिलाफत-समिति के स्वयंसेवक दलों में भर्ती होने के लिए कहा गया था। केवल विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करके ही नहीं रह जाना था, उसके साथ-ही-साथ शहर और गांवों के लोगों के पहनने के लिए खादी और कताई-बुनाई को प्रोत्साहन देने की बात भी थी। इस तरह बहिष्कार के द्वारा लोगों के बेकार और निठल्ले हो जाने का कोई डर नहीं था, वह निरा नकारात्मक ही नहीं रच-नात्मक आंदोलन भी था। फिर यह भी नहीं भुलाना चाहिए कि मूल प्रस्ताव के अनुसार "असहयोग को अनुशासन व आत्म-त्याग के एक साधन के रूप में पेश किया गया" था। सरकारी उपाधियों और अवैतनिक पदों के परित्याग से आरम्भ करके आंदोलन को सामूहिक सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक पहुंचाने के लिए बीच में कई सीढ़ियां रखी गई थीं और हर जिले अथवा प्रांत को उनके अनुशासन और संगठन की स्थिति के ही अनुसार एक के बाद दूसरा अगला कदम उठाने की अनुमति देने की बात थी। पूरा नियंत्रण गांधीजी ने अपने हाथ में रखा था। जहां अनुशासन की जितनी तैयारी होगी उन्हें उसी स्तर तक असहयोग करने की इजाजत दी जायगी और यदि आंदोलन के उग्र रूप धारण करने की ज़रा-सी भी सम्भावना दिखाई दी तो फौरन आंदोलन बन्द कर दिया जायगा, यह बात गांधीजी ने आरंभ में ही स्पष्ट कर दी थी। इस तरह अहिंसा शांति की सबसे बड़ी गारंटी थी, जिसपर गांधीजी बहुत जोर दे रहे थे। असहयोग ब्रिटिश राज्य से किया जा रहा था, लेकिन अंग्रेजों से नफरत या बुरा व्यवहार करने की कड़ी मनाही थी। गांधीजी ने बार-बार इस बात की घोषणा की थी कि वे किसी

भी अंग्रेज के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करेंगे जैसा अपने सगे भाई से नहीं कर सकते। और कई सैद्धांतिक प्रश्नों पर असहयोग तो वह अपने सगे भाई से भी कर चुके थे।

गांधीजी असहयोग-आंदोलन के आत्मपरिष्करणवाले अंग पर बराबर जोर देते और उसके नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष पर उसमें सम्मिलित होनेवालों का ध्यान बार-बार आकर्षित करते रहे। भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत हुई थीं लोगों की आपसी फूट, हिंसा और भ्रष्टाचार के कारण, इसलिए जनता को इन बुराइयों से मुक्त होना ही पड़ेगा। अंग्रेजों का हृदय-परिवर्तन करने से पहले स्वयं भारतीयों को अपना हृदय-परिवर्तन करना होगा। यही काफी नहीं है कि भारतीय जनता सरकार से निडर हो जाय, उसे साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता, शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन, बेगार आदि सभी सामाजिक बुराइयों से भी अपना पीछा छुड़ाना होगा।

कांग्रेस के सितम्बर १९२० के कलकत्ता-अधिवेशन में गांधीजी ने कहा था कि यदि देश ने असहयोग के कार्यक्रम को सही ढंग से अपनाया तो एक साल में स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। सुभाषचन्द्र बोस ने इसे "नासमझी ही नहीं बचकानापन भी" कहा था।[१] भारत की भूमि में सौ वर्षों से पैर जमाये हुए ब्रिटिश साम्राज्य को अहिंसक आंदोलन के द्वारा साल-भर में उखाड़ फेंकने की बात वैसे तो बहुत ही आशावादितापूर्ण लगती है, लेकिन गांधीजी ने कोई राजनैतिक भविष्यवाणी या वादा तो किया नहीं था। उनकी राय में सदियों से सोई हुई जनता को जगाने, निडर बनाने और कमर सीधी करके खड़ा करने में एक साल का समय बहुत काफी था। भारतीय जनता का नैतिक कायाकल्प ही ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता के विचारों को बदल सकता था। गांधीजी का कहना था कि "आजादी जन्म लेने की तरह है। जबतक हम पूरी तरह आजाद नहीं हो जाते गुलाम बने रहते हैं। और जन्म तो सभीका एक क्षण में ही होता है।" और उन्होंने यह भी कहा कि मैंने तो राष्ट्र के आगे एक व्यावहारिक कार्यक्रम रख दिया है। अगर राष्ट्र युगों पुरानी अस्पृश्यता और नशाखोरी के अभिशाप से पीछा छुड़ाकर केवल एक साल में, अपने फुरसत के समय

१ बोस, सुभाषचन्द्र: 'इंडियन स्ट्रगल'; कलकत्ता, १९४८, पृष्ठ १०४

का उपयोग कर साठ करोड़ की लागत की खादी तैयार कर सके तो उसका पुनर्जन्म हुआ ही समझना चाहिए। ऐसे राष्ट्र में अनुशासन, साहस और आत्म-त्याग की कोई कमी न होगी; उसकी तेजस्विता से आश्वस्त इंग्लैंड को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बराबरी की भागीदारी के अतिरिक्त भारत से व्यवहार करने का दूसरा कोई आधार हो ही नहीं सकता। स्वराज्य इंग्लैंड से उपहार में नहीं मिल सकता। "पार्लमेंट तो अपने अधिनियम से भारतीय जनता की घोषित आकांक्षा पर केवल मुहर लगाने का काम करेगी, जैसा कि उसने दक्षिण अफ्रीका के संघ के समय किया था।"

किसी भी राजनैतिक कार्यक्रम की सिद्धि के लिए उपयुक्त राजनैतिक संगठन भी होना चाहिए, यह बात गांधीजी को पच्चीस वर्ष की उम्र में ही मालूम हो गई थी, जब नेटाल के भारतीयों के अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में नेटाल भारतीय कांग्रेस की स्थापना की थी। अब 'अहिंसात्मक असहयोग' के एक सार्थक संगठन के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को नये सिरे से ढालने और संगठित करने की आवश्यकता गांधीजी ने अनुभव की। देश को वार्षिक सम्मेलन और लच्छेदार भाषण करने के मंच की नहीं, जनता के सतत सम्पर्क में रहनेवाले प्राणवान और लड़ाकू संगठन की आवश्यकता थी। समय के अनुकूल कांग्रेस का नया विधान तैयार करने में गांधीजी का हाथ था और वह विधान कांग्रेस के नागपुर-अधिवेशन में १९२० के दिसम्बर महीने में अंगीकृत कर लिया गया। उस विधान में 'सभी वैध और शांत उपायों से स्वराज्य की प्राप्ति' कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया गया था। इस तरह सत्याग्रह को कांग्रेस के विधान में विधिपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ। कांग्रेस संगठन को पहले से अधिक प्रातिनिधिक परन्तु साथ ही ऐसा स्वरूप दिया गया, जिससे दो अधिवेशनों के बीच के समय में रोजमर्रा के कामों को ज्यादा अच्छी तरह से किया जा सके।[१] अबतक कांग्रेस उच्च और मध्यम वर्ग की ही बपौती थी, लेकिन

---

[१] इस विधान की दो खूबियां थीं—एक तो कांग्रेस का प्रांतीय संगठन प्रांतों की भाषा के अनुसार यानी भाषावार प्रांतों के अनुसार किया गया और दूसरे अध्यक्ष, मंत्री और कोषाध्यक्ष सहित पन्द्रह सदस्यों की एक कार्यकारिणी नियुक्त की गई, जिसने कांग्रेस के रोजमर्रा के कार्य में एक क्रांति ही कर दी। —अनुवादक

अब पहली बार इसके दरवाजे छोटे शहरों और गांवों में बसनेवाली उस लाखों-करोड़ों जनता के लिए खोल दिये गए, जिसकी राजनैतिक चेतना को गांधीजी जगाने में लगे हुए थे।

कलकत्ता में तीन महीने पहले एक विशेष अविधवेशन करके असहयोग का जो प्रस्ताव पारित किया गया था, दिसंवर १९२० के नागपुर अधिवेशन में उसपर स्वीकृति की मुहर लगा दी गई। असहयोग के कार्यक्रम का विरोध यहांपर भी हुआ। स्वयं अधिवेशन के सभापति विजय राघवाचार्य ने उसकी आलोचना की और केलकर, जिन्ना और श्रीमती वेसेंट ने भी काफी विरोध किया। लेकिन आम प्रतिनिधियों के जोश और उत्साह के आगे विरोध टिक न सका; असहयोग कांग्रेस का मुख्य कार्यक्रम और गांधीजी उसके निर्विवाद नेता स्वीकार किये गए। उस दिन से लेकर जीवन के अंतिम दिन तक गांधीजी ने कांग्रेस और भारतीय राजनीति को जिस हद तक प्रभावित किया उसकी मिसाल विश्व के इतिहास में ढूंढ़े नहीं मिलता।

अब गांधीजी महात्मा थे; स्वेच्छा अपनाई हुई गरीबी, सादगी, विनम्रता और साधुता आदि गुणों के कारण वह अतीतकालीन ऋषि ही प्रतीत होते थे, जो मानो देश की मुक्ति के लिए पुराणों के बीते कल से वर्तमान में चले आये हों। देश की लाखों-करोड़ों जनता तो उन्हें अवतार पुरुष ही मानने लगी थी। एक बार बिहार के दौरे में जब मोटर का टायर फट गया तो गांधीजी ने उसमें से उतरने पर सड़क के किनारे एक बुढ़िया को खड़ा पाया। कहते हैं कि उसकी उम्र १०४ वर्ष की थी और वह बिना कुछ खाये-पीये सारे दिन बरसते पानी में वहां खड़ी इंतजार करती रही थी। जब किसीने उससे पूछा कि "अम्मा, तुम किसका रास्ता देख रही हो?" तो उसने कहा, "बेटा, तुममें महात्मा गांधी कौन है?" इस बीच गांधीजी भी उसके पास पहुच गये थे। उन्होंने पूछा, "मैया, तुम गांधी को क्यों देखना चाहती हो?" "वह भगवान के अवतार हैं, मैं उनके दर्शन करना चाहती हूं।" बुढ़िया ने जवाब दिया था। और पूरे पच्चीस बरसों तक लोग उनके पास केवल मार्गदर्शन के ही लिए नहीं, दर्शनों के लिए भी आते रहे। लोग महात्माजी के दर्शनों को काशी आदि तीर्थों की यात्रा से भी अधिक पुण्यप्रद मानते थे। कभी-कभी तो गांधीजी जन सामान्य

की इस श्रद्धा-भक्ति से दुःखी भी हो जाया करते थे। अपनी इस आत्म-पीड़ा को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा भी था—"महात्मा होने के कष्ट को केवल महात्मा ही जान सकता है।" लेकिन जनता की यह अपार श्रद्धा-भक्ति ही थी, जिसकी बदौलत वह भारत के सार्वजनिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित कर सके। जवान या बूढ़ा, वह सभीमें समान रूप से प्राण फूक देते थे। जवाहरलालजी ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में असहयोग-आंदोलन में गिरफ्तार होनेवाले उस किशोर की कहानी का विशद वर्णन किया है, जिसे टिकटी पर टांगकर कोड़े मारे गये थे और चमड़ी उधेड़कर खून के फव्वारे उड़ानेवाले हर कोड़े की मार पर वह 'महात्मा गांधी की जय' का नारा तबतक बुलंद करता रहा, जबतक पीड़ा से बेहोश न हो गया।

गांधीजी ने भारतीय जनता के दिल के तारों को झनझना दिया था। साहस और त्याग की उनकी अपाल को लोगों ने हाथों-हाथ लिया और वह स्वयं भी साहस और त्याग की जीवित मूर्ति ही थे। जैसा कि चर्चिल ने कहा था, वह 'नंगे फकीर' थे और उनकी इस फकीरी, संयम और आत्म-त्याग के ही कारण भारत की जनता उन्हें अपने प्राणों के इतना निकट अनुभव करती थी। उनसे प्रेरणा पाकर देश में और भी कई फकीर शीघ्र ही पैदा हो गये। वैभवपूर्ण जीवन का परित्याग कर गांधीजी के नेतृत्व में जेल जानेवालों में पं० मोतीलाल नेहरू, बाबू राजेंद्रप्रसाद, सी० आर० दास, सरदार वल्लभभाई पटेल, सी० राजगोपालाचार्य आदि अनके महा-पुरुष थे। गांधीजी के संपर्क में आने के बाद उन लोगों के जीवन का सारा अर्थ-बोध ही बदल गया था। बड़ौदा के भूतपूर्व न्यायाधीश अब्बास तय्यब-जी ने एक गांव से लिखा था—"लगता है, मानो मेरी उम्र बीस बरस कम हो गई; ओह, कितना अद्भुत अनुभव है। जनता के प्रति मेरा प्रेम उमड़ा आ रहा है और खुद जनता में से एक हो जाना कितने बड़े सम्मान की बात है! यह सब उस फकीर के बाने की करामात है, जिसने सारे भेद-भाव को खत्म कर दिया, हर बाधा-बंधन को तोड़ बहाया।" पं० मोती-लाल नेहरू ने इलाहाबाद के उच्च न्यायालय में अपनी लाखों की प्रैक्टिस को लात मार दी थी; बीमारी के बाद किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में स्वास्थ्य

लाभ करते हुए उन्होंने गांधीजी को जो पत्र लिखा था उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—"पहले के राजसी रसोड़े की जगह सिर्फ दो छोटी-सी रसोइयां और नौकरों की पुरानी पलटन में से अकेला एक मामूली-सा नौकर—चावल, दाल और मसाले की तीन छोटी-छोटी थैलियां, जो मज से एक खच्चर पर आ जाती हैं...शिकार को धता वताई, दूर-दूर तक पैदल घूमने निकल जाता हूं, राइफल और वंदूकों की जगह कितावों और पत्र-पत्रिकाओं ने ले ली है...कहां से कहां जा गिरे ! लेकिन जिंदगी का जो लुत्फ आज है वह पहले कभी न था।"

और असहयोग के इन्हीं दिनों के वारे में पंडित जवाहरलाल नेहरू भी अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि "मैं आंदोलन में इस कदर डूव गया था कि पुराने मुलाकातियों, दोस्तों और कितावों का भी ध्यान न रहा; अखबार भी सिर्फ आंदोलन की खवरों के ही लिए पढ़ता था...यहांतक कि अपने परिवार, पत्नी और वेटी को भी करीव-करीव भूल चला था।"[1]

: २१ :
उत्कर्ष

१९२१ भारत की जागृति का साल था। सर्वत्र उत्साह की लहर फैली हुई थी और असहयोग-आंदोलन जोर पकड़ता जा रहा था। 'एक साल में स्वराज्य' के नारे ने मजे-मजे से चली आती भारतीय राजनीति को जैसे विजली ही छुआ दी थी। गांधीजी के 'साहस और वलिदान' के गुरु मंत्र से दीक्षित सारा राष्ट्र युगों पुराने वंधन और भय की नागफांस को तोड़कर उठ खड़ा हुआ था। सरकार चिंतित थी और कुछ परेशान भी; वह तय नहीं कर पा रही थी कि सत्याग्रह को दवाने के लिए क्या करे; वह नहीं जानती थी कि हिंसात्मक आंदोलनों के खिलाफ की जाने-वाली कार्रवाइयों से सत्याग्रह-आंदोलन दव जायगा या और जोर पकड़

१ नेहरू, जवाहरलाल : 'मेरी कहानी', सस्ता साहित्य मंडल (१९६१) पृष्ठ ११७

लेगा ?

गांधीजी के लिए वे दिन घोर व्यस्तता के थे। वह अपनी सामर्थ्य से कहीं अधिक काम कर रहे थे। देश का कोई भाग ऐसा नहीं था जहां का उन्होंने दौरा न किया हो! वह छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता से संपर्क बनाये हुए थे। नेताओं को वह बराबर निर्देश देते, उनका मार्ग-दर्शन करते और आवश्यकता पड़ने पर कान-खिंचाई भी करते रहते थे। रोज ढेरों चिट्ठियां आतीं और वह सबका यथायोग्य उत्तर देते थे। उनके सचिव और सहायक गण दूर-दराज के गांवों के सही पते-ठिकाने मालूम करने के लिए रेलों की समय सारणियों और डाक-तार की निर्देशिकाओं के पन्ने रात-दिन पलटा करते थे। कई बार जब पत्र लिखनेवालों का नाम-पता बहुत कोशिश करने के बाद भी पढ़ने में न आता तो मूल चिट्ठी में से उसे काटकर लिफाफे पर चिपका दिया जाता था। दम मारने की फुर्सत नहीं मिलती थी, फिर भी गांधीजी 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' में लिखने के लिए वक्त निकाल ही लेते थे। इन पत्रों के हर पन्ने पर वह अपनी आत्मा को उंड़ेल दिया करते थे। देशवासियों में साहस और आस्था का संचार करनेवाले उस समय के अधिकांश लेख गांधीजी ने रेलगाड़ियों के तीसरे दर्जे में यात्रा करते हुए ही लिखे थे। सोने के लिए मुश्किल से चार-पांच घंटे का समय मिल पाता था और उसमें भी प्रायः विघ्न पड़ जाया करता था। दिन हो या रात उनके रास्ते की हर स्टेशन पर अपार मानव-मेदिनी दर्शन, स्वागत और जय-जयकार के लिए खड़ी ही होती थी। 'महात्मा गांधी के साथ सात मास' नामक पुस्तक के लेखक श्रीकृष्णदास ने आसाम के एक गांव के लोगों का उल्लेख किया है। लोगों ने ठान लिया था कि यदि गांधीजी की ट्रेन उनके स्टेशन पर नहीं रोकी गई तो सब-के-सब पटरियों पर लेट जायंगे और ट्रेन को आगे बढ़ने न देंगे। उन्होंने जो कहा था उसे कर दिखाया। और जैसे ही गाड़ी रुकी सारा गांव आधी रात के समय जलती मशालें लिये गांधीजी के डिब्बे में घुस गया और महात्मा गांधी की जय-जयकार से दिग्दिगंत को गुंजा दिया।

लोगों की इस श्रद्धा-भक्ति से गांधीजी को बड़ा कष्ट होता था। बेरिसाल की एक सभा में उन्होंने लोगों को फटकारा भी—"जब मैं 'महात्मा

गांधी की जय" का नारा सुनता हूं तो मेरे कलेजे में तीर चुभ जाता है। अगर आपके इस तरह चिल्लाने से स्वराज्य मिल जाय तो मैं यह दुःख भी सह लूंगा। लेकिन जब मैं लोगों को अपना समय और शक्ति इस तरह बेकार चिल्लाने में खर्च करते हुए देखता हूं और जो असली काम करने का है वह नहीं किया जाता है तो जी चाहता है कि मेरी जय बोलने के बदले मेरे लिए चिता चुन दी जाय और मैं उसकी जलती लपटों में कूदकर अपने हृदय की धधकती आग को शान्त कर सकूं।"

कठोर शब्दों में गांधीजी ने बहुत कड़ी बात कह दी थी; लेकिन साथ ही यह फटकार इस बात की द्योतक भी थी कि उस देश-व्यापी जोश-खरोश के समय भी वह चुपचाप रचनात्मक काम के किये जाने को ही अधिक महत्त्व देते थे।

लेकिन जनता को इस तरह जाग्रत होते देखकर गांधीजी को प्रसन्नता भी अवश्य होती थी। अपनी यात्राओं के दौरान किसी जगह उन्होंने कहा भी था, "महाकवि तुलसीदासजी ने जिस करुणा और दया का इतना बखान किया है उसकी जड़ें जमने लगी हैं।" स्वराज्य के लिए उनका बताया हुआ रास्ता बिलकुल सीधा और साफ था। भारत अंग्रेज़ों की तोपों के जोर से नहीं, खुद हिन्दुस्तानियों की खामियों और कमजोरियों की वजह से गुलाम था। जिस दिन भारत अपनेको अस्पृश्यता, कौमी झगड़े, नशाखोरी, विदेशी कपड़ों और अंग्रेज़ी सरकार द्वार संचालित या सहायता-प्राप्त संस्थाओं की गुलामी से मुक्त कर लेगा, उसमें एक नई शक्ति का संचार हो जायगा। स्वराज्य ब्रिटिश पार्लमेंट से इनाम के तौर पर मिलनेवाला नहीं था। गांधीजी ने तो, उन्हींके शब्दों में, "यहांतक कहने की धृष्टता कर डाली थी कि स्वराज्य भगवान भी नहीं दे सकता। उसे तो खुद हमींको अर्जित करना होगा।"

गांधीजी ने पहली बार अप्रैल १९१९ में कानून भंग किया था। उस समय प्रांतीय और केन्द्रीय दोनों ही सरकारों ने बड़ी मुस्तैदी से काम लिया। वह दिल्ली जा रहे थे; उन्हें रास्ते में ही गिरफ्तार कर एक स्पेशल ट्रेन से फिर बम्बई पहुंचा दिया गया और वहां पहुंचते ही वह रिहा भी कर दिये गए। उनकी अनुपस्थिति में गुजरात में उपद्रव हो गया था, और फिर कुछ

दिनों के बाद पंजाब में भी हुआ। इसलिए गांधीजी ने कुछ समय के लिए सविनय अवज्ञा के आंदोलन को स्थगित कर दिया था।

शुरू में तो सरकार भी जोश में आ गई थी और उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उनकी गिरफ्तारी को कोई खास महत्व नहीं दिया। लेकिन बाद में सोचने-विचारने पर सरकार को सत्याग्रह के मुकाबले का यह ढंग, यानी शक्ति का प्रयोग करना, उचित नहीं प्रतीत हुआ। उधर १६१६ के वसन्त में जो घटनाएं घटीं, उन्होंने जनता पर गांधीजी के अत्यधिक प्रभाव को सिद्ध कर दिया था; और ऐसे व्यक्ति की गिरफ्तारी खतरे से खाली नहीं हो सकती थी। फिर गांधीजी ने आंदोलन को पहले स्थगित और बाद में सीमित भी कर दिया था; और सरकार का ऐसा ख्याल था एक तो शायद वह कोई बड़ा देशव्यापी आंदोलन चलायंगे ही नहीं और दूसरे यह कि कांग्रेस के सब नेता और सारे गुट उनका साथ नहीं देंगे। इसलिए उनकी पहली गिरफ्तारी के समय की मुस्तैदी गवर्नरों और वाइसराय द्वारा लगभग तीन वर्षों तक नहीं दुहराई गई।

तत्कालीन होम मेंबर सर विलियम विंसेंट ने २६ अप्रैल, १६१६ के एक पत्र में लिखा था—"गांधी और उनकी खामखयालियों से काफी लोग बहुत जल्दी तंग आ जायंगे।" बंबई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने ११ जून, १६१६ को वाइसराय के नाम जो पत्र भेजा था, उसमें भी लगभग ऐसी ही बात कही गई थी—"मुझे यहां की फिक्र है, क्योंकि गांधी चुप नहीं बैठे हैं .. पंजाब के बारे में उनका कुछ करने का इरादा ज़रूर है, मगर वह क्या है, इसका ठीक-ठीक पता मुझे अभी तक लग नहीं पाया है। उनकी सभाओं में ज्यादा लोग नहीं आते और उनके अनुयायी भी काफी असन्तुष्ट मालूम पड़ते हैं...गांधी को अगर सूबे से बाहर निकालते हैं तो उसकी मुखालफत में ज़रूर जबर्दस्त तूफान उठ खड़ा होगा और न उनको गिरफ्तार करने की बात ही मेरी समझ में आती है। होम रूल पार्टी में तो यहां पूरी तरह फूट पड़ गई है। उसके कई बड़े नेताओं ने इस्तीफे दे दिये हैं...अगर गांधी का बावेला न हो तो यहां की हालत कुल मिलाकर सन्तोषप्रद समझनी चाहिए...लेकिन गांधी ही तो झगड़े की सच्ची जड़ हैं। वह हमें मजबूर ही कर दें तो बात दूसरी है, वर्ना हमारे लिए तो गिरफ्तार गांधी से आज़ाद

गांधी कम ही खतरनाक हैं। उनका असर रोज-ब-रोज कम होता जा रह है। वह भी इस बात को जानते हैं और अपने असर को फिर से कायम करने के लिए कोई बहुत तेज कदम उठाये बगैर रहेंगे नहीं।"

सरकारी पक्ष के इन्हीं विचारों के कारण, सितम्बर १९२० में कांग्रेस द्वारा असहयोग कार्यक्रम के अपना लिये जाने पर भी भारत सरकार ने ४ सितम्बर, १९२० के अपने गश्ती पत्र में हस्तक्षेप न करने को ही 'सबसे सही नीति' और 'समझदारी की बात' कहा था—"असहयोग की योजना बहुत ही मूर्खतापूर्ण है और भारत सरकार को आशा है कि सामान्यतः भारतवासी इसे नामंजूर ही कर देंगे...इस समय तो हस्तक्षेप न करने की नीति सबसे समझदारी की बात होगी। भारत सरकार की राय में इस समय आंदोलन के नेताओं के खिलाफ नये दमनकारी कानून बनाना या प्रचलित फौजदारी कानून के अन्तर्गत उनपर मुकदमे चलाना बड़ी भारी भूल होगी। इस तरह से तो वे शहीद बन जायंगे और काफी अनुयायी जमा कर लेंगे, जो यदि नेताओं को न छोड़ा गया तो आंदोलन से दूर ही रहेंगे।"

२ अप्रैल, १९२१ को लार्ड चेम्स फोर्ड की जगह लार्ड रीडिंग भारत के वाइसराय बनकर आये। अप्रैल महीने का अन्त होते-होते उन्हें अपने एक पत्र में कहना पड़ा—"इंग्लैंड में था तो भारत की गम्भीर हालत की बात जानकर मुझे कोई खास चिन्ता नहीं हुई थी, लेकिन यहां आकर हालत की जांच-पड़ताल की तो मुझे सारे मामले पर गम्भीर रुख अख्तियार करने के लिए मजबूर होना पड़ा।" उन्होंने आन्दोलन पर जबर्दस्त प्रहार करने का निश्चय कर लिया था, लेकिन इसके लिए समय चाहते थे, सो उन्होंने, उनके जीवनी-लेखक पुत्र के शब्दों में 'फेबियन नीति'[1] को अपनाया। मई का आधा महीना बीत जाने के बाद उन्होंने गांधीजी से भेंट की। पं० मदन-मोहन मालवीय के प्रयत्नों से यह भेंट तय हुई थी। भेंट का मुख्य उद्देश्य खिलाफत आंदोलन के कुछ नेताओं द्वारा हिंसा को भड़कानेवाले तथा कथित भाषणों को लेकर जो गलतफहमी पैदा हो गई थी उसे दूर करना था। वाइसराय को यह शिकायत थी कि जब अफगानिस्तान के अमीर द्वारा

---

[1] शत्रु को पराजित करने के लिए सावधान एवं दीर्घसूत्री युद्ध-कौशल का प्रयोग करने की नीति।—अनुवादक।

भारत पर आक्रमण करने की अफवाह गरम थी तो मौलाना मुहम्मद अली ने अफगानिस्तान का हवाला देकर जो भाषण किये, वे हिंसा को भड़कानेवाले थे। गांधीजी को वाइसराय की शिकायत सही प्रतीत हुई और वह मौलाना मुहम्मद अली से उन भावों का सार्वजनिक रूप से प्रतिवाद करवाने के लिए राजी हो गये। इसमें गांधीजी का उद्देश्य अपने अनुयायियों और वाइसराय को भी यह विश्वास दिलाना था कि उनके आंदोलन का मुख्य आधार अहिंसात्मक ही था। लेकिन वाइसराय का दृष्टिकोण कुछ और ही था। वह तो चाणक्य-नीति से काम ले रहे थे—"मुहम्मद अली हिंदू और मुसलमानों को जोड़नेवाली कड़ी हैं; अगर उनमें और गांधीजी में झगड़ा हो गया तो वह कड़ी टूट जायगी। अगर मुहम्मदअली ने गांधीजी का कहना मान लिया, और वह कहना मानकर अवश्य ही प्रतिवाद कर देंगे, तो उनकी (मुहम्मद अली की) सार्वजनिक प्रतिष्ठा खत्म हो जायगी।"[1] लार्ड रीडिंग की इस चाणक्य-नीति से इंग्लैंड के उपनिवेश-मंत्री इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने वाइसराय को लन्दन से बधाई का एक तार भेजा।

लेकिन इस सबके बावजूद अपने पुत्र को लिखे निजी पत्र में लार्ड रीडिंग ने स्वीकार किया है कि गांधीजी से मिलकर वह उल्लसित और रोमांचित हो जाया करते थे। उसी पत्र में उन्होंने गांधीजी के धार्मिक और नैतिक विचारों का उल्लेख करते हुए उन विचारों की सराहना की है और साथ ही यह भी कहा है कि राजनीति में धर्म और नैतिकता को घुसेड़ने की बात उनकी (लार्ड रीडिंग की) समझ में नहीं आती। गांधीजी लार्ड रीडिंग से सब मिलाकर छः बार मिले थे और उन दोनों ने पंजाब के १९१९ के उपद्रव, खिलाफत-आंदोलन, स्वराज्य का अर्थ आदि कई विषयों पर चर्चाएं की थीं।

गांधीजी और अली बन्धुओं में मन-मुटाव होने की जो आशा भारत सरकार ने लगा रखी थी वह फलीभूत नहीं हुई। सितम्बर, १९२१ में जब बंबई की सरकार ने अली-बन्धुओं को गिरफ्तार कर उनपर भारतीय सैनिकों को "अंग्रेजी फौज में भरती न होने और जो भर्ती हो चुके हैं उन्हें

[1] रीडिंग, मार्क्वेस आफ : 'रुफस इजाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ़ रीडिंग', खंड-२ पृष्ठ ११९

नौकरी छोड़ देने" की विद्रोहात्मक बात कहने का आरोप लगाया तो गांधीजी सहित पचासेक नेताओं ने अपने हस्ताक्षरों से घोषणा-पत्र प्रकाशित कर सभी भारतीय सैनिकों और सिविलियनों को सरकारी नौकरी छोड़कर जीवन-निर्वाह का कोई और प्रबन्ध कर लेने की सलाह दी थी।

प्रिंस आफ वेल्स की भारत-यात्रा का कार्यक्रम तो लार्ड रीडिंग के भारत का वाइसराय बनकर आने से पहले ही तैयार हो गया था। लेकिन लार्ड रीडिंग देश की बिगड़ी हुई राजनैतिक परिस्थिति के बावजूद युवराज के दौरे को स्थगित करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने उपनिवेश-मंत्री को लिखा था—"इस समय दौरे को स्थगित करना असहयोग-आंदोलन की ताकत के आगे झुक जाना ही नहीं, इंग्लैंड, दूसरे सभी उपनिवेशों और सारी दुनिया के सामने यह स्वीकार कर लेना होगा कि भारत इतना विद्रोही हो गया है कि वहांपर राजकुमार को भेजना सुरक्षित नहीं समझा गया।"

१७ नवंबर, १९२१ को जब प्रिंस आफ वेल्स बंबई पहुंचे तो सरकारी स्वागत-समारोह में असहयोग-आंदोलन में भाग लेनेवालों में से एक भी उपस्थित नहीं था। गांधीजी उस दिन बंबई में ही थे और सवेरे एक विशाल आम सभा में विदेशी कपड़ों की होली उन्होंने जलाई थी; तीसरे पहर शहर में दंगा हो गया और युवराज एडवर्ड के स्वागत में सम्मिलित होनेवाले यूरोपियनों, पारसियों और अन्य राज्यभक्तों पर हमले भी हुए। गांधीजी और उनके साथियों ने जी-तोड़ कोशिशें कीं, गांधीजी ने खुद जा-जाकर लोगों को समझाया, उपवास भी किया तब कहीं जाकर बड़ी मुश्किलों से शांति स्थापित हो सकी। दूसरे शहरों में दंगे तो नहीं हुए, लेकिन लोगों ने स्वागत-समारोह का पूर्ण बहिष्कार कर ब्रिटिश राज्य के प्रति अपनी वास्तविक भावनाओं का बहुत अच्छी तरह परिचय दे दिया। राजकुमार जहां भी गये अधिकारियों ने उनके सम्मान में परेड, स्वागत-समारोह और भोज आदि का पूरा-पूरा प्रबंध किया था, लेकिन जैसाकि ड्यूक आव विंड्सर ने अपने संस्मरणों में लिखा है, "सड़कें सूनी, दूकानें बंद और चारों ओर सन्नाटा" था।

प्रिंस आफ वेल्स का कलकत्ते का दौरा दिसंबर, १९२१ के अंतिम सप्ताह में रखा गया था। वाइसराय घबराये कि कहीं दूसरे शहरों की तरह

यहां भी हड़ताल और विरोधी प्रदर्शन न होने लगें। उन्होंने तुरंत पं० मदन-मोहन मालवीय की मध्यस्थता से कांग्रेस के साथ समझौता-वार्ता के प्रयत्न शुरू कर दिये। मालवीयजी ने १६ दिसंबर, १९२१ को गांधीजी को तार से सूचित किया कि वह गोलमेज-परिषद् बुलवाने के लिए वाइसराय के पास एक प्रतिनिधि-मंडल ले जाना चाहते हैं; अगर वाइसराय ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर नेताओं को छोड़ दिया, तो क्या वह जवतक गोलमेज-परिषद् की वैठकें होती रहेंगी तबतक के लिए युवराज के वहिष्कार और सविनय अवज्ञा के आंदोलन को स्थगित कर देंगे? ठीक यही प्रस्ताव सी० आर० दास को भी भेजा गया, जो उस समय कलकत्ते की प्रेसिडेंसी जेल में सजा काट रहे थे। सी० आर० दास और मौलाना अवुल कलाम आजाद को मालवीयजी का यह प्रस्ताव विचारणीय लगा और उन्होंने तार द्वारा गांधी-जी से इसको स्वीकार कर लेने का अनुरोध किया। गांधीजी ने स्वीकृति के लिए दो शर्तें रखीं—एक तो यह कि परिषद् के सदस्यों के बारे में और उसकी तिथियां पहले से तय हो जानी चाहिए, और दूसरे यह कि अन्य राजनैतिक वंदियों के साथ-साथ अली-वंधुओं को भी रिहा किया जाना चाहिए। मालवीयजी इस तरह का आश्वासन न दे सके, इसलिए समझौता-वार्ता वहीं भंग हो गई।

अव दमन का चक्र जोरों से चल पड़ा। दिसंबर, १९२१ और जनवरी, १९२२ में लगभग तीस हज़ार लोगों को जेलों में ठूंस दिया गया। सभी तरह के स्वयंसेवक संगठन गैर-क़ानूनी कर दिये गए; सभाओं और जलूसों को वल-प्रयोग करके तोड़ा जाने लगा। आधी रात में कांग्रेस और खिला-फत कमेटियों के दफ्तरों के ताले तोड़कर तलाशियां लेना तो आम बात हो गई थी। उधर राजनैतिक वंदियों के साथ जेलों में सख्तियां की जाने लगीं। इन्हीं परिस्थितियों में दिसंबर, १९२१ में कांग्रेस का अहमदाबाद में अधि-वेशन हुआ और कांग्रेस-संगठन तथा आंदोलन को चलाने को सारा अधि-कार गांधीजी को सौंप दिया गया। कांग्रेस के भीतर कार्यकर्ता इस बात पर वहुत जोर दे रहे थे कि संघर्ष को और तेज किया जाय और सविनय अवज्ञा को अधिक व्यापक पैमाने पर शुरू किया जाय। गांधीजी के सत्याग्रह के हरवे में जन-संघर्ष निश्चय ही वहुत प्रभावशाली पर साथ ही खतरनाक हथि-

यार भी था। उन्होंने भूकंप से इसकी तुलना करते हुए कहा था—"राजनैतिक पैमाने पर एक भारी उथल-पुथल—सरकार बिलकुल ठप्प हो जाती है—पुलिस थाने, अदालतें और सरकारी दफ्तर सरकार की संपत्ति नहीं रहते, जनता के अधिकार में चले जाते हैं।"

गांधीजी सविनय अवज्ञा को पहले एक जिले में शुरू करना चाहते थे, वहां सफल हो जाने पर दूसरे जिले में, फिर तीसरे जिले में और इसी तरह सारे देश में उसे फैलाने की उनकी योजना थी। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दे दी थी कि यदि देश के किसी भी भाग में हिंसा का ज़रा-सा भी प्रदर्शन हुआ तो आंदोलन शांतिपूर्ण न रह सकेगा; "एक तार के टूट जाने से भी वीणा का स्वर विसंवादी हो जाता है।"

नवंबर, १९२१ में, प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर बंबई में जो दंगा और खून-खच्चर हुआ था, उसमें गांधीजी सविनय अवज्ञा को स्थगित करने के लिए विवश हो गये थे। उस समय उन्हें वातावरण इस तरह के आंदोलन के उपयुक्त नहीं लग रहा था। लेकिन अगले दो महीनों में सरकार ने जैसा धुआंधार दमन किया उससे उन्हें अपने विचारों को बदलना पड़ा। सभाओं पर प्रतिबन्ध तो लगाये ही जा रहे थे, अखबारों का गला भी घोंटा जाने लगा। जैसाकि गांधीजी ने स्वयं कहा था, "अब उन्हें सविनय अवज्ञा को जनसंघर्ष का रूप देकर उसके सारे खतरों को मोल लेने अथवा जनता की वैध कार्रवाइयों के गैर-कानूनी दमन" में से किसी एक का 'चुनाव' करना था। उन्होंने खतरे को ही मोल लेने का फैसला किया। स्वयं अपने नेतृत्व में गुजरात के बारडोली तालुके में जन-सत्याग्रह शुरू करने की तैयारियों में वे जुट गये। बारडोली का चुनाव करते समय उन्होंने वहां के निवासियों को साफ शब्दों में बता दिया था कि कर देने से इनकार करने की सूरत में उनकी खडी फसलें कुर्क की जा सकती हैं, जमीनें जप्त की जा सकती हैं, जानवर नीलाम किये जा सकते हैं और नक्शे पर से बारडोली तालुके का नाम निशान भी मिट सकता है।

गांधीजी ने वाइसराय के नाम एक खुला पत्र लिखकर बारडोली में जन-सत्याग्रह शुरू करने के अपने इरादे की सूचना सरकार को दे दी। भारत सरकार ने भी तुरत एक वक्तव्य निकालकर उसका यह जवाब दिया

कि "इस समय देश के सामने सवाल इस या उस राजनैतिक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का नहीं, कानून-भंग से होनेवाले नतीजों और जिन सिद्धांतों पर तमाम सभ्य सरकारें टिकी हुई हैं, उनके निर्वाह और रक्षा का है।" सरकार का मतलब साफ था—आंदोलन करोगे तो कठोर दमन से उसको कुचल दिया जायगा।

और यों कांग्रेस और सरकार दोनों ही सीधी भिड़ंत के लिए आमने-सामने आ खड़े हुए थे।

: २२ :

अपकर्ष

जिस 'खुले पत्र' को वाइसराय ने अल्टीमेटम समझ लिया था, मगर जो गांधीजी की दृष्टि में सत्याग्रही का केवल परम पुनीत कर्त्तव्य ही था, वह १ फरवरी, १९२२ को लिखा गया था। उसके तीन ही दिन बाद संयुक्त-प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) के गोरखपुर जिले के एक छोटे-से गांव चौरी चौरा में पुलिस और कांग्रेस का जलूस निकालनेवालों के बीच भीषण रक्तकांड हो गया। जलूस का मुख्य हिस्सा थाने के सामने से आगे निकल गया था। जो पीछे रह गये थे पुलिस के सिपाहियों ने उनकी खिल्ली उड़ाई तो उन्होंने भी वैसा ही जवाब दिया। इसपर पुलिस ने गोली चला दी और जब गोली-बारूद खत्म हो गया तो थाने में घुसकर अंदर से किवाड़ बंद कर लिये। इतने में पूरा जलूस लौट आया और क्रोधोन्मत्त भीड़ ने थाने में आग लगा दी; सिपाहियों ने भागकर जान बचाने की कोशिश की तो सभीके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गए। उस रक्तकांड की बाईस बलियों में थानेदार और सिपाहियों के साथ थानेदार का नन्हा बेटा भी था।

गांधीजी के लिए तो यह हत्याकांड अनभ्र आकाश से होनेवाले वज्र-पात की ही तरह था। वह इस नतीजे पर पहुंचे कि देश का वातावरण अभी जन-सत्याग्रह के उपयुक्त नहीं है और इसलिए उन्होंने बारडोली के सत्याग्रह को, जिसे केवल एक सप्ताह पहले ही शुरू किया गया था, वापस लेने का

फैसला कर लिया। कांग्रेस की कार्यकारिणी के जो सदस्य जेल से बाहर थे उनसे उन्होंने इस संबंध में सलाह-मशविरा भी किया। २४ फरवरी, १६२२ को दिल्ली में महासमिति की बैठक हुई और गांधीजी की प्रेरणा से चौरी चौरा-कांड पर खेद प्रकाश करते हुए सत्याग्रह के स्थगन का प्रस्ताव मंजूर कर लिया गया; और कांग्रेसियों से अनुरोध किया गया कि गिरफ्तार होने और सजा पाने के लिए कोई काम न करें। आंदोलन के 'उग्र' रूप के बदले अब सारा जोर रचनात्मक कार्यक्रम[1] पर था; क्योंकि "यह राय कायम की गई थी कि यदि कार्यकर्त्ता रचनात्मक कार्य में अपनी सारी शक्ति लगा दें तो जिस अहिंसात्मक वातावरण की आवश्यकता थी, वह अवश्य उत्पन्न हो जायगा।"

सत्याग्रह को स्थगित करने के इस निश्चय की सारे देश में जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई है। यहांतक कि गांधीजी के घनिष्ठ सहयोगी भी किंकर्त्तव्य विमूढ़-से रह गये। सुभापचंद्र बोस उस समय जेल में सी० आर० दास के साथ थे और उनकी उस समय की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं—"गांधीजी को फिर इस तरह घपला करते हुए देख देशबंधु को बड़ा दुःख हुआ और गुस्सा भी खूब आया।"[2] मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल के भीतर से लंबे-लंबे पत्र लिखे और किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को सजा देने के लिए उन्हें खूब आड़े हाथों लिया। गांधीजी को अब पता चला कि कार्य-समिति और महासमिति में अधिकांश सदस्यों ने सैद्धांतिक आधार पर नहीं केवल उनके प्रति भक्ति के ही कारण उन प्रस्तावों का समर्थन किया था। यहांतक कि उनके कुछ कट्टर समर्थकों के मन भी बारडोली प्रस्ताव के औचित्य के संबंध में संदेहों से डांवाडोल होने लगे थे। चौरी चौरा की घटना के कारण बारडोली के सत्याग्रह को स्थगित कर देना किसी भी तर्क से उनकी समझ में नहीं आ रहा था। अहिंसा-

---

१ बारडोली में कार्यसमिति के आगे गांधीजी ने रचनात्मक कार्यों की जो सूची पेश की थी और जिसपर दिल्ली में महासमिति ने अपनी मुहर लगाई वह इस प्रकार था— कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भरती करना, चरखे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों को खोलना, मादक-द्रव्य-निषेध और पंचायतों का संगठन आदि! — अनुवादक

२ बोस, सुभाषचन्द्र—'दि इंडियन स्ट्रगल', कलकत्ता, १९४८, पृष्ठ १०८

त्मक विद्रोह को दवाने के लिए क्या सरकार अपने शोहदों के द्वारा ऐसे कांड नहीं करवा सकती ? कांग्रेस राजनैतिक संस्था है या महात्माजी के अन्तः-संघर्ष का परीक्षण और प्रयोग करने का मंच ? क्या राष्ट्र के वलिदानों को इसी तरह व्यर्थ हो जाने देना उचित है ? और हजारों राजनैतिक कार्यकर्त्ता आखिर कबतक योंही जेल में सड़ते रहेंगे ? आंदोलन के सबसे 'उग्र' और क्रांतिकारी कदम को यों वापस ले लेना क्या सरकार को कार्यकर्त्ताओं पर अत्याचार और दमन करने का न्योता देना ही नहीं है ?

गांधीजी पर चारों ओर से ऐसी ही बौछारें पड़ने लगीं। उस समय का शायद ही कोई आलोचक इस वात को समझ सका था कि चौरी चौरा सत्याग्रह-आंदोलन को वापस लेने का मूल कारण नहीं, केवल निमित्त था। जबसे गांधीजी ने रौलट विलों का विरोध किया और देश के सामने राजनैतिक और सामाजिक अन्याय को मिटाने के लिए सत्याग्रह को एक कारगर हथियार के रूप में पेश किया था तभीसे वह अहिंसा के महत्व पर बराबर जोर देते आ रहे थे; उनके भाषणों और लेखों का मूल विषय भी यही रहा था। लेकिन फिर भी अहमदावाद, वीरमगाम और अमृतसर में, १९१९ में हिंसात्मक कार्रवाइयां हो ही गईं। जब स्थानीय अधिकारी जी-जान से लोगों को उकसाने में लगे हों तो भीड़ की हिंसात्मक कार्रवाइयों को रोकना आसान भी नहीं होता। १८ अप्रैल, १९१९ को बंबई में गांधीजी ने कहा था, "मुझे इस बात का अफसोस है कि जन-आंदोलन शुरू करते समय मैंने हिंसा की शक्ति को कम करके आंका।" देशवासियों में हिंसा-भाव के प्रबल होने का ज्ञान तो उन्हें पहले से ही था; इसीलिए उन्होंने खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था, जिससे उस हिंसा-भाव को अहिंसा के रसायन में परिवर्तित किया जा सके। खतरों की उन्हें जानकारी थी, इसलिए पूरे आंदोलन को देश के राजनैतिक स्तर के अनुरूप विभिन्न क्रमागत चरणों में बड़ी सावधानी से विभाजित किया गया था। असहयोग का कार्यक्रम शुरू होता था व्यक्तियों द्वारा सरकारी उपाधियों और अवैतनिक पदों को छोड़ने से और अंत होता था करबंदी और सामूहिक रूप से कानून के सविनय-भंग में। आंदोलन के इन दोनों छोरों के बीच जनता की राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्त करनेवाले ऐसे और भी कई कार्यक्रम थे, जो लोगों को अनुशासन

बद्ध करने के साथ-ही-साथ उन्हें जन-आंदोलन के लिए तैयार भी करते थे। अछूतोद्धार, राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना, अदालतों का बहिष्कार और पंचायतों में आपसी झगड़ों का निपटारा, स्वयंसेवकों का संगठन, शराब की दुकानों पर धरना, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार और खादी का प्रचार जनता को संगठित करने के ठोस और व्यावहारिक उपाय थे। जनता अहिंसक रहकर सरकारी दमन का जिस सीमा तक मुकाबला कर सके उसी सीमा तक कानून-भंग की इजाजत देकर असहयोग के कार्यक्रम को क्रमशः बढ़ाते जाने का गांधीजी का विचार था। विदेशी शासन के विरुद्ध देश के जनबल को संगठित करते समय गांधीजी ने इस बात की पूरी सावधानी बरती थी कि कहीं सामाजिक और आर्थिक विद्रोह की ज्वालाएं न भड़क उठें। इसीलिए करबंदी में सरकार को कर देने की मनाही के बावजूद किसानों को यह सलाह दी गई थी कि वे अपने ज़मींदारों को बराबर कर देते रहें। मज़दूरों को सलाह दी गई थी कि वे अपने मालिकों से छुट्टी लेकर ही हड़तालों में शरीक हों। इस संबंध में गांधीजी ने लिखा भी था कि "जब-तक मजदूरों को देश की राजनैतिक परिस्थिति का ज्ञान नहीं हो जाता, राजनीति के लिए उनका उपयोग करना बहुत ही खतरनाक होता है।" कांग्रेस स्वयंसेवक दल के संगठन पर भी उन्होंने काफी चिंतन-मनन किया था और 'यंग इंडिया' में आम सभाएं करने और भीड़ को नियंत्रित करने के तरीकों पर कई लेख लिखे थे। सरकार की हिंसात्मक कार्रवाइयों से उन्हें ज़रा भी डर नहीं लगता था, उससे तो आंदोलनकारियों का जोश और संख्या-बल बढ़ता ही था। असली डर उन्हें जनता की हिंसात्मक कार्रवाइयों से था, क्योंकि उससे आंदोलन कमजोर होता, अराजकता फैलती और सरकार को खून-खच्चर करने का मौका मिल जाता था।

देश के किसी भी भाग में ज़रा-सी भी हिंसा या उपद्रव होता तो गांधीजी का सारा ध्यान फौरन वहां केंद्रित हो जाता था। माले गांव में भीड़ द्वारा पुलिस के सिपाहियों के मारे जाने और मलाबार के मोपला-विद्रोह में हिंदुओं के सताये जाने की उन्होंने तुरंत और कड़ी निंदा की थी। प्रिंस आफ वेल्स के आगमन पर जब बंबई में नवंबर १९२१ में दंगा हुआ तो गांधीजी वहीं थे। उसमें ५८ मारे गए और ३८१ घायल हुए थे। उस समय

जनता के नाम अपने संदेश में गांधीजी ने कहा था कि असहयाग करनेवालों की अहिंसा ने तो सहयोग करनेवालों की हिंसा को भी मात कर दिया; "जो हमसे सहमत न हुए, अहिंसा के हम मौखिक पुजारियों ने उन्हें बुरी तरह आतंकित कर डाला...पिछले दो दिनों स्वराज्य का जो रूप देखने को मिला है उसकी मुझे सड़ांद आ रही है।"

सी० एफ० एंडरूज दक्षिण अफ्रीका से हाल ही में लौटकर आये थे और बंबई के दंगों के तुरत बाद गांधीजी से मिले थे। उनका कहना था कि गांधीजी "इतने दुबले और कमजोर लग रहे थे, मानो अभी-अभी मौत के मुंह से लौटकर आये हों।" एंडरूज साहब ने यह भी देखा कि जैसे-जैसे सरकार की ओर से हिंसा बढ़ती गई, आंदोलनकारी जनता भी हिंसात्मक कार्रवाइयों को अपनाती गई। भारत की जाग्रत जनता अपनी शक्ति को जान तो गई थी, लेकिन उसे काबू में रखना अभी नहीं सीख पाई थी। एंडरूज साहब विदेशी कपड़ों की होली जलाने के पक्ष में भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें डर था कि "वह हिंसा के भाव जाग्रत करेगी" और उसमें उन्हें "कुछ जातीय भेद-भाव की गंध" भी आती थी। १९१३-१४ का दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह वह देख चुके थे; अब जो १९२१ में भारत में चल रहे सत्याग्रह को देखा तो वह उन्हें "बिलकुल ही नये ढंग का और आध्यात्मिकता से विरहित" प्रतीत हुआ।

मतलब यह कि चौरी चौरा की दुर्घटना कोई अकेली एक घटना नहीं थी। वह तो, जैसाकि गांधीजी ने पं० जवाहरलाल नेहरू को लिखा था, घटनाओं की एक पूरी परंपरा की 'अंतिम कड़ी' थी। अनेक स्थानों में आंदोलनकारियों के बेकाबू हो जाने और अनुशासन-भंग के मामलों के बराबर बढ़ते जाने की कई रिपोर्टें उन्हें मिल चुकी थीं। उसी पत्र में उन्होंने जवाहरलालजी को यह भी लिखा था—"आप विश्वास मानिये कि अगर आंदोलन को स्थगित न किया जाता तो हम अहिंसात्मक संघर्ष के स्थान पर हिंसात्मक संघर्ष ही कर रहे होते।"[1] जवाहरलाल जी को सविनय अवज्ञा के स्थगित किये जाने के समाचार जेल में ही मिले थे। सुनकर वह विस्मित भी हुए और व्याकुल भी। लेकिन इस प्रस्ताव के लाभ और हानि पर काफी

[1] तेंदुलकर के ग्रंथ 'महात्मा' की जिल्द-२, पृष्ठ ११८ पर उद्धृत

चर्चा कर लेने के बाद, 'मेरी कहानी' में यह लिखते हैं कि "प्रस्ताव बिलकुल उचित था; जो गंदगी फैल रही थी उसे रोककर नये सिरे से कुछ करना गांधीजी के लिए निहायत जरूरी हो गया था।"

गांधीजी यह भी जानते थे कि उनके बहुत-से सहयोगी और अधिकारी कार्यकर्त्ता गुस्से से फुंके जा रहे थे और सरकार पर वार करने को बेताब हो रहे थे—अहिंसात्मक ही सही, पर वार जरूर होना चाहिए। लेकिन गांधीजी के निकट तो सत्याग्रह का यह तरीका भी उचित नहीं था, क्योंकि सत्याग्रह का उद्देश्य तो होता है, आत्मा को जगाना, दिल को पिघलाना और विरोधी की आंखें खोलना, यानी उसे सत्य के दर्शन करवाना। अहिंसात्मक युद्ध की तो पूरी शैली ही भिन्न होती है; युद्ध के दूसरे प्रकारों में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए साधनों की पवित्रता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, परंतु सत्याग्रह में तो साध्य और साधन दोनों ही पवित्र होने चाहिए। युद्ध और राजनीति में सामान्यतः यह दृष्टिकोण रखा जाता है कि विरोधी को हटाने के लिए जहां जितने दबाव की आवश्यकता हो जरूर लगाना चाहिए। लेकिन सत्याग्रह में इसकी पूरी तरह मनाही होती है, वहां तो 'उत्तेजना' के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं। गांधीजी ने सविनय अवज्ञा की परिभाषा करते हुए उसे मौन कष्ट-सहन की तैयारी कहा था, "जिसका प्रभाव-चमत्कारिक, पर अप्रत्यक्ष और कोमल होता है।"

सत्याग्रह-आंदोलन को स्थगित करने के संबंध में रोम्यां रोलां ने अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी' में लिखा है— 'यह बड़ा ही खतरनाक है कि पहले तो राष्ट्र के संपूर्ण जन-बल को संगठित और एकताबद्ध करके एक आंदोलन के लिए तैयार किया जाय, और आदेश पाकर जैसे ही आंदोलन शुरू हो उसे तुरंत स्थगित भी कर दिया गए। इससे राष्ट्र का उत्साह भग हो जाता है, गति शक्ति टूट जाती है; तेजी से भागती हुई मोटर को एकदम रोक दिया जाय तो ब्रेक भी टूट जायंगे और इंजिन को भी क्षति पहुंचेगी"[१] लेकिन बात ऐसी नहीं थी। अगर रोम्यां रोलां के ही रूपक का प्रयोग करके कहें तो कहना होगा कि गांधीजी आंदोलन की मोटरगाड़ी को एकदम रोककर स्थिर नहीं किये दे रहे थे, वह असमय ही 'टाप गीअर' (गति की अंतिम

[१] रोम्यां रोलां : 'महात्मा गांधी', लंदन, १९४२, पृष्ठ १३२

सीमा) में दौड़ने लगी थी सो उन्होंने उसे तीसरे गीअर (मद्धिम) में कर दिया। उस समय 'उग्र कार्यक्रम' को स्थगित कर देने से 'रचनात्मक कार्यक्रम' ही सत्याग्रह-आंदोलन का निश्चयात्मक पक्ष था और वह चलता रहा। आलोचक भले ही सहमत न हों, लेकिन गांधीजी का तो विश्वास था कि सत्याग्रह-आंदोलन को सामूहिक सविनय अवज्ञा के विना भी प्रभावशाली वनाया जा सकता है।[१]

चौरी चौरा के वाद गांधीजी ने जो कुछ किया उसे न तो कांग्रेसी ठीक से समझ सके, न खिलाफतवाले और न सरकार ही। लार्ड रीडिंग ने अपने लड़के को पत्र में लिखा था—"गिरफ्तारी के छः सप्ताह पहले गांधी ने जो कुछ किया उससे उनकी राजनैतिक प्रतिष्ठा पर पानी फिर गया।"[२]

और शायद इसीलिए सरकार की उन्हें गिरफ्तार करने की हिम्मत हुई। १० मार्च की शाम को गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गए। उन्होंने आश्रमवासियों से विदा ली, 'वैष्णव जन' वाला अपना प्रिय भजन सुना और मोटर में बैठकर जेल पहुंच गये। अहमदाबाद के जिला और सेशन जज सी० एन० ब्रूमफील्ड की अदालत में उनका मुकदमा पेश हुआ। 'यंग इंडिया' के 'राजभक्ति में दखल,' 'समस्या और उसका हल' तथा 'गर्जन-तर्जन' इन तीन लेखों के आधार पर गांधीजी और 'यंग इंडिया' के प्रकाशक शंकरलाल बैंकर पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया था। सर जी० टी० स्ट्रैंगमैन सरकारी पक्ष के वकील थे। दोनों सत्याग्रही अभियुक्तों ने अपना वचाव नहीं किया और स्वीकार कर लिया कि लेख उन्होंने लिखे और छापे थे और उनकी पूरी जिम्मेवारी उन्हीं दोनों पर थी। जज

---

१ बारडोली में कार्यसमिति की बैठक और उसके पश्चात् दिल्ली में महासमिति की बैठक में सामूहिक सत्याग्रह को वापस लिया गया था, लेकिन व्यक्तिगत रूप से किसी खास कानून के खिलाफ सत्याग्रह करने की अनुमति अवश्य दी गई थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह की परिभाषा यह थी कि एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के द्वारा किसी सरकारी आज्ञा या कानून का उल्लंघन करना। शराब की दुकानों पर धरना और विदेशी कपड़े की पिकेटिंग भी व्यक्तिगत सत्याग्रह में ही शुमार किये गए थे। —अनुवादक

२ रीडिंग, मार्क्वेस आफ : 'रूफस इज़ाक्स, फ़र्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग,' जिल्द २, पृष्ठ २४६।

अभियुक्तों के साथ बड़ी विनम्रता और सम्मान से पेश आया; कुर्सी पर बैठने से पहले उसने कटघरे में खड़े दोनों अभियुक्तों को सिर झुकाकर नमस्कार भी किया था। अपराध को स्वीकार कर गांधीजी ने जज के काम को बहुत हलका और आसान कर दिया था। गांधीजी ने उत्कृष्ट शैली में लिखे उच्च भावोंवाले अपने लिखित बयान में यह बताया कि वह कट्टर राजभक्त से विद्रोही कैसे हो गये :

"मेरे सार्वजनिक जीवन का आरंभ १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में विषम परिस्थिति में हुआ। उस देश के ब्रिटिश अधिकारियों से मेरा पहला संपर्क कुछ अच्छा न रहा। मुझे पता चला कि एक मनुष्य और एक भारतीय के नाते वहां मेरा कोई अधिकार नहीं है। इसके कारण का जब मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि मेरा कोई अधिकार इसलिए नहीं है, क्योंकि मैं भारतीय हूं। लेकिन मैंने हिम्मत न हारी। मैंने सोचा कि भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करने का दोष एक अच्छी-भली शासन-व्यवस्था में योंही घुस गया है। यह सोचकर मैंने अपनी मरजी से सरकार को पूरे दिल से सहयोग दिया, जहां खामियां दिखाई दीं उनकी आलोचना भी की, लेकिन सरकार के विनाश की इच्छा कभी नहीं की..."

हिंसात्मक उपद्रवों की पूरी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हुए उन्होंने कड़े-से-कड़े दंड की मांग की थी :

"जनाब जजसाहब, आपके सामने सिर्फ दो ही मार्ग हैं...अथवा आपको विश्वास हो कि जिस कानून का प्रयोग करने में आप सहायता दे रहे हैं, वह वास्तव में इस देश की जनता के मंगल के लिए है और मेरा आचरण लोगों के अहित के लिए हो तो मुझे कड़े-से-कड़ा दंड दें।"

गांधीजी को छः साल की कैद की सजा दी गई। एक दर्शक का कहना है कि मुकदमा कोई पौने दो घंटे चला और गांधीजी सारे समय निरुद्विग्न और प्रसन्न रहे। सजा सुनाये जाने के बाद जज से उन्होंने कहा था, "यह कम-से-कम सजा है, जो कोई जज मुझे दे सकता था; और जहांतक मुकदमे की कारंवाई का सवाल है, जितनी विनम्रता और सम्मान आपने प्रदर्शित किया उससे अधिक की तो मैं आशा भी नहीं कर सकता।"

जेल-यात्राएं तो असहयोग का एक अंग ही थीं। अपने लेखों और

भाषणों में गांधीजी उसके महत्व पर बराबर जोर देते रहे थे। उन्होंने कई वार लिखा भी था कि "जेल की चहारदीवारियों में और फांसी के तख्तों पर ही हमें आजादी का वर्णन करना होगा।" पिछले अठारह महीनों में हजारों आंदोलनकारी पकड़े जाकर जेल भेजे गए थे। गांधीजी की राय में आदर्श सत्याग्रही वह था, जो सरकार को परेशान करने के उद्देश्य से नहीं, परंतु न्याय के लिए कष्ट सहकर सरकार का हृदय-परिवर्तन करने के उद्देश्य से जेल जाता है। गिरफ्तारी के समय "अशिष्टता, उच्छृंखलता, झेंप और हिंसात्मक आचरण कदापि उचित नहीं; शांति, शिष्टता, विनम्रता, तत्परता और बहादुरी के साथ गिरफ्तार होना चाहिए।" सत्याग्रही से जेल के अनुशासन का पालन करने की अपेक्षा भी की जाती थी। वह न तो विशेष सुविधाओं की मांग कर सकता था और न उन्हें स्वीकार ही। जेल-जीवन के सारे कष्टों को उसे हँसते-हँसते सह लेना होता था, क्योंकि "अपनी शक्ति के भान और ज्ञान से उत्पन्न विनम्रता अंत में आततायी के अत्याचार को मिटाकर ही रहती है—अपनी इच्छा से कष्ट-सहन करना अन्याय और अत्याचार को मिटाने का श्रेष्ठ और त्वरित उपाय है।"

यरवदा-जेल में गांधीजी को न तो चरखा दिया गया और न बाहर सोने की इजाजत। बाद में अधिकारियों ने दोनों ही प्रतिबंध उठा लिये थे। लेकिन पुस्तकों के मामले में 'उच्च अधिकारी' बड़ी मुश्किल से राजी हुए और शुरू-शुरू में कुछ धार्मिक पुस्तकों, एक पुराने शब्द-कोश और उर्दू के कायदे के अतिरिक्त उन्हें अपने पास और कोई किताब रखने की इजाजत नहीं दी गई। तकिया भी नहीं दिया गया; वह पुराने कपड़ों में किताबों को लपेटकर उसीसे काम चलाते रहे। और गांधीजी-जैसे राजद्रोही को रोटी काटने के लिए चाकू-जैसी खतरनाक चीज सरकार दे ही कैसे सकती थी! बाद में चाकू के उपयोग की इजाजत इस शर्त पर दी गई कि हर बार इस्तेमाल के बाद उसे जेल-अधिकारी के पास जमा करवा दिया जाय। शंकरलाल बैंकर को उनके साथ नहीं, अलग दूसरी कोठरी में रखा गया और कड़ी ताकीद कर दी गई कि कोई भी कैदी गांधीजी से मिलने न पाये। उनकी सेवा-टहल के लिए एक अफ्रीकी कैदी को नियुक्त किया गया, जो गांधीजी की भाषा नहीं समझता था और न गांधीजी उसकी भाषा जानते

थे। बातचीत के अभाव में दोनों को इशारों से काम चलाना पड़ता था। लेकिन गांधीजी तो सब भाषाओं से श्रेष्ठ दिल की भाषा के जानकर थे। एक बार अफ्रीकी कैदी को बिच्छू ने काट खाया तो गांधीजी ने अपने मुंह से जहर चूसकर उसे भला-चंगा कर दिया। गांधीजी के इस दयालु व्यवहार का उसपर इतना असर हुआ कि वह उनका पट्ट शिष्य बन गया और उसने चरखा चलाना सीख लिया।

जेल का वह एकांत और शांति गांधीजी को पसंद आये। भारत आने के बाद लगातार सात वर्षों तक वह बराबर काम में लगे रहे थे। जिस शांति और आराम की उन्हें जरूरत थी वह जेल में अनायास ही मिल गये। सायं-प्रातः प्रार्थनाओं और चरखा चलाने के अपने नियम का वह बराबर पालन करते रहे। दूसरे-दूसरे कामों में लग जाने से धार्मिक और साहित्यिक अध्ययन का जो क्रम खंडित हो गया था, उसे भी उन्होंने पुनः शुरू किया। जेल में उन्होंने कम-से-कम डेढ़ सौ पुस्तकें तो पढ़ी ही होंगी। उनमें हेनरी जेम्स की 'दि वैराइटीज आफ रिलीजियस एक्स्पिरिअंस' बकल की 'हिस्ट्री आफ सिविलिजेशन', वेल्स की 'आउट लाइन आफ हिस्ट्री', बर्नार्ड शा की 'मेन एंड सुपरमैन', गेते का 'फाउस्त' और किपलिंग का 'बैरक रूम बलाड्स' आदि भी थीं।[1] इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि छोटी-मोटी परेशानियों के बावजूद यह जेल-यात्रा गांधीजी के लिए, महाकवि ठाकुर के शब्दों में, 'बंदी चिकित्सा' साबित हुई।

: २३ :

कौंसिलें और सांप्रदायिकता

असहयोग आंदोलन के 'उग्र कार्यक्रम' को वापस लेने का परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के साधारण सदस्यों में गड़बड़ी फैल गई और नेताओं में मतभेद पैदा हो गया। सी० आर० दास, पं० मोतीलाल नेहरू और

---

१ विभिन्न धार्मिक अनुभव; सभ्यता का इतिहास; इतिहास की रूप-रेखा; मानव और महामानव; फाउस्त; बैरक की गीति-कथाएं।

विट्ठलभाई पटेल आदि कई चोटी के नेता मन से तो कभी भी कौंसिलों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं थे। वकील और अच्छे वक्ता होने के कारण वे ऊपर के मन से कौंसिलों के बहिष्कार के लिए राजी हो गये थे। लेकिन जब सामूहिक सविनय अवज्ञा को वापस ले लिया गया तो उनकी राय में सरकार का विरोध करने का सिर्फ एक ही रास्ता बचा रह गया और वह था कौंसिलों में जाना—१९१९ के सुधार कानूनवाले नये विधान को कार्यान्वित करने के लिए नहीं, बल्कि दुनिया को यह दिखलाने के लिए कि वह कितना संकुचित और अनुत्तरदायित्वपूर्ण था।

भारत सरकार नये विधान के द्वारा निर्मित केंद्रीय विधान-मंडल के प्रति नाम-मात्र को भी जवाबदेह न थी। इसके उच्च सदन का नाम रखा गया था राज्य कौंसिल (कौंसिल आफ स्टेट), जिसमें अधिकांश अधिकारी वर्ग के और नामजद सदस्य थे। निम्न सदन, केंद्रीय विधि परिषद् (सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेंबली) के एक-तिहाई सदस्य या तो अंग्रेज अफसर या उनके द्वारा नामजद भारतीय थे। केंद्रीय विधि-परिषद् को सारे बजट के मुश्किल से सातवें हिस्से पर विचार करने और स्वीकृति देने का अधिकार दिया गया था। विधि-परिषद् द्वारा अस्वीकृत तजवीजों को वाइसराय अपने विशेषाधिकार से कानून का रूप देकर जारी कर सकता था।

प्रांतीय शासन की हालत तो और भी विचित्र थी। वहां एक तरह की द्वैध शासन की प्रणाली लागू की गई थी। कुछ विभाग तो मंत्रियों को सौंपे गये थे, जो अपने प्रांतों की विधि-परिषदों के प्रति जिम्मेवार थे; लेकिन वित्त, न्याय आदि कई विभाग अधिकारियों के जिम्मे कर दिये गए थे, और वे अधिकारी प्रांतीय विधि-परिषदों के प्रति नहीं, सीधे गवर्नर के प्रति जिम्मेवार थे; और गवर्नरों को 'वीटो' का अधिकार दे दिया गया था। कौंसिल-प्रवेश के समर्थक कांग्रेस नेताओं ने कौंसिलों की सीमित उपयोगिता को अस्वीकार किया हो सो बात नहीं। उनका कहना था कि ये कौंसिलें ब्रिटिश नौकरशाही ने दुनिया को धोखा देने के लिए बनाई हैं और इसलिए कांग्रेसियों को इनका भंडाफोड़ करना ही चाहिए। यह सच था कि कौंसिलों के द्वारा वास्तविक सत्ता जनता के हाथ में नहीं आई थी, लेकिन राजनैतिक युद्ध के एक मंच के रूप में तो उनका उपयोग किया ही जा

सकता था। यदि कांग्रेस जन-कौंसिलों में सरकारी प्रस्तावों और मांगों को अस्वीकार करने लायक शक्ति बन सके तो या तो सरकार को विशेषाधिकारों का प्रयोग करना होगा या कौंसिलों के निर्णय के आगे झुकना होगा। दोनों ही सूरतों में दुनिया को मालूम हो जायगा कि नये विधान में अंतिम सत्ता जनता के हाथों में नहीं विदेशी शासन-सत्ता के ही हाथों में रख दी गई है ! असल में आयरलैंड के होमरूल आंदोलन के सिलसिले में पारनेल और उसके दल के लोगों ने ब्रिटिश पार्लमिंट के हाउस आफ कामन्स की कार्रवाइयों में बाधा पहुंचाने की नीति को जिस सफलता से कार्यान्वित किया था उससे कौंसिल-प्रवेश के समर्थक कुछ कांग्रेसी नेता बहुत ही प्रभावित जान पड़ते थे।[1] उनका कहना था कि 'निरंतर और स्थायी अड़ंगेबाजियों' से कौंसिलें सरकार के हाथों का हथियार न रहकर उसकी बगल का कांटा बन जायंगी।

मार्च १९२२ में गांधीजी की गिरफ्तारी के तत्काल बाद ही उनके अनुयायियों में गहरे मतभेद के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

सी० आर० दास तो अलीपुर-जेल में ही कौंसिल-प्रवेश की योजनाएं बनाने में तल्लीन थे; जैसे ही रिहा हुए वह जी-जान से इस कार्य में जुट गये। दिसंबर १९२२ में कांग्रेस के गया-अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि या तो कौंसिलों का इस तरह सुधार करना चाहिए कि उनके द्वारा भारत को स्वतंत्र किया जा सके, अथवा उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। कौंसिल-प्रवेश को वह असहयोग-आंदोलन की भावना के विपरीत नहीं मानते थे। उनका कहना था कि हम कौंसिलों में जाकर, अंदर से बहिष्कार और असहयोग करेंगे। लेकिन गांधीजी के निष्ठावान सहयोगियों को उनके ये तर्क स्वीकार न हुए। उनका कहना था कि कौंसिल-प्रवेश रणनीति का परिवर्तित रूप नहीं अहिंसात्मक असहयोग की मूल भावना और सिद्धांतों पर प्रहार ही है। गांधीजी के दृढ़ समर्थकों में से किसीने ठीक ही कहा था: "हमारा तो शुद्ध, पवित्र और निष्कलंक आंदोलन है, इसमें कूटनीति के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं। और कौंसिलों को असफल करने की दृष्टि से उनमें जाना कूटनीति ही नहीं छल और

---

१ पटेल, जी० आई०: 'विट्ठलभाई पटेल' खंड—२; पृष्ठ ५४०

कपट भी है, जिसका कोई सत्याग्रही कभी भी समर्थन नहीं कर सकता।"[१]

विट्ठलभाई पटेल की राय में कौंसिल-प्रवेश शत्रु के गढ़ को जीतने के उद्देश्य से उसके अंदर घुसना था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपने बड़े भाई को बड़ा ही माकूल जवाब दिया था। उन्होंने कहा, "कौंसिलें ही दुश्मन का किला नहीं है, किला तो उसके बाहर भी है और जबतक बाहर का वह किला बरकरार है सरकार सैकड़ों बरसों तक बिना कौंसिलों के भी शासन करती रहेगी।"

इस तरह कांग्रेस के नेता दो दलों में बंट गये। जो असहयोग के कार्यक्रम में परिवर्तन चाहते थे वे 'परिवर्तनवादी' कहलाये और सरदार वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्रबाबू और राजाजी आदि, जो परिवर्तन नहीं चाहते थे 'अपरिवर्तनवादी'। ये लोग जेल में बंद गांधीजी के प्रति अपनी निष्ठा को बराबर बनाये रहे। कांग्रेस के गया-अधिवेशन में पं० मोतीलाल नेहरू, श्रीनिवास आयंगार और विट्ठलभाई पटेल के दृढ़ समर्थन के बावजूद सी० आर० दास को कौंसिल-प्रवेश के अपने प्रस्ताव पर बहुमत प्राप्त न हो सका। कौंसिलों के बहिष्कार की नीति यथावत ही बनी रही। इसके फलस्वरूप सी० आर० दास ने गया-कांग्रेस के तत्काल बाद कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया और स्वराज्य पार्टी के नाम से एक नया दल बनाया। वह स्वयं उसके अध्यक्ष बने और पं० मोतीलाल नेहरू को मंत्री नियुक्त किया गया। कांग्रेस जनों में जो मतभेद अंदर-ही-अंदर घुमड़ रहा था वह अब पूरी तरह से ऊपर आ गया।

इसके बाद स्वराजियों और अपरिवर्तनवादियों में समझौते के प्रयत्न होने लगे। नये संवैधानिक सुधारों के अंतर्गत नवंबर १९२३ में कौंसिलों के चुनाव होने जा रहे थे। चुनावों के बारे में कांग्रेस का क्या रुख हो, इस पर अंतिम रूप से निर्णय करने के लिए सितंबर १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया गया। इस बीच खिलाफत के नेता मौलाना मुहम्मद अली जेल से छूट आये थे; उन्होंने अपना पूरा जोर स्वराजियों के पक्ष में लगा दिया। जब उन्होंने जेल में गांधीजी से इस आशय का संदेश (मौलाना साहब को यह कथित संदेश शायद मानसिक अथवा आध्यात्मिक

---

१ वही, पृष्ठ ५३७

संचार-प्रणाली से मिला था !) पाने की बात कही कि देश की बदली हुई हालतों में मौजूं हो सके इस तरह का रद्दोबदल असहयोग के प्रोग्राम में करने के लिए कांग्रेस आज़ाद है, तो अधिवेशन में सनसनी फैल गई। यहां अपरिवर्तनवादी तटस्थ रहे, जिसका फल यह हुआ कि स्वराजियों की जीत हुई और वे कौंसिल-प्रवेश एवं चुनाव में हिस्सा लेने की बात कांग्रेस में मंजूर करवा सके। तैयारियों के लिए मुश्किल से दो महीने का समय मिला था, फिर भी स्वराज्य पार्टी को केन्द्रीय विधि-परिषद में काफी अच्छी सीटें मिल गईं और मध्य प्रांत की कौंसिल में तो उनका बहुमत ही हो गया; दूसरे प्रांतों की कौंसिलों में भी वे काफी अच्छी तादाद में चुन लिये गए। पं० मोतीलाल नेहरू ने केंद्रीय कौंसिल का और सी० आर० दास ने बंगाल की प्रांतीय कौंसिल का नेतृत्व-पद संभाला।

इसी बीच ११ जनवरी, १९२४ को गांधीजी का पूना के सेसून अस्पताल में एपेंडिसाइटिस का आपरेशन हुआ और वह डाक्टरी सलाह पर जेल से रिहा कर दिये गए। गांधीजी को अपना इस तरह रिहा किया जाना तनिक भी पसंद न आया। उन्होंने कहा भी कि कैदी की बीमारी उसकी रिहाई का कोई ठोस कारण नहीं हो सकती। बधाई के सैकड़ों तार पाकर वह घबरा उठे; क्योंकि उनसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें की जा रही थीं ! स्वयं उन्होंने तो यह आशा बांध रखी थी कि 'स्वराज्य की पार्लमेंट' उन्हें रिहा करेगी, जो निराशा में ही परिणत हुई थी।

लार्ड रीडिंग का यह खयाल कि कांग्रेसजनों में असंतोष और आपसी फूट के कारण गांधीजी की शक्ति बहुत-कुछ बैठ जायगी, सर्वथा गलत तो नहीं ही था। स्वराज्य पार्टी ने चुनाव लड़े, जीती और कई कौंसिलों में उसने खासा तगड़ा स्थान बना लिया था। अब वह गांधीजी के आशीर्वाद चाहती थी; इसलिए सी० आर० दास और पं० मोतीलाल नेहरू उनसे मिलने के लिए जुहू गये, जहां वह आपरेशन के बाद स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। दोनों नेताओं ने मिलकर अपने दृष्टिकोण के समर्थन में ढेरों तर्क दिये, लेकिन गांधीजी किसी भी तरह सहमत न हो सके। "अंदर से विरोध करने" का स्वराजियों का तर्क तो उन्हें सिरे से ही गलत लगता था। उनका कहना था कि या तो सरकार से सहयोग किया जा सकता है या असहयोग,

अंदर जाकर असहयोग और विरोध करने का तो कोई अर्थ ही नहीं होता; खुद भ्रम में रहने और दूसरों को भ्रम में रखने से कोई लाभ नहीं। उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि कौंसिलें केवल चटपटा मसाला दे सकती हैं, रोटी नहीं। यद्यपि कौंसिल-प्रवेश के किसी तर्क से वह सहमत नहीं हो सके थे, फिर भी स्वराजियों के मार्ग में बाधक बनना उन्होंने उचित नहीं समझा और 'अपरिवर्तनवादियों' को इस मामले में तटस्थ रहने की सलाह दी।

पं० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास को गांधीजी का समर्थन तो नहीं मिला, लेकिन आनेवाले महीनों ने यह अवश्य सिद्ध कर दिया कि देश के राजनैतिक मंच पर अब कुछ समय के लिए स्वराज्य पार्टी का ही अधिकार रहेगा। गांधीजी की अनुपस्थिति में देश का राजनैतिक वातावरण काफी हद तक बदल गया था, जिसे वह स्वयं भी अनुभव करने लगे थे। सत्याग्रही "सरकार से उतना असहयोग नहीं कर रहे थे जितना आपस में एक-दूसरे से।" हिंदू-मुस्लिम एकता भी छिन्न-विच्छिन्न हो गई थी। रचनात्मक कार्यक्रम में बुद्धिजीवियों की कोई रुचि ही नहीं थी। अब गांधीजी को कांग्रेस को आपसी फूट से बचाने की चिंता हुई, क्योंकि १९०७ की सूरत की फूट के विनाशकारी परिणामों को वह देख चुके। उन्होंने स्वराजियों की थोड़ी-सी दिलजोई की तो उनके अनुयायियों को उसमें शरणागति की गंध आने लग गई। लेकिन गांधीजी एकता के अपने प्रयत्नों में लगे रहे। वह बंगाल भी गये, जहां की प्रांतीय सरकार दमन पर उतर आई थी और स्वराज्य पार्टी के कई सदस्यों को हिंसा का अभियोग लगाकर जेल में ठूंस दिया था। वहां की हालत को देखने के बाद उन्होंने पं० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास के साथ मिलकर एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया था कि विदेशी कपड़ों की पिकेटिंग को छोड़कर असहयोग के शेष सभी कार्यक्रमों को स्थगित कर देना चाहिए और स्वराज्य पार्टी को कांग्रेस का अभिन्न अंग मानकर अपने लिए अलग से चंदा जमा करने और उसको खर्च करने का अधिकार दे देना चाहिए। गांधीजी की यह नई नीति स्वराज्य पार्टी की निश्चित जीत थी, इसमें तो किसीको संदेह हो ही नहीं सकता।

दिसंबर १९२४ में बेलगाम के अधिवेशन में कांग्रेस ने गांधी-नेहरू-दास

समझौते पर स्वीकृति की मुहर लगा दी। अधिवेशन से पहले उसके मनोनीत अध्यक्ष की हैसियत से गांधीजी ने फूट को रोकने की दृष्टि से दोनों गुटों के नेताओं से बातचीत की। अपनी कार्यसमिति में राजाजी और सरदार पटेल जैसे कट्टर 'अपरिवर्तनवादियों' को सम्मिलित न करके उन्होंने एक बार फिर स्वराज्यों की दिलजोई की। अब उनकी नीति स्वराजियों को केवल बर्दाश्त करने की ही नहीं, उनकी ताकत बढ़ाने की भी थी। इसपर कई लोगों की, जिनमें स्वयं उनके कट्टर अनुयायी और 'अपरिवर्तनवादी' भी थे, यह प्रतिक्रिया हुई कि गांधीजी स्वराजियों के आगे बहुत अधिक झुक गये हैं। वाइसराय ने भी इंग्लैंड अपने पुत्र को लिखा था, "गांधी अब दास और नेहरू का पुछल्ला बन गये हैं, हालांकि वे लोग गांधी और उनके साथियों को यह अहसास कराने की हरचंद कोशिश करते रहते हैं कि वे उनके सरगना नहीं तो सरगनाओं में से एक तो जरूर ही हैं।"[१]

कौंसिल-प्रवेश के सवाल पर कांग्रेसजनों की आपसी फूट से गांधीजी को जितनी निराशा हुई थी उससे कहीं अधिक सांप्रदायिक फूट के कारण हुई।

असहयोग-आंदोलन के उभार के दिनों की हिंदू-मुस्लिम एकता की तो अब केवल याद-भर रह गई थी। पारस्परिक विश्वास का स्थान गहरे अविश्वासों ने ले लिया था। सांप्रदायिक दंगे तो हो ही रहे थे, अखबारों और राजनीति में एक नई तरह की कटुता भी घर करती जाती थी। लाला लाजपतराय, पं० मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे कई हिंदू नेता यह अनुभव करने लगे थे कि खिलाफत और असहयोग-आंदोलनों के जुड़ जाने से मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के नाम पर हानिप्रद सांप्रदायिकता ही पनपी, जो ब्रिटिश सरकार का सहारा पाकर और भी भयानक रूप धारण करती जा रही थी। उनकी दृष्टि में इस मुस्लिम सांप्रदायिकता से आत्मरक्षा के उपाय करना हिंदुओं के लिए नितांत आवश्यक हो गया था। उधर खिलाफत आंदोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लेनेवाले बहुत-से मुस्लिम नेता यह तो सोचने लगे थे कि कांग्रेस से हाथ मिलाने में इतनी जल्दबाजी करना ठीक न

---

१ रीडिंग, मार्क्वेस आफ: 'रूफस इजाक्स, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग,' जिल्द-२, पृष्ठ ३०४

हुआ, क्योंकि कांग्रेस जिन नये राजनैतिक सुधारों के लिए लड़ रही थी, उनमें मुसलमानों की स्थिति उन्हें कुछ बहुत सुरक्षित नज़र नहीं आती थी।

पारस्परिक संदेह और भय इतने हावी हो गये थे कि एक की हर बात और हर चाल में दूसरे को फरेब और बेईमानी की गंध आने लगती थी। १९२१ में मलाबार के मोपलों ने धर्मोन्माद में अपने हिंदू पड़ोसियों के साथ जो-कुछ किया उसकी याद हिंदुओं के दिलों में कांटे-सी खटकती रहती थी। हिंदुओं की शुद्धि और संगठन की कार्रवाइयों का जवाब मुसलमानों ने फौरन तबलिग और तंजिम से दिया। मुस्लिम बुद्धिजीवियों को गैर-मुस्लिमों के इस्लाम में दीक्षित किये जाने पर कोई एतराज नहीं था, लेकिन गैर-हिंदुओं की शुद्धि करके उनका हिंदू धर्म में दाखिल किया जाना उनकी बर्दाश्त के बाहर हो जाता और वे इस तरह के धर्मपरिवर्तन की जोरों से मुखालफत करने लग जाते थे। सब पिछली अच्छी बात भुला दी गई थीं। हिंदुओं की भावनाओं का खयाल करके मुसलमानों ने १९२०-२२ में खुद गाय की कुर्बानी बंद कर दी थी, अब वही मुसलमान इस पाक मजहबी फर्ज को हर सूरत पर बजा लाने के लिए आमादा थे। उधर हिंदू भी इस ज़िद पर अड़ने लगे थे कि नमाज के वक्त मस्जिद के आगे से बाजा बजाते हुए निकलेंगे और जरूर निकलेंगे। फिर नौकरियों और व्यापार आदि में सरकारी सरंक्षण के सवाल पर तो एक अनंत झगड़े और शिकवें-शिकायतें थीं।

इस सबके लिए गांधीजी को जिम्मेवार ठहराकर उनपर खिलाफत के साथ असहयोग-आंदोलन को नत्थी कर समय से पहले जन-जागरणं के खिलवाड़ का दोषारोपण करनेवालों की भी कोई कमी नहीं थी। गांधीजी ने इसका यह कहकर जवाब दिया था कि "जन-जागरण तो राजनैतिक शिक्षा का एक आवश्यक अंग होता है और जागी हुई जनता को फिर से सुलाने का पाप मैं कभी नहीं करूंगा।" लेकिन साथ ही वह यह भी चाहते थे कि जनता की जागृति का उपयोग रचनात्मक कार्यों में हो।" दोनों संप्रदायों की मानसिक जड़ता को दूर करके बौद्धिक विकास और विचारों को उदार बनानेवाली शिक्षा की आवश्यकता भी वह महसूस करते थे। 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' में वह इस बीमारी का अपने ढंग से निदान किया करते थे,

और एक बार तो 'यंग इंडिया' के पूरे अंक में उन्होंने सांप्रदायिकता के कारण और निवारण के उपायों पर ही लिखा था। उनका कहना था कि यदि मुल्क सत्याग्रह के तरीकों को ठीक से समझकर उसपर पूरा-पूरा अमल करता तो हिंदू-मुस्लिम तनाव ही पैदा न होता। उनके मतानुसार अहिंसा देश की आजादी की चाभी ही नही सांप्रदायिक शांति की कुंजी भी थी। सभ्य समाज में अहिंसात्मक तरीकों से यदि वैयक्तिक झगड़े निपटाये जा सकते हैं तो उसी समाज में संप्रदायगत झगड़ों और मतभेदों को अहिंसात्मक ढंग से क्यों नहीं निपटाया जा सकता? पारस्परिक सहिष्णुता और आपसी समझौते से, पंच-फैसलों से और अंत में अदालतों के द्वारा आपसी झगड़ों को निपटाया जा सकता है। सामनेवाले का माथा फोड़कर तो कोई उसके दिल में अपनी बात बिठा नहीं सकता। मस्जिद के आगे बाजा बजाने और गाय की कुरबानी के सवाल को लेकर हिंदू-मुसलमानों के आपसी झगड़ों को गांधीजी सच्चे धर्म की खिल्ली उड़ाना ही कहते थे। मुसलमानों के नमाज पढ़ते वक्त मस्जिद के आगे जोर-जोर से बाजा बजाते हुए हिंदू धर्मावलंबियों का जुलूस निकालना न हिंदू धर्म के अनुकूल था और न हिंदू पड़ोसियों की भावनाओं को चोट पहुंचाने के लिए इस्लाम मतावलंबियों का गाय की कुरबानी करना इस्लाम के अनुकूल और जिस धर्म-परिवर्तन से आत्मा की उन्नति न हो, जो महज एक चौखटे से दूसरे चौखटे में चले जाने की तरह हो और जिसके मुंह पर कुछ और मन में कुछ और रहता हो वैसे धर्म-परिवर्तन से लाभ ही क्या? सरकारी नौकरियों की होड़ा-होड़ी और गिले-शिकवे के बारे में गांधीजी का कहना था कि उम्मीदवार तो बहुत-से और नौकरियां केवल गिनी-चुनी हैं, पिछड़े हुए संप्रदाय ऊंची नौकरियों की काबलियत के लिए पढ़ाई-लिखाई की खास सुविधाएं मांगें यह तो समझ में आता है। मगर योग्यता के बदले धर्म को नौकरी पाने की कसौटी बनाना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। इस तरह तो हुकूमत का सारा ढांचा ही कमजोर और बेकार हो जायगा।

गांधीजी को आशा थी कि सांप्रदायिक विद्वेष के मूल कारणों का पता लगाकर उन्हें जनता के सामने रख देने और दोनों संप्रदायों के सद्विवेक को जाग्रत करने से सारा धर्मोन्माद समाप्त हो जायगा। लेकिन सांप्रदायिकता

का विष उनके सारे प्रयत्नों के बावजूद निरंतर फैलता ही गया। सांभर, अमेठी और गुलबर्गा में हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए। सितंबर, १९२४ में कोहाट में जो दंगा हुआ वह सबसे भीषण था; १५५ हिंदू जान से मारे गए और वहां की सारी हिंदू आबादी को शहर से बाहर खदेड़ दिया गया। इस नर-मेध ने गांधीजी को गहरा आघात पहुंचाया। उन्हें इस विचार से अपने-आप पर ग्लानि होने लगी कि असहयोग-आंदोलन के द्वारा उन्होंने जनता में जो जागृति पैदा की थी वह विध्वंसात्मक कार्यों में लग गई!

"क्या मैंने ही जनता की अपार शक्ति को नहीं जगाया था? यदि वह शक्ति अपने ही विनाश में लग जाय तो उसे रोकने का उपाय भी मुझीको करना होगा...क्या मैंने गलती की, उतावलेपन से काम लिया, बुराई से समझौता किया? हो सकता है कि यह सब किया या शायद ऐसा कुछ भी नहीं किया...जो आंखों के सामने दिखाई दे रहा है, मैं तो सिर्फ उसीको जानता हूं। अगर जनता ने सच्ची अहिंसा और सत्य का आचरण किया होता तो आज की यह खून-खराबी और दंगे-फसाद गैर-मुमकिन थे।"

अपने इस दारुण दुःख से शांति पाने के लिए गांधीजी ने इक्कीस दिन का उपवास किया। उपवास की प्रतिक्रिया भी तुरन्त हुई। एक सप्ताह के अन्दर दिल्ली में एक विशाल 'एकता सम्मेलन' हुआ। देश के कोने-कोने से भाग लेनेवाले उसके तीनसौ प्रतिनिधियों में भारत के लाट पादरी डॉ० वेस्ट कॉट, श्रीमती एनी बेसेंट, अलीबन्धु, स्वामी श्रद्धानन्द और प० मदनमोहन मालवीय जैसे महापुरुष भी थे। इस सम्मेलन में धर्म और मत की स्वतन्त्रता को तो स्वीकार किया गया, परन्तु धार्मिक मामलों में हिंसा तथा जोर-जबर्दस्ती की घोर निंदा की गई और उन्हें अनावश्यक बताया गया। सम्मेलन में और भी कई प्रस्ताव पास किये गए, जिनका आशय दोनों कौमों में सद्भावना पैदा करना और पारस्परिक सन्देहों को मिटाना था। उपवास आरम्भ करने के ठीक इक्कीस दिन बाद, ८ अक्तूबर १९२४ को, गांधीजी ने सभी संप्रदायों के नेताओं की उपस्थिति में अपने इस ऐतिहासिक उपवास को तोड़ा। कुरान की आयतों, उपनिषद के मंत्रों और ईसा मसीह के भजनों की समवेत ध्वनि के बीच सी० एफ० एंडरूज ने इस सम्मेलन की सफलता पर टिप्पणी करते हुए कहा था, "दिल एक-दूसरे

के नज़दीक आ गये थे।"

लेकिन नज़दीक खिंचकर आये हुए दिल ज्यादा समय तक पास-पास न रह सके। उपवास के कुछ ही महीनों बाद गांधीजी को बड़े दुःख के साथ यह स्वीकार करना पड़ा कि दिलों को जोड़ने की बात करनेवालों का असली मन्शा दिलों को तोड़ना ही था, और दोनों सम्प्रदायों के नेतागण वास्तव में गोश्त-रोटी के लिए नहीं लड़ रहे थे, उनकी हालत "कहानी के उस कुत्ते की तरह थी, जो हड्डी के लिए नहीं, बल्कि छाया के लिए लड़ता था।" उनकी निराशा का पता १९२७ के जनवरी महीने में बंगाल के कोमिल्ला नामक स्थान पर दिए गये उनके भाषण के इन शब्दों से चलता है—"हिन्दू-मुस्लिम सवाल आदमी के हाथ से निकलकर भगवान के हाथ में पहुंच गया है।"

वैसे तो १९२५ के बाद भी गांधीजी 'यंग इंडिया' में सांप्रदायिक एकता के बारे में लिखते रहे थे, लेकिन इसके निकट भविष्य में हल होने की कोई आशा उन्हें नहीं रह गई थी। शहर का बुद्धिजीवी वर्ग साफ तौर पर दो विरोधी और लड़ाकू सांप्रदायिक गुटों में बंट गया था और वह गांधीजी की एक भी बात इस मामले में मानने को राजी न था। स्वयं उन्हींके शब्दों में—"मेरा तरीका उनका तरीका नहीं है; मैं नीचे से शुरू करके ऊपर की ओर जाने की कोशिश कर रहा हूं।"

: २४ :

नीचे से शुरुआत

अगले तीन वर्षों तक गांधीजी ने अपने-आपको राजनैतिक विवादों से बिलकुल अलग रखा और अपना पूरा समय 'नीचे की ओर से' राष्ट्र का निर्माण करने के महत्वपूर्ण काम में लगाया।

उन्होंने रेल, मोटर, बैलगाड़ी जो भी सवारी मिली उससे सारे देश का एक छोर से दूसरे छोर तक दौरा किया। वह नदी-नाले, कीचड़-कांटों, झाड़-झंखाड़ को पार करके देश के हृदय गांवों तक पहुंचे। सब कहीं लोगों

ने अपार उत्साह और परम श्रद्धा भावना से अपने इस महात्मा का स्वागत किया। भारत के भोले ग्रामीणों को न आधुनिक सभ्यता की जानकारी थी न अपने देश की वर्तमान राजनीति का कोई ज्ञान ही। वे तो बस महात्माजी की वाणी सुनने के लिए आतुर थे, जो उनके मन में भगवान का साक्षात् अवतार थे। गांधीजी को अपना ऐसा महात्मापन ज़रा भी पसंद नहीं था। वह अपने प्रति लोगों की भक्ति को रचनात्मक दिशा में मोड़ने का सतत प्रयत्न करते रहते थे। वह जहां भी जाते लोगों को बाल-विवाह और छूत-छात की युगों पुरानी सामाजिक कुरीतियों को छोड़ने और चरखा चलाने की सलाह देते थे।

उन दिनों गांधीजी के बारे में प्रायः हर अंग्रेज यही कहता सुना जाता था कि गांधी थक गया है, खत्म हो गया है; और भारतीय नेता ऐसा मानने लगे थे कि साबरमती के संत ने राजनीति से संन्यास ले लिया है। उस समय की राजनीति में—प्रांतीय और केंद्रीय कौंसिलों की कार्रवाइयों और समाचार-पत्रों के सांप्रदायिक विवादों में अवश्य गांधीजी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। राजनैतिक स्वतंत्रता को वह देश के आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान की अनुवर्ती मानते थे और उनका कहना था कि स्वयं जनता के अपने प्रयत्नों से ही यह पुनरुत्थान होगा। इस संबंध में उन्होंने लिखा था—"राजनैतिक आजादी का मतलब ही है जन-चेतना में वृद्धि; और जनता की चेतना में वृद्धि तभी संभव है जब राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में काम हो।"

उन दिनों के उनके भाषणों और लेखों के मुख्य विषय भी केवल दो ही थे—चरखा और अस्पृश्यता। यों तो चरखा और खादी का असहयोग के कार्यक्रम में भी स्थान था, लेकिन राजनैतिक शिथिलता के उन तीन वर्षों में तो गांधीजी ने दोनों को नित्य की नियमित पूजा के ही स्थान पर बिठा दिया था। हाथकते सूत को वह देश के 'प्रारब्ध की डोर' कहने लगे थे। कांग्रेस-संगठन के लिए उन्होंने 'खादी मताधिकार' का सुझाव दिया और 'सूत का मुद्रा की तरह उपयोग' करने की बात भी सोचने लगे थे।[१]

---

[१] १९२४ में गांधीजी की सलाह पर यह तय किया गया था कि कांग्रेस सदस्यों द्वारा साल में दिये जानेवाले चार आना शुल्क के स्थान पर दो हजार गज हाथ का कता

पश्चिमी शिक्षा पाये हुए भारतीयों और बहुत-से कट्टर कांग्रेसियों का भी उस समय यही खयाल था कि गांधीजी ने चरखे और खादी को जरूरत से ज्यादा महत्व दे डाला है। और जब सविनय अवज्ञा का संकट टल गया तो सरकार ने भी खादी को गांधीजी की महज एक सनक ही समझा। १९३० में खादी फिर सक्रिय राजनीति का अंग बन गई तो सरकार चौंकी जरूर, लेकिन तब भी वह उसे राजनैतिक संघर्ष का आर्थिक हथियार ही समझती रही।

चरखे से गांधीजी के इतने अधिक लगाव को न तो अंग्रेज ठीक से समझ पाते थे और न शहरों में रहनेवाले आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय ही। गांधीजी के चरखा-प्रेम को समझने के लिए भारतीय ग्रामीणों की भयंकर गरीबी का सही ज्ञान होना नितांत आवश्यक था। अंग्रेज़ों की इस ओर न रुचि थी न इच्छा; और पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त भारतीय नागरिकों का गांवों के संबंध में घोर अज्ञान स्थिति को ठीक से समझने में बाधक था। अपने धार्मिक दृष्टिकोण से गांधीजी ने ग्रामीण जनता और उसकी गरीबी का जो चित्रण किया वह उन्हींके शब्दों में इस प्रकार है—"भूख से बिल-बिलानेवाले इन स्त्री-पुरुषों के लिए स्वतंत्रता और ईश्वर में न कोई भेद है और न इन शब्दों का उनके निकट कोई अर्थ ही; जो इन्हें रोटी का एक टुकड़ा देगा वही इन दुखियारों का ईश्वर और त्राता होगा।" बेजमीन मज-दूर ही गरीबी से त्रस्त नहीं थे, लाखों किसानों को साल में छः महीने बेकार रहना पड़ता था। गांधीजी का कहना था कि गृहोद्योगों से उनकी बिलकुल ही नगण्य आय में काफी वृद्धि की जा सकती है; और चरखा चलाकर सूत कातने से बढ़िया और सीधा-सादा गृहोद्योग भारतीय गांवों के लिए दूसरा कोई हो ही नहीं सकता; लोग अपने घरों में कातने और बुनने का काम उतनी ही आसानी से कर सकते हैं जितनी आसानी से वे

सूत प्रतिमास दिया जाय। आगे चलकर महासमिति के सदस्यों के लिए खादी पहनना अनिवार्य कर दिया गया। जो नियमित खादी नहीं पहनता था वह कांग्रेस संगठन के किसी भी निर्वाचन में भाग नहीं ले सकता था। कुछ समय बाद सूत की मुद्रा का चलन भी 'सूत की गुंडी के रूप में शुरू हो गया; इन सूती गुंडियों के बदले खादी-भंडार से तैयार खादी दी जाने लगा। —अनुवादक

खाना पकाते हैं। माना कि चरखे से बहुत थोड़ी आमदनी होगी, लेकिन जैसा कि गांधीजी ने अगस्त, १६२८ में कलकत्ता के राटेरी क्लब में भाषण करते हुए बताया कि जिस मुल्क की आबादी का दसवां भाग सिर्फ एक जून भोजन पाता हो और जिनकी औसत माहवारी आमदनी तीन रुपये से कुछ ही ज्यादा हो उनके लिए चरखे से पांच-छः रुपया कमा लेना कितनी बड़ी बात होगी !

गांधीजी को चरखे पर इतना अधिक जोर देते देख महाकवि रवींद्र-नाथ ठाकुर को यह आशंका होने लगी थी कि तब तो देश में विविधता रह ही नहीं जायगी, "सर्वत्र मृत्यु-जैसी तद्रूपता ही दिखाई देने लगेगी।" गांधीजी ने यह कहकर कवि की आशंका को निर्मूल कर दिया—"मैं यह नहीं चाहता कि कवि अपना संगीत छोड़ दे, किसान अपना हल, वकील अपने मुकदमे और डाक्टर अपना शल्य-शालाक्य। मैं तो उनसे सिर्फ तीस मिनट रोज कातने का त्याग चाहता हूं। मैंने भूखों मर रहे बेकार स्त्री-पुरुषों को गुजारे के लिए और अधपेट रहनेवाले किसानों को अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए चरखा कातने की सलाह जरूर दी है।"

इस तरह गांव के किसान, मजदूर और निराधार विधवा के लिए चरखे का जहां आर्थिक महत्व था, शहर में रहनेवालों के लिए उसका नैतिक, या गांधीजी के शब्दों में तो आध्यात्मिक महत्व था। भारत के नगर गांवों की गरीबी पर फलते-फूलते रहे थे, अब अवसर आ गया था कि वे गांव का कता-बुना कपड़ा खरीदकर अपने पुराने पापों का प्रायश्चित्त करें और इस तरह शहर और गांव के बीच आर्थिक एवं भावनात्मक संबंध स्थापित किये जायं।

गांधीवादी अर्थशास्त्र के अनुसार मलेरिया-निवारण, सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए पंचायतों की स्थापना, पशु-धन की रक्षा और उनकी नस्ल में सुधार आदि ग्रामोद्धार के जितने भी कार्य-क्रम थे, चरखा धीरे-धीरे उन सभीका केंद्रस्थल बन गया। कहा जा सकता है कि चरखे का अर्थशास्त्र नये गांव की संपन्नता का अर्थशास्त्र था। आरंभ में तो गांधीजी ने इसकी सिफारिश गांवों की संपूर्ण अथवा आंशिक बेकारी को मिटाने के ही लिए की थी, लेकिन शीघ्र ही वह ग्रामोद्योग के एक सरल

रूप से ऊंचा उठकर गांव की महत्वपूर्ण संस्था बन गया। गांधीजी चरखे को निरंतर कई गुणों से विभूपित करते गये। चरखा आर्थिक बीमारियों का रामबाण इलाज ही नहीं राष्ट्रीय एकता और आजादी का मूलमंत्र भी था। चरखा विदेशी राज्य के विरोध का प्रतीक और जैसा कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "स्वतंत्रता का भूपण" हो गया।

गांधीजी के लिए चरखा जहां एक ओर आधुनिक यंत्रवाद, औद्योगिकता और भौतिकवाद के विरोध का मूर्तरूप था वहीं उन्हें गांव के सबसे हीन और गरीब लोगों के साथ जोड़नेवाली कड़ी भी। चरखे के ही माध्यम से वह गांवों के लाखों-करोड़ों गरीबों में से एक और ठीक उन्हींके जैसे बन सकते थे और उनके दुःख-दर्दों को समझ सके थे। वह लिखते हैं—"गांववालों की सूनी निगाहें मेरे कलेजे को टूक-टूक कर देती हैं। अपने बैलों के साथ कड़ी-कठोर मजूरी करते-करते वे बेचारे भी उन्हींके जैसे बन गये है।" बैलों के साथ चलती हुई ये जिंदा ठठरियां उनकी आंखों में बस गई थीं और दिन रात में कभी भी उन्हें चैन न लेने देती थीं। जब किसीने उनसे कहा कि शराबबंदी के लिए अभी देश इंतजार कर सकता है तो वह नाराज हो उठे और बोले—"किसी शराबी की औरत से जाकर इंतजार करने के लिए कहो, फिर देखना वह तुम्हारी क्या गत बनाती है। मैं तो हजारों शराबियों की औरत बनकर देख चुका हूं और इसलिए एक मिनट का भी इंतजार करने का धीरज अब मुझमें नहीं रहा।" वे हजारों शराबियों और उनकी घरवालियों के दुःख को ही नहीं देश के लाखों-करोड़ों अधभूखे ग्रामीणों के अपार दुःख को भी जानते और समझते थे; वह इतने अधिक संवेदनशील थे कि दूसरों की अनुभूतियों को आत्मसात् करने में उन्हें ज़रा भी समय नहीं लगता था। भारतीय गांवों की गरीबी और बेचारगी का ज्ञान उनके मन-प्राण को हर घड़ी लोहे की तेज अनी-सा सालता रहता था। "जब भी कोई मुझसे चरखे के बारे में पूछता है," उन्होंने एक बार कहा था, "तो मेरे अंदर एक पूरा ज्वालामुखी ही धधक उठता है।" उनकी यह मनोव्यथा अकसर उनके शब्दों में फूट पड़ती थी। जलपाई गुड़ी की एक सभा में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था—"भारत मर रहा है...अगर तुम भारत को बचाना चाहते हो तो जो छोटा-सा काम मैं करने के लिए कहता हूं उसे

करके इसे बचा लो। मैं तो कहता हूं कि अभी भी समय है और चरखा चला-कर तुम अपनेको बचा सकते हो, वरना तबाह हो जाओगे।" और चटगांव के नकचढ़े विद्यार्थियों से उन्होंने कहा था, "चटगांव की खादी खुरदुरी है और चुभती है, मगर भारत की गरीबी तो उससे भी खुरदुरी और ज्यादा चुभनेवाली है।"

अपने देशवासियों को युगों से चली आती जड़ता, निष्क्रियता, भय और अंधविश्वास से मुक्त करने के लिए उन्होंने सारे देश के दौरे किये। जब उन्हें चांदी और सोने से मढ़े हुए मानपत्र भेंट किये जाते तो वह तिल-मिला उठते और स्थानीय कारीगरों के हाथ की बनी किसी सस्ती और सुन्दर कलाकृति की मांग करते थे। वह उन स्वर्ण-रजत-खचित मानपत्रों को वहीं नीलाम कर देते और नीलामी में मिला धन खादी फ़ंड में जमा करा देते थे। एक गांववाले जब उन्हें पहनाने के लिए हार ले आये तो वह बुरी तरह बिगड़ उठे—'हारों पर पैसा क्यों खर्च किया? एक रुपये में तो सोलह औरतों को एक बार खाना खिलाया जा सकता है। कितना रुपया बर्बाद कर डाला।" दक्षिण भारत गये तो वहां देवदासी-प्रथा की निंदा की और इस कलंक को जल्दी-से-जल्दी मिटाने पर जोर दिया। मैसूर राज्य की एक नगरपालिका ने अपने यहां तीन लाख रुपये मूल्य का जलप्रदाय होने और छः महीनों में विद्युत्-प्रदाय के आरम्भ किये जाने की बात कही तो गांधी-जी ने बधाई जरूर दी, पर साथ ही यह भी पूछा, "क्या आप लोग शहर के सब बच्चों को शुद्ध और सस्ता दूध दे सकते हैं? जबतक आप लोग खुद अपने हाथ में झाड़ू और टोकरी नहीं लेंगे शहर और कस्बों की सफाई नहीं हो सकती।"

: २५ :

बढ़ती हुई सरगर्मियां

पं० जवाहरलाल नेहरू बाइस महीने यूरोप में बिताकर जब दिसंबर-१९२७ में भारत लौटे तो उन्हें देश का राजनैतिक वातावरण काफी बदला

हुआ दिखाई दिया। वह लिखते है—"'१९२६ की शुरुआत में भारत सुन्न और खामोश पड़ा था, मानो १९१९-२२ के धक्के से पूरी तरह संभल न पाया हो; लेकिन १९२८ में चारों ओर ताजगी, हलचल और बेताबी नज़र आती थी।" बात सच थी। समाज के कुछ खास-खास हिस्सों में और खास तौर पर कारखाने के मजदूरों, किसानों और मध्यवर्गीय युवकों में बेचैनी के आसार दिखाई देने लगे थे। अखिल भारत ट्रेड यूनियन कांग्रेस मजदूरों की लड़ाकू और वर्ग-चेतन संस्था का रूप ले चुकी थी; पं० जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस जैसे तरुण क्रान्तिकारी नेता उसकी कार्रवाइयों में दिलचस्पी ले रहे थे। १९२८-२९ में देशव्यापी हड़तालों का एक दौर आया; सबसे ज्यादा हड़तालें बंबई की सूती मिलों में, बंगाल की जूट मिल में और जमशेदपुर के लोहे और इस्पात के कारखानों में हुई थीं। मजदूर-आंदोलन देश के आम राजनैतिक आंदोलन से सीधी तरह जुड़ा हुआ तो नहीं था, लेकिन मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ तो था ही।

छुटपुट आतंकवादी घटनाओं के अलावा, जो असंगठित होते हुए भी सरकार के लिए अच्छा-खासा सिरदर्द हो गई थीं, देश में हर जगह यूथ लीग के नाम से युवकों के संगठन भी बन रहे थे। कई युवक-सम्मेलन भी हुए, जिनमें राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के काफी उग्र समाधान पेश किये गए थे।

किसानों में असंतोष की आग यों तो कई प्रांतों में अंदर-ही-अंदर सुलग रही थी, लेकिन भड़ककर ऊपर आई बंबई अहाते के गुजरात के किसानों में ही। जिस बारडोली ताल्लुके को गांधीजी ने १९२२ के असहयोग का आंदोलन में करबंदी के लिए चुना था, किसानों के असंतोष का शंखनाद वहीं से गूंजना शुरू हुआ। बंबई सरकार के माल-विभाग की राय में यहां का बंदोबस्त करवाना जरूरी हो गया था। जयकर नामक एक डिप्टी कलक्टर को यह काम सौंपा गया और उसने सर्वेक्षण के बाद लगान में पैंतीस प्रतिशत बढ़ोतरी की सिफारिश की। बंदोबस्त कमिश्नर ने जयकर की रिपोर्ट को ठीक नहीं माना, लेकिन बंबई सरकार ने फिर भी लगान में बाईस प्रतिशत वृद्धि करने की मंजूरी दे दी। बारडोली के किसानों ने बंबई की कौंसिल में अपने प्रतिनिधियों की मार्फत इस बढ़ती का विरोध किया। जब दरख्वास्तों से

कोई वात नहीं वनी तो उन्होंने वल्लभभाई पटेल से इस लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए कहा। वल्लभभाई अच्छी-खासी वकालत छोड़कर असहयोग आंदोलन में शरीक हुए थे। अहमदावाद की नगरपालिका के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने काफी नाम भी कमाया था। लेकिन देश को उनकी संगठन करने की शक्ति और योग्यता का परिचय वारडोली के संग्राम में ही मिला। उन्होंने स्थिति की जांच-पड़ताल करके गांधीजी को यह रिपोर्ट दी कि किसानों की शिकायत सही है। "तो आगे वढ़ो !" गांधीजी ने आशीर्वाद दिये, "गुजरात की जय हो !"

सरकार ने इस आंदोलन को तोड़ने में अपनी पूरी ताकत लगा दी। लगान चुकानेवालों को रियायतें देने की घोषणा की गई। धनी और डरपोक किसानों को फुसलाया जाने लगा। खड़ी फसलें कौड़ियों के मोल वेच दी गईं। लगान की वसूली में जमीनें, घर-गृहस्थी का सामान और जानवर कुर्क किये जाने लगे। गांव में न कोई नीलामी की वोली वोलने को तैयार होता था न जब्तशुदा जायदादों और जानवरों को खरीदने के लिए राजी। तब इस काम के लिए वाहर से पठानों को लाया गया। किसानों के पास सिर्फ एक ही हथियार था—वहिष्कार; और उन्होंने अत्याचारी अफसरों और सरकार का साथ देनेवाले अपने डरपोक भाइयों के खिलाफ भी इस हथियार को खूव इस्तेमाल किया।

सत्याग्रह के इस व्यापक प्रयोग में गांधीजी की गहरी दिलचस्पी थी। वह इसका पूरा समर्थन कर रहे थे; लेकिन वल्लभभाई पटेल ने उन्हें वारडोली आने की सलाह नहीं दीं, क्योंकि हर क्षण ऐसा लग रहा था कि यह लड़ाई अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर लेगी। विट्ठलभाई पटेल ने लार्ड इर्विन से हस्तक्षेप करने का अनुरोध दिया। कांग्रेस की कार्यसमिति ने वारडोली-संघर्ष के संभावित्त परिणामों पर विस्तार से विचार किया और तटस्थ पर्यवेक्षकों का एक दल, जिसमें पं० हृदयनाथ कुंजरू भी थे, मौके की जांच-पड़ताल के लिए वारडोली भेजा गया। बंबई कौंसिल के कुछ सदस्यों ने इस सवाल पर अपने त्यागपत्र भी दे दिये। सभी भारतीय अखवारों और अंग्रजों के स्टेट्समैन' और 'पायोनियर' ने भी जांच-समिति वैठाने की मांग का समर्थन किया। वड़े हीले-हवालों के वाद सरकार राजी हुई और दो

ब्रिटिश अधिकारियों की एक जांच-समिति नियुक्त की गई। इस जांच-समिति ने बाईस प्रतिशत वृद्धि को अनुचित बतलाते हुए केवल पांच प्रतिशत वृद्धि की सिफारिश की। बारडोली के किसानों की जीत हुई। उन्होंने अपने नेता वल्लभभाई पटेल को सरदार की पदवी से विभूषित किया। कई वर्षों की निष्क्रियता और जड़ता के बाद बारडोली के सफल संग्राम ने देश-भक्तों के दिलों में एक नया जोश पैदा कर दिया। बारडोली की लड़ाई इस बात का संकेत थी कि देश की जनता आजादी के लिए लड़ने को तैयार खड़ी थी।

उधर देश के राजनैतिक क्षितिज पर से अन्यमनस्कता का कुहासा भी धीरे-धीरे छंटता जा रहा था। स्वराज्य पार्टी १९२३ से देश के राज-नैतिक मंच पर आसीन थी। वह नये विधान को विफल करने और नौकर-शाही के खिलाफ वातावरण बनाने पर तुली हुई थी। उसके संस्थापक पं० मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास के अतिरिक्त लाला लाजपत राय और माननीय जयकर का सक्रिय सहयोग भी उसे प्राप्त था। उसने अपने काम का आरंभ काफी अच्छी तरह किया। १९२३ और १९२४ में दो प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली को चलने ही नहीं दिया। केंद्र में सांप्र-दायिक मताधिकार और अफसरों एवं मनोनीत सदस्यों का बाहुल्य होते हुए भी सरकारी प्रतिष्ठा को हानि पहुंचानेवाले कई काम किये; बजट मंजूर नहीं होने दिये और नये विधान के लिए गोलमेज परिषद् बुलाने की मांग बुलंद की। शुरू के दिनों में सरकार पर स्वराज्य पार्टी का कितना दबदबा था, यह बात तत्कालीन वाइसराय द्वारा उपनिवेश-मंत्री के नाम लिखे एक पत्र से मालूम होती है: 'इस समय तो बस स्वराजी का बोल-बाला है; न कोई उसकी बराबरी करने वाला है और न कोई उसपर वार करनेवाला...स्वराजियों के मुकाबले नरमदली (माडरेट) तो बड़ा ही सुस्त और घोंघा बसंत मालूम पड़ता है।"[1]

लेकिन स्वराज्य पार्टी का यह ऊंचा अनुशासन ज्यादा दिन चल न पाया। कौंसिलों में अपना बहुमत न होने से दूसरे दलों का सहयोग लेना

---

[1] रीडिंग, मार्क्वेस आफ : 'रूफस इज़ाक, फर्स्ट मार्क्वेस आफ रीडिंग,' जिल्द-२ पृष्ठ २८३।

आवश्यक हो जाता था, और कई वार सिद्धांतों की वलि देकर भी सहयोग लेना पड़ता था। सरकार स्वराज्य पार्टी के कमजोर सदस्यों को फुसलाकर तोड़ने में कामयाव भी हो जाती थी—किसीके आगे प्रांत के मंत्री-पद का टूकडा फेंका जाता, तो किसीको जिनेवा की सैर का लालच दिया जाता था। जो लोग सांप्रदायिक मताधिकार से चुनकर आये थे वे अंत तक देश-व्यापी सांप्रदायिकता के जहर से अछूते न रह सके। मुस्लिम सदस्य पार्टी से किनारा करते चले गए और महाराष्ट्र के स्वराजियों ने 'सापेक्ष सहयोग'[1] का नारा वुलंद कर दिया। पार्टी को करारी चोट तो उस समय लगी जब दल के उपनेता लाला लाजपतराय ने त्यागपत्र दे दिया। १९२६ के आम चुनाव में स्वराजियों की संख्या केंद्रीय और प्रांतीय दोनों ही तरह की कौंसिलों में काफी कम हो गई। केवल मदरास को छोड़कर सब जगह उन्हें अपनी 'सीटों' से हाथ धोना पड़ा। संयुक्तप्रांत से अकेले पं० मोतीलाल नेहरू ही केंद्रीय कौंसिल के लिए चुने जा सके। उन्हींके शब्दों में, "राष्ट्रीयता और हीन कोटि की सांप्रदायिकता के बीच लड़ाई थी, और उसमें सांप्रदायिकता की जीत हुई।"

अव सरकार को कौंसिलों में अपने मन की करने का मौका मिल गया। १९२६ के आम चुनाव से कुछ ही दिन पहले फरवरी में पं० मोती लाल नेहरू को कहना पड़ा था कि "ये दिखावटी संस्थाएं अव हमारे किसी काम की नहीं रह गई हैं।" कौंसिलों की उपयोगिता के वारे में उनके विचारों ने कैसे पलटा खाया और वह क्योंकर इस नतीजे पर पहुंचे कि मौजूदा हालतों में भारत के लिए वैध उपाय बिलकुल ही अनुपयुक्त थे, इसका वहुत अच्छा वर्णन उनके सुपुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी" में किया है। और अधिकांश स्वराजी, जो फिर गांधीजी के साथ आ गये, उसका सवसे वड़ा कारण पार्लमेंटरी तरीकों में उन लोगों के भ्रमों का निवारण ही था।

१९२७ में असंतोष की आग अंदर-ही-अंदर तो अवश्य घुमड़ रही थी, लेकिन ऊपर से राजनैतिक वातावरण विलकुल शांत था। लार्ड रीडिंग की भविष्यवाणी सही थी कि उनके उत्तराधिकारी के अठारह महीने शांति

१ रेसपांसिव कोआपरेशन

से बीतेंगे, लेकिन वह शांति तूफान के पहले का सन्नाटा होगा। आखिर तूफान आया, लेकिन उसे लाने की जिम्मेवारी ब्रिटिश सरकार पर ही थी। २ नवंबर, १९२७ को वाइसराय ने गांधीजी, पं० मोतीलाल नेहरू, डा० अन्सारी और जिन्नासाहब को दिल्ली बुलाकर शाही कमीशन की नियुक्ति की घोषणा का एक पर्चा थमा दिया। इन लोगों को दिल्ली सिर्फ इसीलिए बुलाया गया था। गांधीजी उस समय दक्षिण में थे और करीब हजार मील की यात्रा करके दिल्ली पहुंचे थे। बड़े ही क्षोभ के साथ उन्होंने कहा था कि क्या एक पोस्टकार्ड से इसकी सूचना नहीं दी जा सकती थी ! और भारतीय नेताओं को जो पर्चा दिया गया था, उसका विषय बिलकुल नया हो सो बात भी नहीं थी। समाचार-पत्र उसकी पूर्व-सूचना अपने पाठकों पहले ही दे चुके थे। वाइसराय के जीवनी-लेखक का कहना है कि भारतीय नेता इतने अपमानित पहले कभी नहीं हुए थे।[1]

१९१९ के इंडियन रिफार्म्स एक्ट में दस वर्ष के बाद भारत की संवैधानिक स्थिति पर विचार करने का प्रावधान रखा गया था। अनुदार दली (कंजरवेटिव) अंग्रेज उस प्रावधान को अपनी सुरक्षा और भारतीय देशभक्त आगे बढ़ने का अवसर मानते थे। निर्धारित अवधि से दो वर्ष पूर्व, १९२७ में, शाही कमीशन की नियुक्ति होते देख लोग-बाग तरह-तरह की अटकलें लगाने लगे। आम राय यह थी कि इंग्लैंड की कंजरवेटिव सरकार अपनी उत्तराधिकारी मजदूर सरकार को, इंग्लैंड के आम चुनाव के बाद जिसके बन जाने की पूरी संभावना थी, भारतीय समस्या को हल करने का मौका नहीं देना चाहती; उसे स्वयं ही हल करना चाहती है। लार्ड बरकनहेड ने अपनी पुस्तक 'अंतिम दौर' (दि लास्ट फेज़) में लिखा भी है कि "हम इस बात का ज़रा भी खतरा मोल लेना नहीं चाहते कि १९२८ के कमीशन की नियुक्तियां हमारे उत्तराधिकारी करें।" लार्ड बरकनहेड का उद्देश्य जो भी रहा हो उनका नियुक्त किया हुआ कमीशन भारत में सफल न हो सका।

कमीशन के अध्यक्ष सर जान साइमन[2] को छोड़कर उसके शेष सभी

---

[1] जान्सन, एलन कैंपबेल : 'वाइकाउंट हेली फेक्स', पृ० १९०

[2] अध्यक्ष के ही नाम पर उस कमीशन का नामकरण 'साइमन कमीशन' किया गया था।

सदस्य 'द्वितीय श्रेणी' के लोग थे। अंग्रेज लेखक वाइकाउंट साइमन के शब्दों में 'कमीशन के कनिष्ठ सदस्य' क्लीमेंट इटली, जो आगे चलकर इंग्लैंड के प्रधानमंत्री वने, उस समय पार्लमिंट की कामन्स सभा की पिछली वेंचों पर वैठनेवाले अप्रसिद्ध व्यक्ति थे। लेकिन जिस बात से भारतीयों को सबसे अधिक आघात पहुंचा था वह यह थी कि उस कमीशन में एक भी भारतीय को नहीं रखा गया था, सब-के-सब गोरे थे। यह तर्क कि ब्रिटिश पार्लमिंट के प्रति उत्तरदायी शाही कमीशन में किसी वाहरी आदमी को नहीं रखा जा सकता था, वैधानिक दृष्टि से तो ठीक था, लेकिन राजनैतिक दृष्टि से वह एक बहुत बड़ी भूल थी। भारत में उस कमीशन को स्वतंत्र होने की भारतीयों की योग्यता का विदेशी परीक्षक समझा गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 'हर जगह और हर तरह'[1] से उसके बहिष्कार का फैसला किया। यहांतक कि जिन माडरेट और मुस्लिम नेताओं के सहयोग की बरकनहेड को पूरी आशा थी, उन्होंने भी कमीशन का विरोध करने में राष्ट्र का साथ दिया।

साइमन कमीशन जहां भी गया सर्वत्र काले झंडों से[1] उसका स्वागत किया गया और उसके विरोध में आम हड़तालें हुईं। पुलिस ने सभी शहरों में प्रदर्शनकारियों पर डंडे बरसाए और पंजाब केसरी लाला लाजपतराय पर तो एक युवक अंग्रेज अफसर के हाथों इतनी मार पड़ी कि अंदरूनी चोटों के फलस्वरूप थोड़े ही दिनों के बाद उनकी मृत्यु भी हो गई। इस दुर्घटना से जनता का गुस्सा और भी भड़का और बहिष्कार में ज्यादा तेजी आ गई। सरकार भी और ज्यादा कठोरता से काम लेने लगी और प्रदर्शनकारियों पर डंडे बरसाना आम बात हो गई।

साइमन कमीशन के बहिष्कार से देश की सोई हुई राजनीति में एक उफान-सा आ गया और इधर-उधर बिखरे हुए सारे राजनैतिक दल एक मंच पर आ जमा हुए। बरकनहेड की इस चुनौती का कि "भारतीय अपने लिए जिस तरह का विधान चाहते हैं उसकी रूप-रेखा प्रस्तुत क्यों नहीं करते, जबकि अपने तीन वर्ष के उपनिवेश-मंत्रीत्व काल में मैं दो बार उनसे

---

[1] और 'साइमन कमीशन गो बैक' (साइमन कमीशन लौट जाओ) के नारों से।
—अनु०

यह कह चुका हूं और आज फिर कह रहा हूं।" जवाब देने के लिए एक सर्वदल-सम्मेलन का आयोजन किया गया और उसने विधान की जो रूप-रेखा तैयार की वह इतिहास में 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस रिपोर्ट में पार्लामेंटरी ढंग की सरकार, संयुक्त चुनाव-पद्धति और अल्प-संख्यकों के संरक्षण की कुछ जटिल-सी प्रणाली की बात कही गई थी। अगस्त १९२८ में सर्वदल, सम्मेलन की अंतिम बैठक में जब इस मसविदे को स्वीकृति के लिए पेश किया गया तो 'औपनिवेशिक स्वराज्य' और 'पूर्ण स्वाधीनता' के प्रश्न को लेकर विवाद छिड़ गया। नेहरू-रिपोर्ट में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की बात कांग्रेस के नरम और गरम सभी विचार के नेताओं में एकता बनाये रखने के उद्देश्य से कही गई थी। लेकिन उग्र विचारों के तरुण नेताओं को यह स्वीकार न हुआ; वे देश की स्वतंत्रता को सीमित करने के जरा भी पक्ष में नहीं थे। लेकिन पं० मोतीलाल नेहरू, जिनके नाम पर रिपोर्ट का नामकरण हुआ था, उसकी उसी रूप में, बिना किसी परिवर्तन के, स्वीकृति चाहते थे। इसपर पं० जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस इतने नाराज हुए कि उन्होंने कांग्रेस से इस्तीफे ही दे दिये। लेकिन उनके इस्तीफे मंजूर नहीं किये गए। तब उन लोगों ने कांग्रेस जनों में पूर्ण स्वाधीनता के विचारों का प्रचार करने के लिए एक स्वाधीनता (इंडिपेंडेंस) लीग बना डाली। दिसंबर १९२८ में कलकत्ते में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था और अभी से ऐसा लग रहा था कि वहां नये और पुराने खून में ठनकर ही रहेगी।

सर्वदल-सम्मेलन और नेहरू-रिपोर्ट को तैयार करने में गांधीजी ने कोई भाग नहीं लिया था। लेकिन उन्होंने रिपोर्ट को "समस्त उचित आकांक्षाओं" को संतुष्ट करनेवाली अवश्य माना था। कांग्रेस के गौहाटी (१९२६) और मदरास (१९२७) अधिवेशनों में भी उन्होंने सक्रिय रूप से हिस्सा नहीं लिया था। अगर कलकत्ता-अधिवेशन के अध्यक्ष पं० मोतीलाल नेहरू ने उन्हें जल्दी-से बुलाने न भेजा होता तो संभवतः १९२८ के अधिवेशन में भी वह कोई दिलचस्पी न लेते। उन्होंने यह कहकर गांधीजी को संकट में सहायता करने के लिए बुला लिया था—"आपने मुझे अध्यक्ष की कुर्सी पर कांटों का ताज पहनाकर बिठा तो दिया है; अब मेरी मुसी-

बातों का तमाशा दूर से तो न देखिये।'

कलकत्ता-अधिवेशन में गांधीजी के समझौता-प्रयत्नों से कांग्रेस की फूट टल गई। अधिवेशन ने एक प्रस्ताव करके नेहरू-रिपोर्ट को इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि यदि ३१ दिसंबर, १६२६ तक सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया तो कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता की मांग करेगी और आवश्यक हुआ तो उसके लिए अहिंसात्मक असहयोग भी करेगी। गांधीजी सरकार को दो वर्ष का समय देना चाहते थे, जिससे कांग्रेस भी इतने समय में अपने संगठन को मजबूत बना सके। आज़ादी के बारे में बकवास करनेवालों से उन्होंने खुले अधिवेशन में कहा था : "आप लोग चाहे स्वतंत्रता का राग अलापा करें, जैसे कि मुसलमान अल्ला का राग अलापता है और हिंदू राम या कृष्ण का; लेकिन यदि इस अलाप के पीछे सचाई नहीं है तो आपका यह अलाप कोई मतलब नहीं रखता।" उन्होंने यह चेतावनी भी दी कि जबतक राष्ट्र अपने अधिकारों का दावा करने की तैयारी नहीं कर लेता, "अपनी बात को मनवाने के लिए इतनी ताकत नहीं जमा कर लेता," ब्रिटिश सरकार न तो औपनिवेशिक स्वराज्य देने को राजी होगी और न पूर्ण स्वाधीनता ही। अगर कांग्रेस सरकार से अहिंसात्मक लड़ाई लड़ना चाहती है तो पहले उसे अपना संगठन मजबूत बनाना होगा। कांग्रेस की सदस्य-संख्या को उन्होंने 'नकली' बताया और कांग्रेस को सच्चे, प्राणवान, सक्रिय सदस्यों की संस्था बनाने पर जोर दिया। अंत में उन्होंने यह भी कहा कि प्रस्ताव का महत्व और उसकी उपयोगिता तभी होगी जब आगे डटकर काम किया जाय।

कलकत्ता-कांग्रेस ने गांधीजी के राजनीति में लौट आने का मार्ग साफ कर दिया। अगर ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की मांग को मंजूर नहीं किया—और मंजूर किये जाने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती थी—तो कांग्रेस असहयोग आंदोलन छेड़ने के लिए वचनबद्ध हो चुकी थी और सभी जानते थे कि केवल गांधीजी ही ऐसे आंदोलन का संचालन कर सकते थे। मार्च, १६२२ में उन्हें छः साल की कैद की सजा दी गई थी, बीमारी के कारण १६२४ में मियाद से पहले रिहा किया जाना उन्हें ज़रा भी अच्छा नहीं लगा था। मार्च, १६२८ तक वह 'नैतिक दृष्टि से' अपनेको बंदी ही मानते थे।

लेकिन अब मियाद पूरी हो चली थी और सक्रिय राजनीति से लिये हुए संन्यास को राजनैतिक एवं वैयक्तिक दोनों ही कारणों से समाप्त करने का समय आ गया था।

: २६ :
रियायत का एक साल

कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन ने ब्रिटिश सरकार को, पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "एक साल की रियायत और विनम्र चेतावनी (अल्टीमेटम)" दे दी थी। अगर सरकार ने १९२९ के अंत तक औपनिवेशक स्वराज्य की मांग को पूरा न किया तो कांग्रेस आंदोलन छेड़ देगी। गांधीजी को १९२९ में यूरोप जाने का निमंत्रण मिला था, लेकिन कलकत्ता-कांग्रेस में मुख्य प्रस्ताव पास करवा चुकने के बाद यूरोप जाना उन्हें "काम छोड़कर भागने" जैसा लग रहा था। कांग्रेस ने अपनी ओर से एक साल का अवसर दे दिया था; अब कुछ करने की बारी सरकार की थी। परंतु गांधीजी जानते थे कि आज़ादी अंग्रेजों से सेंत में नहीं मिलेगी।

सत्याग्रह के पैंतरे और मोर्चेबंदियां महीनों या बरसों पहले से तय नहीं की जातीं। लेकिन देश की जनता को राजनैतिक शिक्षा देना और अनुशासित करना तो आवश्यक था ही। इसके लिए गांधीजी ने देशव्यापी दौरा शुरू किया। सब जगह उन्होंने लोगों से चरखा चलाने, खादी पहनने और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करने के लिए कहा। कांग्रेस की ओर से स्वयसेवकों के द्वारा खादी-बिक्री की एक योजना भी उन्होंने तैयार की। घर-घर जाकर विदेशी कपड़े जमा करने, सार्वजनिक रूप से उनकी होली जलाने और विदेशी कपड़ा बेचनेवाली दुकानों की पिकेटिंग करने का कार्यक्रम भी इस योजना में सम्मिलित था। मार्च १९२९ में जब गांधीजी कलकत्ता में थे, उनकी उपस्थिति में वहां के श्रद्धानंद पार्क में विदेशी कपड़ों की बहुत बड़ी होली जलाई गई। सरकार ने पहले ही बंगाल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी पर नोटिस तामील कर दिया था कि सार्वजनिक स्थानों में या उनके

आस-पास विदेशी कपड़ों की होली जलाना जुर्म है। गांधीजी का इरादा इस समय किसी भी कानून को तोड़ने का नहीं था। उन्होंने कहा था, "वैसे तो जितने भी कानून नैतिक दृष्टि से अनुचित हैं उन सभीको मैं तोड़ सकता हूं, लेकिन अभी मेरे लिए वह समय नहीं आया है।" फिर लोगों ने उन्हें यह भी बता दिया था कि श्रद्धानंद पार्क, जहां सभा करके होली जलाई जाने-वाली थी, सार्वजनिक स्थान नहीं था। खैर, होली जलाई गई और सरकार ने वहीं मौके पर गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया। चीफ प्रेसीडेंसी मैजि-स्ट्रेट की अदालत में ५ मार्च को हाजिर रहने के मुचलके पर उन्होंने दस्त-खत करने से इनकार कर दिया। वह उस समय बर्मा जा रहे थे, जो चौदह-वर्षों के बाद उस देश में उनकी दूसरी यात्रा थी; इसलिए मुकदमा उनके लौट आने तक स्थगित कर दिया गया। तीन सप्ताह बाद, बर्मा से लौट आकर, वह स्वयं अदालत में हाजिर हो गये, मुकदमा चला और उनपर एक रुपया जुर्माना किया गया। उनके अनजान में ही किसीने जुर्माना अदा भी कर दिया। इस मुकदमे से विदेशी कपड़ों के बहिष्कार ने और तेजी पकड़ ली। जिस दिन गांधीजी के मुकदमे की सुनवाई हुई उस दिन सारे देश में विदेशी कपड़ों की होलियां जलाई गईं।

देशव्यापी असंतोष की जानकारी सरकार को भी थी। कांग्रेस ने अल्टीमेटम दे ही दिया था; १९३० के आरंभ में आंदोलन शुरू होने की हवा गरम थी; इसके सिवा अशांति के कुछ और चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। औद्योगिक मजदूरों में असंतोष फैलता जा रहा था। बंबई और जमशेदपुर में तो हड़तालें भी हो गई थीं। १९२९ के अप्रैल महीने में केन्द्रीय असेंबली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल जब असेंबली-भवन में पब्लिक सेफ्टी बिल पर अपना निर्णय देने के लिए खड़े हुए तो दर्शक गैलेरी से असें-बली भवन में बम फेंके गए। भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त ने ये बम फेंके थे; दोनों वहीं गिरफ्तार कर लिये गए। बाद में जब मुकदमा चला तो उन्होंने बताया था कि उनका इरादा किसीकी जान लेने का नहीं, सरकार के बहरे कानों तक भारतवासियों की उमंगों का सदेश पहुंचाना था। देश के कई हिस्सों में आतंकवादी कार्रवाइयां होने लगीं; सरकार ने नौजवानों और क्रांतिकारियों की अंधाधुंध गिरफ्तारियां कर सबपर षड्यंत्र केस चला

दिये। देश के बच्चे-बच्चे की जबान पर क्रांतिकारियों का नाम हो गया। जो आतंकवाद के समर्थक नहीं थे वे भी आतंकवादियों के उद्देश्य की सराहना करने लगे। जब क्रांतिकारियों ने जेल के दुर्व्यवहार के खिलाफ भूख हड़ताल कर दी तो सारे देश में गुस्से और बेचैनी की लहर दौड़ गई। उस भूख-हड़ताल में यतींद्रनाथ दास जेल में ही शहीद हो गये। उनके बलिदान के उपलक्ष्य में देशव्यापी हड़ताल करके जनता ने ब्रिटिश राज्य के प्रति अपने गुस्से और नफरत को जाहिर किया।

देश के बढ़ते हुए असंतोष और रोष को कुचलने के ही लिए सरकार ने पब्लिक सेफ्टी बिल पेश किया था। उसमें कार्यपालिका को और भी अनियंत्रित अधिकार दिये गए थे। असेंबली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने उस दमनकारी बिल को अस्वीकार कर दिया था, लेकिन वाइसराय ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करके उसे कानून का रूप दे दिया। मार्च, १९२९ में कई प्रमुख ट्रेड यूनियन नेताओं को, जिनमें 'कुछ कम्यूनिस्ट, कुछ कम्यूनिस्ट-समर्थक और कुछ निरे ट्रेड यूनियनिस्ट थे,' पकड़कर जेल में डाल दिया और उनपर सुप्रसिद्ध 'मेरठ षड्यंत्र केस' के नाम से मुकदमा चलाया गया। गांधीजी ने इस मुकदमे पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि "मुझे तो इस मुकदमे का उद्देश्य साम्यवाद को खत्म करना नहीं, लोगों के दिलों में आतंक पैदा करना ही लगता है।" और उन्होंने यह भी कहा था कि "सरकार अपने खूनी पंजे दिखा रही थी।"

लेकिन इतना सब होते हुए भी तत्कालीन वाइसराय लार्ड इर्विन का इरादा बहुत ज्यादा सख्ती करने का नहीं था। १९२९ की गर्मियों में वह इंग्लैंड गये और वहां के राजनीतिज्ञों से भारत की स्थिति पर विचार-विमर्श किया। जब वह वहां पहुंचे तो सरकार बदल गई थी और मजदूर दल के मंत्रिमंडल ने शासन-सूत्र संभाल लिया था। मजदूर-दल की सरकार के उपनिवेश-मंत्री वेजवुडवेन भारतीयों के निरंतर बढ़ते हुए असंतोष को रोकने के लिए कुछ करने की लार्ड इर्विन की सलाह से सहमत थे। सवैधानिक प्रश्न पर विचार करने के लिए भारतीयों और अंग्रेजों की मिली-जुली गोलमेज परिषद् बुलाने के लार्ड इर्विन के सुझाव का उन्होंने समर्थन किया। लार्ड इर्विन भारत लौट आकर गोलमेज परिषद् की सूचना देते समय इस

बात पर जोर देना चाहते थे कि भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य अब भी औपनिवेशिक स्वराज्य ही है, वेजवुड साहब ने उनके इस विचार का भी समर्थन किया। लेकिन लिबरल पार्टी के दो प्रमुख स्तंभ लायर्ड जार्ज और लार्ड रीडिंग ने लार्ड इर्विन के प्रयत्नों को कोई बढ़ावा नहीं दिया। लेबर सरकार का हाउस आफ कामन्स में बहुमत नहीं था, उसे लिबरलों के समर्थन पर निर्भर करना पड़ता था; लेकिन उपनिवेश-मंत्री वेजवुड खतरा मोल लेने को तैयार हो गये।

भारत लौटकर लार्ड इर्विन ने ३१ अक्तूबर, १९२९ के दिन एक 'असाधारण राजपत्र' के द्वारा गोलमेज परिषद् की सूचना भारतवासियों को दे दी। वाइसराय ने बात इतनी चतुराई से कही थी कि उससे ज्यादा पाने और कम देने के, दोनों ही अर्थ निकाले जा सकते थे। लेकिन कुल मिलाकर उस घोषणा का देश में अच्छा ही स्वागत हुआ। माडरेट नेताओं ने तो, वाइसराय के जीवनी-लेखक के शब्दों में, "परिषद् को अपनी बुद्धि-कौशल दिखलाने का मनचाहा अवसर माना और वह लार्ड इर्विन के विश्वस्त मित्र बन गये"। कांग्रेस के नेता तो किसी ऐसे संकेत की प्रतीक्षा ही कर रहे थे, जो औपनिवेशिक स्वराज्य की आशा को बढ़ाने और सरकार से संघर्ष को टालनेवाला हो; इसलिए उन्होंने इस घोषणा को सरकार का 'हृदय-परिवर्तन' माना। एक 'संयुक्त वक्तव्य' के द्वारा गांधीजी, पं० मोतीलाल नेहरू, पटेल, तेजबहादुर सप्रू, श्रीमती एनी बेसेंट और जवाहरलाल नेहरू आदि प्रमुख नेताओं ने इस घोषणा पर संतोष प्रकट किया और उसमें निहित सदिच्छाओं की सराहना की।

लेकिन उधर इंग्लैंड के कंज़रवेटिव अखबारों और पार्लमेंट की लार्ड सभा में इसीपर तूफान खड़ा हो गया। अनुदार दल के लार्डों ने लेबर सरकार पर यह आरोप लगाया कि वाइसराय की घोषणा इंग्लैंड की भारत के प्रति अबतक की नीति के खिलाफ थी। लेबर सरकार का कामन्स सभा में बहुमत तो था नहीं, केवल लीपापोती करके जान बचाई जा सकती थी। वेजवुड साहब ने यह साबित करने की कोशिश करके किसी तरह मामले को ठंडा किया कि भेद केवल घोषणा के शब्दों में है, नीति तो वही पुरानी है। अगस्त, १९१७ की मांटेगू-घोषणा की सिर्फ नये सिरे से व्याख्या कर दी

गई है।

पार्लमेंट की बहस का भारतीय नेताओं पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। सरकार की सदिच्छा में उनके विश्वास को एक बार फिर ठोकर लगी। वाइसराय ने भारत में जो कुछ करना चाहा था, इंग्लैंड में परिस्थितियों के शिकार उपनिवेश-मंत्री ने उसपर पानी फेर दिया। वाइसराय की घोषणा ने सरकार और भारतीय नेताओं के दिलों को जोड़ने के लिए जो अस्थायी कड़ी प्रस्तुत कर दी थी, वह फिर टूट गई।

विट्ठलभाई पटेल और सर तेजबहादुर सप्रू ने कांग्रेस और सरकार में समझौता कराने का एक अंतिम प्रयत्न और किया। वाइसराय ने कांग्रेसी नेताओं को २३ दिसंबर के दिन दिल्ली मिलने के लिए बुलाया। उसी दिन सवेरे दक्षिण के दौरे से लौटते हुए नई दिल्ली के निकट लार्ड इर्विन की रेलगाड़ी के पहिए के नीचे बम फटा, पर वह बाल-बाल बच गये। इस दुर्घटना से बच जाने पर गांधीजी ने वाइसराय को बधाई दी। लेकिन नेताओं और वाइसराय की भेंट का इच्छित परिणाम नहीं हुआ। वह नेताओं को यह आश्वासन नहीं दे सके कि गोलमेज परिषद् की कार्रवाई पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य को आधार मानकर होगी।

दिल्ली में वाइसराय और भारतीय नेताओं के असफल सम्मेलन के तुरंत बाद ही लाहौर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा था। दिसंबर १९२८ में कांग्रेस ने सरकार को जो एक साल की अवधि दी थी उसके भी पूरा होने का समय करीब आ गया था। कांग्रेस तो प्रस्ताव कर ही चुकी थी कि अगर सरकार ने एक साल की अवधि में औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग को मंजूर नहीं किया तो पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी जायगी। भारतीय नेता वाइसराय से ब्रिटिश नीति के लक्ष्य के बारे में गोलमोल बातें नहीं स्वशासन की ओर कदम बढ़ानेवाला कोई ठोस और स्पष्ट आश्वासन चाहते थे। लार्ड इर्विन की इस बात से कि "लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लक्ष्य के दावे पर जोर देना ज्यादा जरूरी होता है" गांधीजी और पं० मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के आगामी अधिवेशन में आम सदस्यों का समर्थन प्राप्त नहीं कर सकते थे। इस तर्क को भी लोगों के गले नहीं उतारा जा सकता था कि जो पार्लमेंट का संवैधानिक दायित्व है, उसमें

हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता; क्योंकि ब्रिटिश मंत्रि-मंडल अनेक अवसरों पर पार्लमेंट की पूर्ण अनुमति अथवा स्वीकृति के विना नीति-संबंधी ऐसी घोषणाएं कर चुका था, जिनका बाद में पार्लमेंट ने अनुमोदन कर दिया। देश की जनता का यह विचार ठीक ही प्रतीत होता था कि भारत में साम्राज्यवादी शासन-प्रणाली के बदले औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने की मजदूर-दल की सरकार में न हिम्मत थी और न तैयारी ही।

भारतीयों की उस समय की मनःस्थिति का पं० मोतीलाल नेहरू ने विट्ठलभाई पटेल के नाम लिखे अपने एक पत्र में बिलकुल यथार्थ वर्णन किया है; उन्होंने लिखा था—"सबकी आंखें लाहौर पर टिकी हैं।" लाहौर का अधिवेशन सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण लग रहा था। एक ऐसे संघर्ष के छेड़े जाने की पूरी आशा थी, जिसका नेतृत्व गांधीजी ही कर सकते थे। गांधीजी को लाहौर-कांग्रेस का सभापति बनाने की बात लगभग निश्चित ही समझी जा रही थी। लेकिन उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि अध्यक्ष के लिए आवश्यक दैनंदिन कार्यों को करने का समय उनके पास नहीं है; और जहांतक कांग्रेस की सेवा करने का प्रश्न है, उसे तो वह बिना कोई पद ग्रहण किये भी बराबर करते ही रहेंगे। उनकी प्रेरणा से कांग्रेस की महा-समिति ने पं० जवाहरलाल नेहरू को लाहौर-अधिवेशन का अध्यक्ष निर्वाचित किया; स्वयं नेहरूजी के शब्दों में—"मुख्य द्वार से, यहांतक कि बगल के दरवाजे से भी नहीं, बल्कि चोर दरवाजे से" पहुंचकर वे इस उच्च पद पर आसीन हुए थे।

पं० जवाहरलाल नेहरू का अध्यक्ष-पद पर चुनाव महात्मा गांधी का सर्वोत्कृष्ट राजनैतिक कृतित्व था। पिछले ही साल कलकत्ता-कांग्रेस में नये और पुराने नेतृत्व में जमकर लड़ाई हुई थी। नई पीढ़ी पुराने नेतृत्व की रीति-नीति में अपना संदेह और अविश्वास प्रकट कर चुकी थी। गांधीजी की कुशलता के कारण फूट किसी तरह टल गई थी। लेकिन नई आशा और उत्साह से भरे देश की प्रतिनिधि संस्था कांग्रेस नया खून और नूतन नेतृत्व चाहती थी। इसलिए गांधीजी ने कांग्रेस की बागडोर बयालीस वर्षीय जवाहरलाल नेहरू के हाथों में सौंप दी, जो समय पाकर गांधीजी के सच्चे राजनैतिक उत्तराधिकारी बने और जिनके बारे में गांधी-

जी ने उस समय कहा था—'सौ टंच का सोना...एकदम खरा और विश्वसनीय...निडर और साहसी शूरमा।"

पं० जवाहरलाल नेहरू गांधीजी से उम्र में बीस वर्ष छोटे थे, दोनों के विचारों में भी काफी अंतर था, लेकिन फिर भी दोनों का पारस्परिक स्नेह अद्‌भुत और अगाध था। १९२७ में यूरोप से लौटकर पंडितजी ने कई ऐसे काम किये थे, जो गांधीजी को पसंद नहीं आए। उन्होंने १९२८ के आरंभ में नेहरूजी को लिखा भी था—"तुम बहुत तेज चल रहे हो; सोचने और अपने-आपको हमारे यहां की हालतों के माफिक ढालने में तुम्हें थोड़ा समय लगाना चाहिए।' थोड़े दिनों बाद गांधीजी ने अपने दूसरे पत्र में यह स्वीकार किया कि 'तुममें और मुझमें विचारों का अंतर इतना अधिक और उग्र है कि हम कहीं एकराय हो ही नहीं सकते।" विचारों का यह अंतर कभी बढ़ जाता था और कभी कम हो जाता था। मिटा तो कभी नहीं, लेकिन इससे उनके पारस्परिक स्नेह और श्रद्धा में कभी बाधा नहींआई।

दिसंबर १९२९ में घटना-चक्र बहुत तेजी से चल रहा था, सरकार से संघर्ष का वातावरण निर्मित हो चुका था और जवाहरलाल नेहरू देश के सेनानायक थे।

: २७ :

सविनय अवज्ञा

पंजाब में कांग्रेस का अधिवेशन पूरे दस वर्षों के बाद हो रहा था। दिसंबर १९१९ में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। उसके एक वर्ष बाद १९२० में सत्याग्रह-आंदोलन शुरू किया गया था। ३१ दिसंबर, १९२९ को रावी के तट पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ, कांग्रेस ने अपने सदस्यों को कौंसिलों से इस्तीफा देने का आदेश दिया और महासमिति को सविनय अवज्ञा शुरू करने के अधिकार दे दिये गए।

सरकार भी सतर्क हो गई। कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन का वास्तविक महत्व वह पहले ही जान चुकी थी। लार्ड इर्विन के जीवनी-लेखक एलन

कैंपवेल जान्सन का कहना है कि वाइसराय तो इस अधिवेशन पर पाबंदी लगाने की बात भी सोच रहे थे। जनवरी के आरंभ में पंजाब सरकार ने भारत सरकार से यह सिफारिश की कि उसके कानूनी सलाहकार की राय में अध्यक्ष डा० सैफुद्दीन किचलू को उनके भाषणों के लिए गिरफ्तार कर लेना चाहिए। भारत सरकार ने पंजाब सरकार के इस सुझाव को मानने से इनकार कर दिया, क्योंकि घटनाएं एक के बाद एक बहुत तेजी से घट रही थीं।

लाहौर-अधिवेशन के बाद कांग्रेस की स्थिति और शक्ति के बारे में वाइसराय ने लंदन के उपनिवेश-मंत्री को लिखा था—"उसने देश की राजनैतिक स्थिति पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है।" उन्होंने यह भी लिखा कि यहां नये और पुराने नेतृत्व में झगड़ा होने की उम्मीद थी, लेकिन गांधीजी और मोतीलाल नेहरू ने क्रांतिकारी वामपक्ष के आगे हथियार डाल दिये इसलिए कांग्रेस में फूट नहीं पड़ी। अब कांग्रेस का नेतृत्व पूरी तरह लड़ाकू और उग्र कांतिकारियों के हाथ में आ गया; कौंसिलों के बहिष्कार के प्रश्न पर शायद अब भी फूट पड़ जाय, लेकिन सब मिलाकर कांग्रेस "ग़ैर-कानूनी और अवैधानिक उपायों से अवैध लक्ष्य" को प्राप्त करनेवाली आपत्तिजनक संस्था बन गई थी।

यह तो मानी हुई बात थी कि लाहौर-अधिवेशन के निर्णयों को गांधीजी के ही नेतृत्व में कार्यान्वित किया जाता। इस समय के उनके भाषणों और लेखों में उतनी ही स्पष्टता और सच्चाई थी जितनी दस वर्ष पहले असहयोग-आंदोलन के समय थी। उन्होंने साफ शब्दों में लिखा था कि अन्यायी सरकार को बदलने या मिटाने का जनता को अधिकार है। अगर वातावरण अहिंसात्मक रहा तो सविनय अवज्ञा आंदोलन को शुरू करने की अपनी रजामंदी भी उन्होंने जाहिर की। जन-आंदोलन के खतरों से वह परिचित थे। लेकिन चोरीचौरा का सबक भी कांग्रेस-जन भूले नहीं थे। इस बार तो गांधीजी ने यह भी साफ कह दिया था कि एक बार आंदोलन शुरू करने के बाद उसे वापस लेना आसान नहीं होगा; आंदोलन को हिंसात्मक रूप धारण करने से बचाने की पूरी कोशिश की जायगी, फिर भी, "जबतक एक भी सत्याग्रही जिंदा या जेल से बाहर रहेगा" आंदोलन बंद न होगा, चलता

रहेगा। १९२०-२२ में गांधीजी ने बड़ी तैयारियां की थीं, सारे आंदोलन को कई खंडों में विभाजित किया था और सविनय अवज्ञा शुरू करने के लिए एकदम तैयार नहीं हुए थे। इस बार उन्होंने एकदम बिगुल बजा दिया। पिछले दस वर्षों से वह जन-जागरण की दिशा में जो परिश्रम करते रहे थे वह अब काम आया। १९२२ में उन्होंने आंदोलन को जहां और जिस स्थिति में छोड़ा था, इस बार वहीं से तुरंत शुरू कर दिया। स्वयं उन्हींके शब्दों में, "१९२० का संघर्ष देश की तैयारियों के लिए था, १९३० का संघर्ष अंतिम मुठभेड़ के लिए।"

सरकार और कांग्रेस के बीच संघर्ष अनिवार्य हो गया था। जनवरी १९३० में गांधीजी ने कवीन्द्र रवीन्द्र को लिखा था कि "मैं रात-दिन आंदोलन के ही विषय में सोचता रहता हूं।" २६ जनवरी को देशव्यापी पैमाने पर 'स्वाधीनता दिवस' मनाने का आदेश देकर उन्होंने आंदोलन की दिशा में पहला कदम उठाया। उस दिन देश के नगर-नगर और गांव-गांव में लाखों लोगों ने झंडा फहराया और स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ली कि "ब्रिटिश शासन में रहना मनुष्य और भगवान दोनों के प्रति अपराध है" और कांग्रेस द्वारा शुरू किये जानेवाले सविनय अवज्ञा और करबंदी आंदोलनों में सम्मिलित होने के प्रण किये। स्वाधीनता-दिवस के समारोहों में जनता का जोश और उत्साह उभरकर ऊपर आ गया। गांधीजी को विश्वास हो गया कि देश जन-आंदोलन के लिए तैयार है। गांधीजी नमक-कानून[1] तोड़कर (नमक-सत्याग्रह के द्वारा) सविनय अवज्ञा शुरू करना चाहते थे। नमक-कर वैसे अधिक तो नहीं था, परंतु उसका सारा बोझ देश के गरीबों पर ही पड़ता था। लेकिन नमक राष्ट्र-व्यापी संघर्ष का रूप ले सकेगा या नहीं, इसमें गांधीजी के निकटतम साथियों को भी गहरा संदेह था। उन्हें नमक-सत्याग्रह का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं दिखाई देता था, क्योंकि एक तो समुद्री किनारों पर बनाये और खानों से निकाले जाने के कारण इसके उत्पादन का

---

[1] १८३६ में भारत सरकार ने एक नमक कमीशन बैठाकर भारत में अंग्रेजी नमक की बिक्री के खातिर भारतीय नमक पर कर लगाने का सुझाव दिया था। तभी से भारत में नमक-कर लगा और वसूल किया जाता रहा। अंग्रेजी नमक इंग्लैंड के चेशायर नामक स्थान से आता था। —अनुवादक

क्षेत्र सीमित था और दूसरे नमक बनानेवाले मजदूर इतने थोड़े और राजनैतिक दृष्टि से इतने पिछड़े हुए थे कि उनकी हड़ताल देशव्यापी आंदोलन का रूप नहीं धारण कर सकती थी।[1]

गांधीजी ने घोषणा की कि अपने नेतृत्व में सत्याग्रहियों का एक जत्था समुद्र-तट पर ले जाकर और नमक-कानून तोड़कर सबसे पहले वह स्वयं सविनय अवज्ञा करेंगे। उन्होंने वाइसराय को एक पत्र लिखकर अपनी पूरी योजना उन्हें बता दी। पत्र क्या, ब्रिटिश राज्य पर आरोपों का कच्चा चिट्ठा ही था और उसमें भारत को उसका हक देने का अनुरोध भी वाइसराय से किया गया था। गांधीजी ने लिखा था :

"प्रिय मित्र, सविनय अवज्ञा शुरू करने से और जिस जोखिम को उठाने के लिए मैं इतने सालों से सदा हिचकिचाता रहा हूं उसे उठाने से पहले मुझे आपतक पहुंचकर कोई रास्ता निकालने की कोशिश करने में प्रसन्नता है। अहिंसा पर मेरा व्यक्तिगत विश्वास एकदम स्पष्ट है। जान-बूझकर मैं किसी भी प्राणी को दुःख नहीं पहुंचा सकता, मनुष्यों को दुःख पहुंचाने की तो बात ही नहीं—भले ही वे मेरा और मेरे स्वजनों का कितना ही अहित कर दें। इसलिए जहां मैं ब्रिटिश राज्य को अभिशाप समझता हूं, वहां एक भी अंग्रेज-या भारत में उसके किसी भी उचित हित को हानि नहीं पहुंचाना चाहता।

"लेकिन मेरी बात का अर्थ गलत न समझा जाय। मैं ब्रिटिश शासन को भारत के लिए अभिशाप जरूर समझता हूं, लेकिन केवल इसी कारण अंग्रेज मात्र को संसार की अन्य जाति से बुरा भी नहीं मानता। सौभाग्य से बहुत-से अंग्रेज मेरे घनिष्ठ मित्र हैं। असल बात तो यह है कि अंग्रेजी राज्य की ज्यादातर बुराइयों की जानकारी मुझे स्पष्टवादी और साहसी अंग्रेजों की कलम से ही हुई है, जिन्होंने सच्चाई को उसके वास्तविक रूप में निडरतापूर्वक प्रकट किया है।

"अपने अनेक देशबंधुओं की तरह मुझे भी यह आशा थी कि प्रस्तावित गोलमेज परिषद शायद समस्या को हल कर सके... लेकिन जब आपने स्पष्ट

---

[1] कुछ इससे मिलते-जुलते सन्देह सरकारी कर्मचारियों के मन में भी थे, परन्तु कोई इस बात को न समझ सका कि गांधीजी का नमक-आंदोलन भौतिक नहीं, नैतिक था।—अनुवादक

कह दिया कि आप या ब्रिटिश मंत्रि-मंडल पूर्ण औपनिवेशक स्वराज्य की योजना का समर्थन करने का आश्वासन नहीं दे सकते तो गोलमेज परिषद् वह चीज नहीं दे सकती, जिसके लिए शिक्षित भारतवासी सचेतन रूप से और आम जनता अचेतन भाव से छटपटा रही है।

"...यदि भारतीय राष्ट्र को जीवित रहना है और यदि भारतवासियों को भूख से तड़प-तड़पकर शनैः-शनैः मिट नहीं जाना है तो कष्ट मिटाने का कोई-न-कोई उपाय तुरत ढूंढ़ना होगा। प्रस्तावित परिषद् इस संबंध में कुछ कर सकेगी, यह तो किसी तर्क से माना नहीं जा सकता। तर्क-वर्क से नहीं, बराबर की ताकत खड़ी करने से ही मामला हल हो सकेगा। ब्रिटेन अपनी पूरी ताकत लगाकर अपने व्यापार एवं हितों की रक्षा करेगा। इसलिए भारत को अगर मौत के चंगुल से छूटना है तो उतनी ही ताकत हासिल कर लेनी होगी।

"मैं जानता हूं कि अहिंसात्मक आंदोलन शुरू करने में जोखिम है। इसे ठीक ही पागलपन कहा जायगा। लेकिन सत्य की विजय बहुधा बड़ी-से-बड़ी जोखिमों को उठाये बिना नहीं हुई है। जिस राष्ट्र ने जान या अनजान में अपने से अधिक जनसंख्यावाले, अधिक प्राचीन और अपने समान सभ्य दूसरे राष्ट्र को शिकार बनाया है, उसको रास्ते पर लाने के लिए कोई भी जोखिम बड़ी नहीं।

"मैंने 'रास्ते पर लाने' के शब्दों का जान-बूझकर प्रयोग किया है। मेरी यह महत्वाकांक्षा है कि मैं अहिंसा के द्वारा ब्रिटिश जाति का हृदय पलट दूं और उसे भारत के प्रति किये गए उसके अन्याय का अनुभव करा दूं। मैं अंग्रेज-जाति को हानि नहीं पहुंचाना चाहता। मैं उनकी भी वैसी ही सेवा करना चाहता हूं जैसी अपने देशवासियों की। मेरा विश्वास है कि मैंने सदैव ऐसी सेवा की है। १९१९ तक मैं आंखें बंद करके उनकी सेवा करता रहा। अब मेरी आंखें खुलीं और मैंने असहयोग की आवाज बुलंद की। तब भी मेरा उद्देश्य उनकी सेवा ही था। जिस हथियार का उपयोग मैंने अपने प्रिय-से-प्रिय रिश्तेदार पर सफलता से किया वही मैंने सरकार के खिलाफ भी उठाया है। अगर यह सच है कि मैं भारतीयों के ही समान अंग्रेजों को भी चाहता हूं तो वह बात ज्यादा देर तक छिपी नहीं रहेगी। बरसों तक

मेरी परीक्षा लेने के बाद जिस तरह परिवारवालों ने मेरे प्रेम के दावे को स्वीकार कर लिया, उसी तरह अंग्रेज-जाति भी उसे किसी दिन स्वीकार करेगी। मेरी आशाओं के अनुकूल अगर जनता ने मेरा साथ दिया तो या तो ब्रिटिश जाति पहले ही अपना कदम पीछे हटा लेगी, या जनता ऐसे-ऐसे कष्ट सहन करेगी, जिन्हें देखकर पत्थर का दिल भी पिघल जायगा।"[1]

वाइसराय ने इस पत्र का संक्षिप्त-सा उत्तर दिया। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि "मि० गांधी जो कदम उठाने जा रहे हैं, उससे निश्चित रूप से कानून और सार्वजनिक शांति भंग होगी।"

गांधीजी अपने नेतृत्व में सत्याग्रहियों के एक जत्थे को अहमदाबाद से दांडी ले गये, जो पश्चिमी समुद्र-तट पर है। सत्याग्रहियों का चुनाव साबरमती के आश्रमवासियों में से किया गया था। इन सत्याग्रहियों का "उत्साह और मनोबल चरम सीमा पर था।"[2] साबरमती का अब वही दर्जा था, जो दक्षिण अफ्रीका में फिनिक्स-बस्ती और टाल्स्टाय-फार्म का रह चुका था। यह आश्रम स्वाधीनता-संग्राम के सैनिकों के प्रशिक्षण और राजनैतिक हलचलों का केंद्र बन गया था। यहां राजनीति और आंदोलन-संबंधी कोई बात गुप्त नहीं रखी जाती थी। रिचार्ड ग्रेग ने अंग्रेजों की मालिकी के एक अखबार के संवाददाता का किस्सा बयान किया है, जिसे 'दुश्मन की छावनी' के अंदर की कार्रवाइयों के समाचार लाने के लिए अहमदाबाद भेजा था। गांधीजी ने उसे निकाल बाहर नहीं किया, आश्रम में अतिथि की तरह रखा और वहां का राई-रत्ती हाल जानने की अनुमति दे दी।

११ मार्च की शाम को जो प्रार्थना-सभा हुई, उसमें लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी थी। गांधीजी ने उसमें कहा था, "हमारे उद्देश्य में न्याय का बल है, हमारे साधन पवित्र हैं और भगवान हमारे साथ है। सत्य पर अटल रहे तो सत्याग्रहियों की कभी हार नहीं हो सकती। कल जो संग्राम शुरू हो रहा है, मैं उसके लिए प्रार्थना करता हूं।" उस रात आश्रम में अकेले

---

१ अंग्रेजी जाति के प्रति अपने प्रेम और विश्वास को प्रकट करने के लिए गांधीजी ने यह पत्र रेजिनाल्ड रेनाल्ड नामक ने एक अंग्रेज युवक के द्वारा वाइसराय को भेजा था।—अनुवादक

२ मीराबहन : 'बापू के पत्र मीराबहन के नाम' (अंग्रेजी), पृष्ठ १०१

गांधीजी को छोड़ और कोई नहीं सोया। सब जोश-खरोश से तैयारियों में लगे रहे।

दूसरे दिन सवेरे साढ़े छः बजे २४१ मील लंबा दांडी-कूच शुरू हुआ। ७९ सत्याग्रहियों में विद्वान और पंडित, संपादक और लेखक, जुलाहे और अछूत सभी तरह के लोग थे। जत्थे के सबसे वयस्क सदस्य, उसके नेता गांधीजी, इकसठ वर्ष के थे और सबसे अल्पवयस्क सोलह बरस का एक लड़का था। इस अवसर पर अहमदाबाद में जितना बड़ा जलूस निकला, उतना पहले कभी नहीं निकला था। सारा शहर सड़कों पर उमड़ आया था और हर रास्ता तोरण और वंदनवारों से सजाया गया था। इकसठ वर्ष के बूढ़े नेता जत्थे के आगे-आगे हाथ में लंबी लकड़ी लिये जवानों से भी तेज चाल से चल रहे थे। इतना चलने के बाद भी थकावट का कोई चिह्न नहीं था। हमेशा की तरह रोज चार बजे उठते, सवेरे की प्रार्थना करते, रास्ते के गांवों में भाषण देते, चरखा चलाते, अपने अखबारों के लिए लेख लिखते और विश्वव्यापी पत्र-व्यवहार के क्रम को भी उसी तरह बनाये हुए थे। प्रस्थान के समय गांधीजी ने यह ऐतिहासिक घोषणा की थी—"यदि स्वराज्य न मिला तो या तो रास्ते में मर जाऊंगा, या आश्रम के बाहर रहूंगा। नमक-कर न उठा सका तो आश्रम लौटने का भी इरादा नहीं है।"

अपना भारतीय साम्राज्य छोड़ने को अंग्रेज ज़रा भी तैयार न थे। भारत उपमंत्री अर्ल रसल ने कांग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता की मांग पर यह टिप्पणी की थी—"भारतीय खुद भी इस बात को बहुत अच्छी तरह से जानते हैं कि पूर्ण स्वाधीनता की मांग कितनी मूर्खतापूर्ण है। अभी तो औपनिवेशिक स्वराज्य ही संभव नहीं है और काफी समय तक संभव न होगा।"

कांग्रेस के बुद्धि-जीवी वर्ग की भांति सरकार ने भी शुरू में तो इस 'बचकाना राजनैतिक क्रांति' की खिल्ली ही उड़ाई—कड़ाही में समुद्र के पानी को उबालकर ये बादशाह सलामत से मुल्क और हुकूमत छीन लेंगे! भारत-सरकार के अर्थ-विशेषज्ञों ने भी नमक-कानून के भंग को कोई खास आर्थिक महत्व नहीं दिया। केंद्रीय रेवेन्यू बोर्ड के सदस्य टाटेनहेम ने (नमक-कर की वसूली का काम माल-विभाग के ही जिम्मे ही था) नमक-सत्याग्रह को "मि० गांधी का शेखचिल्लीपन" बताया था। दो उच्च अधि-

कारियों की एक समिति ने फरवरी की शुरू तारीखों में यह प्रतिवेदन किया कि नमक-करबंदी आंदोलन के लिए कोई बहुत उपयुक्त विषय नहीं है। ज्यादा-से-ज्यादा यही हो सकता है कि बहुत-सी जगह घटिया किस्म का नमक बनाया जाय और स्थानीय लोग उसका इस्तेमाल करें। इस तरह नमक बनाने में नमक-कर से तिगुना खर्च बैठ जायगा। मतलब यह कि इस आंदोलन से न तो सरकार की आय पर और न नमक के मूल्य पर ही कोई प्रभाव पड़ेगा।

मार्च के अंतिम सप्ताह में केंद्रीय सरकार ने "पिछले अनुभवों के आधार पर" इस आंदोलन का मुकाबला करने के आदेश प्रांतीय सरकारों को दिये और यह सलाह खासतौर पर दी कि सामूहिक गिरफ्तारियां की जायं, सत्याग्रहियों के साथ जोर आजमाई न हो, केवल नेताओं को गिरफ्तार किया जाय, जिससे आंदोलन विश्रृंखलित हो सके। अगर एक साथ बहुत-से सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करना जरूरी ही हो जाय तो कम-से-कम बल-प्रयोग करना उचित होगा, क्योंकि शांत और अहिंसात्मक रहनेवालों पर बल-प्रयोग से सरकार जनता का सहयोग और सहानुभूति खो देगी। प्रांतीय सरकारों को यह हिदायत भी दी गई थी कि जेलों में भीड़-भाड़ न होने दें और बच्चों एवं महिलाओं का विशेष खयाल रखें। सरकार की हिदायतें तो बहुत अच्छी थीं, लेकिन इनपर अमल नहीं हुआ। आंदोलन की तेजी के साथ-साथ सरकार का दमन भी तीव्र होता गया। वल्लभभाई पटेल को स्थानीय अधिकारियों ने, प्रांतीय सरकार से सलाह-मशविरा किये बिना ही, ७ अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया था। अप्रैल का महीना शुरू होते ही पं० जवाहरलाल नेहरू इलाहाबाद में गिरफ्तार हो गये। गांधीजी ने दांडी पहुंचकर और नमक-कानून तोड़कर राष्ट्र को जो संदेश दिया, उसमें उन्होंने कहा था, "इस समय राष्ट्र की भारी प्रतिष्ठा सत्याग्रही के हाथ के मुट्ठी-भर नमक में आ सिमटी है। मुट्ठी भले ही टूट जाय, पर नमक को बचाना होगा—वह सरकार के हाथ में न पड़ने पाये।" कोई साठ हजार सत्याग्रही पकड़कर जेलों में बंद कर दिये गए। नमक-कानून का भंग करने के अपराध में जिनको सजाएं दी गईं, उनमें राजाजी, पं० मदनमोहन मालवीय, जे० एम० सेन गुप्त, बी० जी० खेर, के० एम० मुनशी,

देवदास गांधी, महादेव देसाई और विट्ठलभाई पटेल आदि प्रमुख नेता भी थे। संपन्न और मध्यम-वर्ग की महिलाएं शराब की दुकानों और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना दे रही थीं।

कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयां भी हुईं। उदाहरण के लिए चटगांव के शस्त्रागार पर आतंकवादियों ने हमला कर दिया। लेकिन कुल मिलाकर आंदोलन का स्वरूप अहिंसात्मक ही रहा। नमक और स्वराज्य के पारस्परिक संबंधों को ठीक से न समझ पाने के कारण जिन लोगों ने नमक-सत्याग्रह का उपहास किया था, उन्हें असल में जनता के सुसंगठित और व्यवस्थित आंदोलन को चलाने की गांधीजी की सामर्थ्य का सही ज्ञान नहीं था। अंत में सरकार ने वही किया जिसे वह करना चाहती थी, परंतु करते हुए डरती भी थी। उसने गांधीजी को गिरफ्तार करने का फैसला कर ही लिया।

१८२७ का पुराना-धुराना बम्बई रेगूलेशन रद्दी की टोकरी में से खोज निकाला गया और उसके अंतर्गत ५ मई, १९३० को, दांडी के पास के एक गांव कराडी में, गांधीजी को गिरफ्तार कर बिना मुकदमा चलाये जेल में बंद कर दिया गया। दांडी के बाद 'अहिंसात्मक क्रांति' का उनका दूसरा और पहले से कुछ अधिक उग्र मोर्चा धारासना के सरकारी नमक-डिपो पर कब्जा करने का था। लेकिन उसपर 'हमला' करने से पहले ही वह गिरफ्तार कर लिये गए। तब २१ मई को साबरमती-आश्रम के वयोवृद्ध इमाम साहब के नेतृत्व में धारासना पर सत्याग्रह हुआ। नेता गिरफ्तार कर लिये गए और स्वयंसेवकों पर लाठी चार्ज किया गया। अमरीकी संवाददाता वेब मिलर ने 'न्यू फ्रीमैन' पत्र में उस नृशंस लाठी-चार्ज का आंखोंदेखा वर्णन इस तरह किया है—"अठारह वर्षों से मैं दुनिया के बाईस देशों में संवाददाता का कार्य कर रहा हूं, लेकिन जैसा दहलानेवाला दृश्य मैंने धारासना में देखा वैसा और कहीं देखने को नहीं मिला। कुछ दृश्य तो इतने लोमहर्षक और दर्दनाक थे कि मुझसे देखे तक न गये। स्वयंसेवकों का अनुशासन कमाल का था। गांधीजी की अहिंसा को उन्होंने अपने रोम-रोम में बसा लिया था।"

इस बीच कांग्रेस की महासमिति ने सविनय अवज्ञा के क्षेत्र को थोड़ा और विस्तारित कर दिया। नमक-सत्याग्रह के साथ-साथ उसमें जंगल

सत्याग्रह, रैयतबाड़ी इलाकों में लगानबंदी एवं विदेशी कपड़ों, बैंकों, जहाजी और बीमा कंपनियों के बहिष्कार को भी समाविष्ट कर लिया गया। वाइसराय ने कई 'आर्डिनेन्स' निकालकर अधिकारियों को दमन का खुला परवाना दे दिया, जिसका एकमात्र उद्देश्य कांग्रेस को कुचलना या सरकारी भाषा में कहें तो 'आपत्कालीन स्थिति का सामना' करना था।

गांधीजी की गिरफ्तारी से आंदोलन धीमा नहीं पड़ा, उल्टे उसमें और तेजी आ गई। सरकारी प्रचार में जरूर झुठलाया जाता रहा, लेकिन कांग्रेस का जनता पर जो प्रभाव था, उससे भारत सरकार इनकार न कर सकी। ब्रेल्सफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'रिबेल इंडिया' (विद्रोही भारत) में, देश के विभिन्न भागों की और विशेषकर बंबई की जनता पर कांग्रेस का जो असर था उसके कई प्रमाण दिये हैं। सरकारी दस्तावेजों में भी इसके कई प्रमाण मिलते हैं। गुप्तचर विभाग के निदेशक ने अगस्त १९३० में अपनी बंबई-यात्रा के संबंध में तत्कालीन गृह सदस्य (होम मेंबर) को लिखा कि "कांग्रेस को नगर का पूरा समर्थन प्राप्त है। इसके स्वयंसेवकों और धरना देनेवालों को नगर की जनता मुफ्त खाना खिलाती है। सारे व्यवसाय और व्यापारी इसके 'शिकंजे' में हैं। अपनी तबाही की परवा किये बिना बहुत-से व्यापारी आंदोलन के साथ हैं और बराबर साथ देते रहेंगे। संक्षेप में यह कि नगर पूरी तरह कांग्रेस के कब्जे में है और वह जो चाहे कर सकती है।"

: २८ :

समझौता

पूना की यरवदा-जेल में, जिसे वह यरवदा-मंदिर कहते थे, गांधीजी एक तरह से आराम ही करते रहे। आश्रम के अपने भजन-प्रार्थना, चर्खा और स्वाध्याय के कार्यक्रम का वह यहां भी उसी तत्परता से पालन करते थे। देश की राजनैतिक स्थिति और अपने शुरू किये हुए सविनय अवज्ञा

आंदोलन की चिंता उन्होंने जेल में आते ही छोड़ दी थी। उन्होंने अपने जिम्मे का काम कर दिया था, अब जनता को अपनी जिम्मेदारी निभानी थी।

गांधीजी की गिरफ्तारी के एक सप्ताह बाद लार्ड इर्विन ने अपने और ब्रिटेन के प्रधान मंत्री के बीच हुए पत्र-व्यवहार को प्रकाशित कर दिया। उस पत्र-व्यवहार का आशय यह था कि सविनय अवज्ञा के बावजूद बादशाह सलामत की सरकार संवैधानिक सुधारों की अपनी नीति पर और लंदन में गोलमेज परिषद का अधिवेशन करने के अपने निर्णय पर दृढ़ है। वाइसराय ने आंदोलन को सख्ती से दबाने के आदेश दे दिये थे और जितनी सख्ती इस बार की जा रही थी उसने दमन के सारे पुराने रेकार्डों को तोड़ दिया था। लेकिन वास्तव में तो वाइसराय को इतनी सख्ती पसंद नहीं थी। उन्होंने विट्ठलभाई पटेल को एक पत्र में लिखा था—"आप तो मेरी इस उत्कट अभिलाषा से परिचित ही हैं कि भारत में फिर से शांति और सद्भावना का वातावरण पैदा हो सके।" इसलिए जब 'डेली हेराल्ड' के संवाददाता जार्ज स्लोकोंब और दोनों माडरेट नेता सप्रू और जयकर ने समझौते के प्रयत्न शुरू किये तो वाइसराय ने उन्हें बढ़ावा ही दिया।

सरकारी दमन के कारण उस समय भारत की जो स्थिति थी उसने जार्ज स्लोकोंब को इतनी पीड़ा पहुंचाई कि वह समझौते के प्रयत्नों में लग गये। सबसे पहले उन्होंने पं० मोतीलाल नेहरू से भेंट की तो उनकी बातचीत से ऐसा आभास मिला कि कुछ शर्तों पर कांग्रेस सविनय अवज्ञा को वापस लेने पर राजी हो सकती है। लेकिन मोतीलालजी शीघ्र ही गिरफ्तार[1] कर लिये गए और उन्हें नैनी-जेल में पं० जवाहरलाल नेहरू के पास भेज दिया गया, तब सप्रू और जयकर ने जेल में नेहरू पिता-पुत्र से समझौते की संभावना

---

१ पं० मोतीलाल नेहरू ३० जून, १९३० को गिरफ्तार किये गए। महासमिति उसके पहले गैर-कानूनी कर दी गई। दमन के ये हाल थे कि १ अप्रैल से ३१ मई, १९३० के बीच १८ शहरों में २१ बार गोलाबारी हुई, जिनमें १०३ मारे गए, ४२० घायल हुए और १० घायल बाद में मर गये। लाठी-चार्ज, सभाओं पर हमले छापे, तलाशियां, अखबार, और प्रेसों पर ताले, गिरफ्तारियां आदि की तो कोई शुमार ही नहीं थी। —अनुवादक

पर चर्चा करने के लिए भेंट की। गांधीजी से सलाह किये बिना पिता-पुत्र दोनों ने अपनी ओर से कुछ कहने में असमर्थता प्रकट कर दी तो उन्हें एक स्पैशल ट्रेन के द्वारा पूना ले जाया गया। वहां चर्चा के बाद यह नतीजा निकला कि कांग्रेस और सरकार के बीच समझौते का कोई समान आधार है ही नहीं।

समझौते के प्रयत्नों पर कांग्रेस की जो प्रतिक्रिया हुई. उससे यह बात सामने आ गई कि कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच की खाई कितनी चौड़ी हो गई थी। इंगलैंड में विंस्टन चर्चिल ने भारत को "वकीलों, राजनीतिज्ञों, हठधर्मियों और लोभी व्यापारियों के अल्पतंत्र" के हवाले किये जाने के खिलाफ एक जिहाद ही शुरू कर दिया था। उनका कहना था कि "हमारा इरादा काफी लंबे और अनिश्चित काल तक भारत पर हुकूमत करने का है और वहां के लोगों को यह बात साफ तौर पर मालूम हो जानी चाहिए कि हम राज्यभक्तों के सहयोग का स्वागत करते हैं, परन्तु अराजकता और राजद्रोह को कतई बर्दाश्त नहीं किया जायगा।" रैम्ज़े मैक्डोनल्ड की मजदूर सरकार लिबरलों के समर्थन पर ही टिकी हुई थी। अगर वह तैयार भी हो जाती तो लिबरलों के बहुमत के कारण भारत के बारे में कोई क्रांतिकारी कदम नहीं उठा सकती थी। भारत में लार्ड इर्विन के सलाहकारी मंडल को पूरा विश्वास था कि गांधी के विद्रोह को कुचल दिया जायगा और माडरेटों एवं मुस्लिमों की सहायता से शासन बदस्तूर चलता रहेगा। वाइसराय की कार्यकारिणी कौंसिल के अधिकांश सदस्य और सरकारी अमले के सभी उच्च अधिकारी दमन-चक्र को और भी तेज करने के पक्ष में थे।

साथ ही संवैधानिक सुधारों का कारवाँ भी चलता रहा। गर्मियों में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। बहुत विस्तार से उसमें भारत की वैधानिक समस्या का सर्वेक्षण किया गया था और एक-एक करके छोटी-बड़ी उन सारी कठिनाइयों को गिना दिया गया, जो कमीशन की राय में संवैधानिक सुधारों के मार्ग की बाधाएं थीं। यह रिपोर्ट इतनी निराशाजनक थी कि समान्यतः सरकार के समर्थक और उत्साही नरमदली नेता भी इसका स्वागत न कर सके। जले पर नमक छिड़कने के लिए १९३० (११ नवंबर)

में लंदन में पहली गोलमेज परिषद्[1] शुरू हुई। इसमें कांग्रेस का एक भी प्रतिनिधि नहीं था। कुछ भारतीय प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के प्रति समझौते का रुख अपनाने का अनुरोध किया। वे देश को बवंडर की हालत में छोड़-कर गये थे और परिषद् से कुछ व्यवहार्य परिणामों को लेकर लौटना चाहते थे। रेम्ज़े मेक्डोनल्ड ने १६ जनवरी, १६३१ को अपने विदाई-भाषण में यह आशा प्रकट की कि कांग्रेस दूसरी गोलमेज परिषद् में तो अवश्य भाग लेगी। इसके कुछ ही दिन पहले लार्ड इर्विन ने केंद्रीय विधि-परिषद् में भाषण करते हुए कहा था कि "अध्यात्म के पुजारी गांधीजी को अपने प्रिय भारत के लिए किसी भी बलिदान को बड़ा नहीं समझना चाहिए।" लार्ड इर्विन ने इलाहाबाद में कांग्रेसी नेताओं की जो बैठक हो रही थी उसे रोकने की कोशिश नहीं की। उन्होंने गांधीजी और कांग्रेस की कार्यसमिति के सदस्यों को स्वाधीनता-दिवस के ठीक एक दिन पहले २५ जनवरी, १६३१ को रिहा कर दिया। नेताओं को रिहा करते समय उन्होंने जो वक्तव्य दिया, उससे भी समझौते का संकेत मिलता था।

लेकिन कार्यसमिति के सदस्यों की बिना शर्त रिहाई से ही सरकार और कांग्रेस के बीच की खाई पट नहीं गई। कार्यसमिति के सदस्यों की बैठक, रिहाई के बाद, इलाहाबाद में हुई, जहां पं० मोतीलाल नेहरू मृत्यु-शैया पर पड़े थे। कांग्रेस अब भी सविनय अवज्ञा को बंद करने के पक्ष में नहीं थी; लेकिन सप्रू और जयकर से, जो पहली गोलमेज परिषद में भाग लेकर देश लौट रहे थे और कांग्रेसी नेताओं को परिषद की कार्रवाई से अवगत कराना चाहते थे, एक तार पाकर कार्यसमिति ने अपने इस निर्णय की सार्वजनिक घोषणा नहीं की। परिषद के निर्णयों से गांधीजी को ज़रा भी संतोष नहीं हुआ और न उन्हें सरकार से समझौते की कोई संभावना ही दिखाई दी। लेकिन फिर भी उन्होंने लार्ड इर्विन को पत्र लिखकर मुलाकात का समय मांगा। गांधीजी का कहना था कि वाइसराय ने कार्यसमिति के सदस्यों को छोड़कर सदभावना का परिचय दिया है तो एक सत्याग्रही के नाते जाकर उन्हें धन्यवाद देना उनका भी कर्तव्य हो जाता है।

---

[1] ८६ प्रतिनिधियों में १६ रियासतों से गये थे, ५७ ब्रिटिश भारत और १३ इंग्लैंड के भिन्न-भिन्न दलों के मुखिया थे।—अनुवादक

१७ फरवरी, १९३१ को तीसरे पहर से गांधी-इर्विन वार्ता शुरू हुई। कुल आठ बैठकें हुईं, जिनमें चौबीस घंटे का समय लगा। इस बीच समझौते का पलड़ा आशा और निराशा के बीच झूलता रहा। अंत में ४ मार्च को समझौता हो ही गया। दिल्ली का वह समझौता इतिहास में गांधी-इर्विन-समझौते (पैक्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। समझौते का मुख्य आधार यह था कि कांग्रेस सविनय अवज्ञा बंद कर देगी और सरकार तमाम दमनकारी आर्डिनेंसों को वापस लेकर सभी सत्याग्रही बंदियों को रिहा कर देगी। इस समझौते में आतंकवादी और हिंसात्मक कार्रवाइयों के लिए नज़र-बंद या सजा भुगत रहे बंदियों की रिहाई का कोई उल्लेख नहीं था और न गढ़वाली सैनिकों की रिहाई का ही, जिन्होंने पेशावर में निहत्थे सत्याग्रहियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था। आंदोलन के सिलसिले में नीलाम की गई जमीनों को उनके वास्तविक स्वामियों को लौटाने और नौकरी से बर्खास्त किये गए कर्मचारियों को पुनः नौकरी पर बहाल करने की बात भी इस समझौते में नहीं थी। समुद्र-तट पर रहनेवाले गरीब लोगों को नमक बनाने की रियायत अवश्य दी गई थी और विदेशी कपड़ों पर धरना देने के अधिकार को भी मान लिया गया था। पुलिस ज्यादतियों की जांच के लिए सरकार किसी भी तरह राजी न हुई, दोनों पक्ष इस मुद्दे पर अड़ गए थे और लगता था कि समझौता-वार्ता भंग ही हो जायगी। लेकिन वाइसराय ने बड़ी चतुराई से काम लिया। उन्होंने गांधीजी से कहा कि जांच की मांग करने का आपको पूरा अधिकार है, लेकिन अब गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ होगा? केवल आपसी कटुता ही बढ़ेगी। तो फिर गांधीजी ने इस बात पर ज्यादा जोर नहीं दिया।

विधान-संबंधी विषयों में "भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्पसंख्यकों का प्रश्न और वित्त आदि मामलों में प्रतिबंध या संरक्षण" को स्वीकार कर लिया गया था। समझौते की इस धारा से पं० जवाहरलाल नेहरू को 'भारी आघात' पहुंचा था और यह धारा कांग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा के प्रतिकूल भी थी। समझौते में औपनिवेशिक स्वराज्य का भी कोई आश्वासन नहीं था। १९३० के अगस्त महीने में सप्रू और जयकर के समझौता-प्रयत्नों के समय कांग्रेस ने जो शर्तें

रखी थीं, गांधी-इर्विन-समझौते में उनसे भी बहुत कम को स्वीकार किया गया था।

एलन कैंपबेल जान्सन ने ठीक ही लिखा है कि दिल्ली-समझौते ने सिर्फ गांधीजी के आंसू पोंछ दिये और इर्विन केवल इतना ही झुके कि समझौता-वार्ता के लिए राजी हो गये। भारतीय नेताओं में लार्ड इर्विन का सम्मान घटता-बढ़ता रहा। गांधी-इर्विन-समझौते के समय उनका सम्मान बहुत बढ़ गया था; लेकिन एक ही साल बाद जब समझौता पूरी तरह भंग हो गया, कांग्रेस विरोध करने लगी और जब वह गैर-कानूनी कर दी गई तो उनका सम्मान भी बहुत घट गया। आम कांग्रेस-जनों की यह राय थी कि लार्ड-इर्विन ने गांधीजी को वाइसराय-भवन की भूल-भुलैया में फंसा लिया और समझौते को उन्होंने वाइसराय की निरी कपट-चाल बताया। जुलाई, १९३२ में जब गांधीजी को जेल में एक सत्याग्रही बंदी ने लार्ड इर्विन के बारे में बी० जी० हार्नीमन की यह राय पढ़कर सुनाई कि वह "कथनी-करनी के अपने अंतर और दोरुखी नीति को सद्भावनाओं के पाखंड एवं ईमानदारी के आडंबर में लपेटे रहनेवाले चुस्त मौकापरस्त" थे तो गांधीजी ने कहा था कि इस वर्णन में वाइसराय के साथ न्याय नहीं किया गया। वह ब्रिटिश साम्राज्य के भक्त थे, परंतु भारत के शुभचिंतक भी थे। लार्ड इर्विन की ईमानदारी में गांधीजी का यह विश्वास ही था, जिसके कारण समझौता-वार्ता में वह वाइसराय की बहुत-सी बातों को मानने के लिए राजी हो गये थे। वह लार्ड इर्विन को अपने ही जैसा धर्मात्मा समझते थे। जब समझौता-चर्चा चल रही थी तो श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गांधीजी और वाइसराय के लिए मज़ाक में 'दो महात्मा' शब्दों का प्रयोग किया था, जो एक तरह से ठीक ही था, क्योंकि दोनों ही धार्मिक प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति थे।

जहांतक गांधीजी का प्रश्न है, वह तो इस समझौते को कांग्रेस और सरकार के पारस्परिक संबंधों में एक नये अध्याय का आरंभ ही मानते थे। इसी भावना से प्रेरित उन्होंने दिल्ली में ६ मार्च, १९३१ को अपने मेजबान डॉ० अंसारी के घर से वाइसराय के निजी सचिव को लिखा था—"कार्य-समिति के द्वारा कांग्रेस के लिए निर्धारित शर्तों का शत-प्रतिशत पालन उसके लिए गौरव की बात होगी, इसलिए हमारी कोई भी अनियमितता

आपके ध्यान में आये तो तार के द्वारा मेरा ध्यान आकर्षित कर समझौते का पालन करने में मेरी सहायता करें। मेरी तो परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि समझौते के निमित्त आरंभ होनेवाली यह मैत्री चिरस्थायी हो।"

यह भी कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है कि सरकार के किसी निश्चित आश्वासन के बिना ही (जबकि दिसंबर १९२९ में उन्होंने और पं०मोतीलाल नेहरू ने उसपर इतना अधिक जोर दिया) गांधीजी ने जिन कारणों से दिल्ली-समझौते को स्वीकार किया था, उन्हें समझौते की विभिन्न धाराओं में खोजना उचित न होगा। सत्याग्रह की नीति के प्रकाश में ही उन कारणों को ठीक से समझा जा सकता है। इस संबंध में गांधीजी की मनःस्थिति का परिचय कराची-कांग्रेस में दिये गए उनके भाषण से चलता है:

"मैं अकसर सोचा करता हूं कि जब हमारी मांग और परिषद् में हमें जो-कुछ दिया जा रहा है उसमें इतना अधिक अंतर है, तो हमारे गोलमेज परिषद् में जाने से क्या लाभ होगा। लेकिन फिर भी एक सत्याग्रही के नाते मैंने उसमें जाने का फैसला किया। एक वक्त आता है जब सत्याग्रही अपने विरोधी से समझौते की चर्चा करने से इनकार नहीं कर सकता। उसका उद्देश्य तो अपने विरोधी को प्रेम से जीतना है। हमारे लिए ऐसा वक्त उस समय आ गया जब प्रधान मंत्री की घोषणा के बाद कांग्रेस की कार्यसमिति को रिहा कर दिया गया। वाइसराय ने भी हमसे अनुरोध किया कि हम लड़ाई का रास्ता छोड़कर उन्हें बतायें कि हम क्या चाहते हैं।"

इस सुझाव पर कि जब कांग्रेस अभी एक साल और सरकार से लड़ सकती है तो समझौते की क्या जरूरत है, गांधीजी ने जवाब दिया था—"यों तो हममें बीस बरस तक लड़ने की ताकत हो सकती है और एक सच्चा सत्याग्रही तो, चाहे और सब हथियार डाल दें, अकेला ही अंत तक लड़ता रहता है; लेकिन हमने समझौता इसलिए नहीं किया कि हम कमजोर हो गये थे, बल्कि इसलिए किया कि वह जरूरी हो गया था। लड़ने की ताकत है, इसलिए लड़ते रहनेवाला सत्याग्रही नहीं, अहंकारी और भगवान का गुनहगार होता है।"[१]

१ तेंदुलकर 'महात्मा', जिल्द ३, पृष्ठ १०९

गांधीजी के कार्य और आचरण के ऐसे विरोधाभासों को सत्याग्रह की उनकी नीति के माध्यम से ही समझना होगा। सत्याग्रह-आंदोलन के लिए सामान्यतः 'संघर्ष', 'विद्रोह' और 'अहिंसात्मक युद्ध' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, लेकिन इन प्रचलित शब्दों की सहायता से उसकी सही व्याख्या नहीं हो पाती। ये शब्द उस आंदोलन के नकारात्मक पक्ष—विरोध और द्वंद्व के भाव को आवश्यकता से अधिक उभार देते हैं, जबकि सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी का नैतिक अथवा शारीरिक विनाश नहीं, उसके हाथों कष्ट-सहन करके उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का प्रवर्तन करना है, जो उभय पक्ष के मन-प्राणों का सम्मिलन सभव कर दें। इसलिए ऐसी लड़ाई में विरोधी से समझौता न तो अधर्म है और अपनों से विश्वासघात ही, उलटे वह एक स्वाभाविक और आवश्यक कदम है, जिसे उपयुक्त समय पर ही उठाना होता है और अगर बाद में यह पता चले कि समझौता उपयुक्त समय से पहले हुआ एवं विरोधी पक्ष को अपने कृत्य पर कोई पश्चात्ताप नहीं तो सत्याग्रही के सामने अहिंसात्मक संघर्ष पुनः प्रारंभ करने का मार्ग खुला ही हुआ है। यह सच है कि देश की राष्ट्रीय भावना को इच्छानुसार उभारा नहीं जा सकता, लेकिन गांधीजी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए देशव्यापी उत्साह की चलायमान लहर पर जरा भी निर्भर नहीं करते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब देश स्वाधीनता के योग्य हो जायगा तो कोई भी शक्ति उसे पराधीन नहीं रख सकेगी।

मार्च १९३१ में कांग्रेस के कराची-अधिवेशन ने गांधी-र्इविन-समझौते पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हुए उसकी जो व्याख्या की वह समझौते की धाराओं की अपेक्षा कांग्रेस के उद्देश्यों के अधिक निकट और मेल खानेवाली थी।

अप्रैल में गांधीजी बंबई में ही थे और वहीं से उन्होंने लार्ड इर्विन को (१९ अप्रैल को) विदाई दी। नये वाइसराय लार्ड विलिंगडन बंबई पहुंच चुके थे, लेकिन उन्होंने गांधीजी को मिलने के लिए नहीं बुलाया और प्रांतीय राजधानियां दिल्ली के घुटे हुए खुर्राट नौकरशाहों को इससे बड़ी खुशी हुई। गांधी-इर्विन-समझौते को उन्हें कड़वी घूट की तरह निगलना पड़ा था। अब उनके मन का वाइसराय आया था। अभी समझौते की स्याही भी

नहीं सूखने पाई थी कि रगड़-झगड़ शुरू भी हो गई। गांधीजी को ९ जुलाई, १९३१ के 'यंग इंडिया' में 'चकनाचूर ?' शीर्षक से एक अग्रलेख लिखकर सरकार द्वारा समझौता-भंग की घटनाओं पर उदाहरणसहित प्रकाश डालने को वाध्य होना पड़ा। सरकार ने भी कांग्रेस पर समझौते की मन्शा के प्रतिकूल आचरण करने का आरोप लगाया। इस तरह दोनों ही पक्ष एक-दूसरे पर समझौते को भंग करने का आरोप लगाते रहे।

फिर चर्चाओं का दौर शुरू हुआ और और काफी आरोपों-प्रत्यारोपों के वाद किसी तरह समझौता हो सका। यह तय पाया गया कि कांग्रेस गोल-मेज परिषद् में भाग लेगी और उसके एकमात्र प्रतिनिधि गांधीजी होंगे। गांधीजी एक स्पेशल ट्रेन द्वारा शिमला से कालका उस गाड़ी को पकड़ने के लिए आये, जो उन्हें २९ अगस्त को रवाना होनेवाले राजपूताना नामक जहाज पर सवार करा सके। उन्हें समय पर पहुंचाने के लिए रास्ते में और सब गाड़ियां रोक दी गई थीं।[1]

---

[1] यह उल्लेखनीय है कि ५ मार्च, १९३१ को गांधी-इर्विन-समझौते पर हस्ताक्षर हुए और २३ मार्च, १९३१ को सायंकाल ७॥ बजे अमरशहीद भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरू को जेल में फांसी दे दी गई। उनके शवों को सरकार ने अन्त्येष्टि के लिए भी नहीं दिया। गांधीजी ने उनकी फांसी की सजा को आजीवन करावास में बदलवाने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन लार्ड इर्विन टस-से-मस न हुए और लार्ड विलिंगडन तो मानने ही क्यों लगे थे! इन फांसियों की देश-भर में गहरी प्रतिक्रिया हुई। हड़तालों और नवयुवकों की बेचैनी को दबाने के लिए सरकार को कई शहरों में सेनाएं घुमानी पड़ीं। २४ मार्च को कानपुर की हड़ताल ने सांप्रदायिक रूप धारण कर लिया, जिसमें गणेशशंकर 'विद्यार्थी' कुर्बान हो गए। यह भी उल्लेखनीय है कि कराची कांग्रेस में मौलिक अधिकारों संबंधी प्रस्ताव पहले-पहल स्वीकार किया गया। उस प्रस्ताव में समाजवाद के सिद्धांतों की झलक पाई जाती है और कह सकते हैं कि महात्माजी के गांधीवाद का नेहरूजी के समाजवाद से समझौता उसी अधिवेशन में प्रारंभ हुआ था।

: २९ :

गोलमेज परिषद्

महादेव देसाई ने लिखा है कि "राजपूताना जहाज के सबसे अच्छे यात्री का चुनाव किया जाता तो शायद गांधीजी ही सर्वप्रथम आते।" जहाज के सबसे निचले, यानी तीसरे दर्जे में यात्रा कर रहे थे। वह सारी रात और दिन का अधिकांश समय डेक पर ही बिताते थे। सोने-जागने एवं प्रार्थना, कताई और स्वाध्याय के आश्रम-जीवन के अपने क्रम को उन्होंने यहां भी खंडित नहीं होने दिया था। स्वदेश लौटनेवाले अंग्रेज-परिवारों के बच्चे उनसे बहुत हिल गये थे—वे बड़े कुतूहल से उनका चरखा चलाना देखा करते, सुबह-शाम केबिन में घुसते तो अंगूर और खजूर की प्रसादी पाकर निहाल हो जाते थे। अदन के प्रवासी भारतीयों ने उन्हें एक मानपत्र[1] भेंट किया। मिस्र के जगलूलपाशा की पत्नी और वहां की वफ्द पार्टी ने भी उन्हें अपनी शुभ कामनाएं भेजीं।[2] मार्सेलीज़ में महान फ्रांसिसी साहित्यकार रोमां रोलां की बहन मदलेन रोलां उनका स्वागत करने और मिलने आईं। फ्रांसीसी विद्यार्थियों ने भी 'भारत के आध्यात्मिक राजदूत' की पदवी से विभूषित कर बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया।

१२ सितंबर, १९३१ को गांधीजी लंदन पहुंचे। कुमारी म्यूरियल लीस्टर के निमंत्रण को स्वीकार कर वह लन्दन की मजदूर बस्ती ईस्ट एंड के किंग्सले हॉल में ठहरे, जिससे उन गरीबों की संगति में रह सकें, जिनकी सेवा के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया था, जब कुछ मित्रों ने आपत्ति की कि ईस्ट एंड में रहने से परिषद् के दूसरे प्रतिनिधियों, साथियों और सहयोगियों को असुविधा होगी, तो ८८, नाइट्स ब्रिज में अपना एक कार्यालय खोलने को गांधीजी राजी हो गये। लेकिन रोज रात में सोने के लिए

---

[1] ३२८ गिनी की एक थैला भी भेंट की थी।

[2]. मिस्री शिष्टमंडल पोर्ट सईद पर मिलने के लिए आया था, पर उसे इजाज़त नहीं दी गई। काहिरा में नहस पाशा के एक प्रतिनिधि को बड़ी मुश्किलों के बाद भेंट की इजाज़त मिली। मिस्र के प्रवासी भारतीयों का भी एक शिष्टमंडल गांधीजी से काहिरा में मिला था।—अनुवादक

लौट आया करते थे। कभी-कभी तो परिषद् की बैठकों और समितियों में इतनी देर हो जाती कि आधी रात के बाद लौट पाते थे। लेकिन सोने में भले ही देर हो जाय, प्रार्थना के लिए सवेरे ठीक चार बजे जरूर उठ जाते थे। प्रातःभ्रमण वह ईस्ट एंड की संकरी गलियों में करते। अक्सर अपने पड़ोसियों से मिलने उनके घर भी चले जाते और उस इलाके के बच्चे तो सब उनके दोस्त बन गये थे। गांधीजी का कहना था कि "परिषद् का असली काम तो यही है, जो मैं कह रहा हूं—इंग्लैंड की जनता से मिलना और उसे जानना।"

गोलमेज परिषद् में कांग्रेस की ओर से गांधीजी ही एकमात्र प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश समाचार-पत्रों और राजनीतिज्ञों का कहना था कि गांधीजी महान व्यक्ति हो सकते हैं, लेकिन भारत के एकमात्र प्रतिनिधि नहीं हैं और न कांग्रेस ही भारत की एकमात्र संस्था, क्योंकि उस परिषद् में भारत की ओर से अनेक दल और सस्थाएं एवं कई प्रतिनिधि भाग ले रहे थे। वे सब सरकार द्वारा मनोनीत थे। उनमें से कुछ तो बहुत ही कामिल आदमी थे। अधिकांश राजे-रजवाड़ों, ठाकुरों-जमींदारों, पदवीधारियों, साम्प्रदायिक दलों के नेताओं और निहित स्वार्थवालों में से छांट-छांटकर ऐसे आदमियों को रखा गया था, जिन्हें राजनैतिक शतरंज में मुहरों की तरह इस्तेमाल किया जा सके, जो सरकार की जी-हुजूरी करें एवं नौकरियों और कौंसिलों में स्थान पाने के लिए अपने सही-गलत दावों पर अड़ जायं।

वास्तव में ब्रिटिश सरकार चाहती भी यही थी। वह समस्या के सही रूप से प्रतिनिधियों का ध्यान बंटाकर उन्हें छोटी-छोटी बातों में उलझा देना चाहती थी। कुछ तो अपनी हां-में-हां मिलानेवाले प्रतिनिधियों के बहुमत और कुछ परिषद पर अपने पूरे नियंत्रण के कारण ब्रिटिश सरकार इसमें पूर्णतः सफल भी हुई। घुमा-फिराकर सारी बहस सांप्रदायिक सवाल पर केन्द्रित कर दी जाती थी। गांधीजी सरकार की इस चाल को तुरन्त समझ गये। उन्होंने असंदिग्ध भाषा में यह कहते हुए स्थिति को बिल्कुल साफ कर दिया कि विभिन्न जातियों को अपने सारे जोर के साथ अपनी-अपनी मांग पर (सांप्रदायिक प्रश्न पर) जोर देने के लिए उत्साहित किया गया है और एक तरह से यह शर्त लगा दी गई है कि संवैधानिक प्रगति से

पहले सांप्रदायिक समस्या हल हो ही जानी चाहिए। उन्होंने पूछा कि "क्या प्रतिनिधियों को अपने घरों से छः हजार मील केवल सांप्रदायिक प्रश्न को हल करने के ही लिए बुलाया गया है ? हमें लंदन इसलिए बुलाया गया है कि भारत की स्वतंत्रता का सच्चा और सम्मानजनक ढांचा तैयार कर सकें। लेकिन यहां तो समस्या को बिलकुल उलटे रूप में पेश किया जा रहा है। रोटी कितनी बड़ी है, यह बताये बिना ही उसके टुकड़े करने को हमें कहा जा रहा है। जो हमें मिलनेवाला है वह साफ-साफ बता दीजिये तो उसीके आधार पर मैं परिषद के प्रतिनिधियों की एक राय बनाने की कोशिश करूं। कम-से-कम मैं उन्हें यह तो कह सकूं कि आप एक कीमती चीज के टुकड़े-टुकड़े किये दे रहे हैं।"

गांधीजी इंग्लैंड और भारत के बीच सम्मानजनक और बराबरी की भागीदारी चाहते थे, जो ताकत के जोर पर टिकी हुई न हो, बल्कि प्रेम की रेशमी डोर में बंधी हो। उन्होंने कहा कि कांग्रेस ने फेडरेशन (संघ) के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है और इस सिद्धांत को भी कि 'संरक्षण' होना चाहिए; लेकिन संरक्षण का सिद्धांत इस तरह लागू किया जाय, जो भारत के हित में हो, इस तरह नहीं कि स्वराज्य एक मज़ाक ही बनकर रह जाय। जितने संरक्षण सुझाये गए थे, यदि उन सबको नये विधान में शामिल कर दिया जाता तो गांधीजी का कहना था कि भारत को मिलने-वाला उत्तरदायी शासन "जेल की कोठरियों में बंद कैदियों का उत्तरदायी शासन हो जाता। जेल की कोठरी का बाहर से ताला लग जाने के बाद अंदर के क़ैदियों को भी तो पूरी आज़ादी होती है।" उन्होंने यह स्वीकार किया कि अंग्रेज-जाति शासन, व्यवस्था और संगठन की कला में ज्यादा पटु है, परंतु भारतीय अपने देश को ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं। यूरोप के व्यावसायिक हितों को विशेष सुविधाएं देने का उन्होंने विरोध किया, लेकिन साथ ही यह आश्वासन भी दिया कि स्वतन्त्र भारत में उनके साथ किसी तरह का भेद-भाव नहीं किया जायगा। उन्होंने वयस्क मताधिकार, एक सदनवाली विधि-परिषद् और परोक्ष निर्वाचन का पक्षपोषण किया। उनका तो यहांतक खयाल था कि भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भी संभवतः कुछ समय तक ब्रिटिश फौजों को वहां रखना पड़े, क्योंकि

भारतीयों को सुरक्षा के रहस्य अंग्रजों से ही सीखने होंगे। 'हमारे पंख आप लोगों ने काट दिये हैं, इसलिए हमें उड़ने के लिए पंख देना भी आपका ही कर्त्तव्य हो जाता है।"

लेकिन गांधीजी की कोई भी दलील वहां काम नहीं आई। उस समय इंग्लैंड आर्थिक संकट के दौर से गुज़र रहा था और वहां की सरकार में भी हाल ही में परिवर्तन हुआ था। नई सरकार में कंजरवेटिव दल का बहुमत था। इंग्लैंड की जनता अपनी ही समस्याओं में उलझी हुई थी। उनके लिए अपने अर्थिक संकट का मसला भारत के संविधान से ज्यादा महत्वपूर्ण और जरूरी था। फिर ब्रिटिश सरकार की नीति में भी कुछ परिवर्तन तो हो ही गया था। नये उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर ने गांधीजी से साफ शब्दों में कह दिया कि वह भारतीयों को स्वशासन के ज़रा भी योग्य नहीं समझते। इधर गोलमेज परिषद में भेदनीति से काम लिया ही जा रहा था। अपने-अपने संप्रदायों की मांगों को लेकर भारतीय प्रतिनिधि सौदेबाजियां कर रहे थे। उनकी इन सौदेबाजियों को एक ओर तो भारतीय निहित स्वार्थ बढ़ावा दे रहे थे और दूसरी ओर अंग्रेज़ कूटनीतिज्ञ दुनिया को अंगुली उठा-उठाकर यह दिखला रहे थे कि भारतीयों में ही एकता नहीं है तो हम उन्हें स्वराज्य कैसे दे दें! गांधीजी मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों के उचित संदेहों को निर्मूल करने के लिए इस शर्त पर कि यदि वे भारतीय स्वाधीनता की मांग पर एक हो जायं तो 'ब्लैंक चेक' तक देने को तैयार थे। भारतीय प्रतिनिधियों ने गांधीजी की इस उदारता को ठुकरा दिया और मुस्लिम नेता तो उस परिषद में बुलाये ही नहीं गये थे। अत में गांधीजी को यह स्वीकार करना पड़ा कि ब्रिटिश सरकार ने उनका (गांधीजी) और कांग्रेस का विरोध करने के लिए जितने तत्त्व गोलमेज परिषद में इकट्ठा कर दिये थे उनकी सही ताकत को आंकने में उनसे भूल हुई थी। इसलिए जब ब्रिटिश प्रधान मंत्री रैम्ज़े मैक्डोनल्ड ने यह कहकर गोलमेज परिषद को समाप्त कर दिया कि सांप्रदायिक समस्या के हल के लिए एक समिति नियुक्त की जायगी, जो भारत जाकर इस प्रश्न का सर्वसम्मत हल खोज निकालेगी, तो गांधीजी ने छुटकारे की सांस ली।

लंदन के ईस्ट एण्ड के गरीबों में और खासतौर पर उनके बच्चों में

'गांधी चाचा' बड़े ही लोकप्रिय हो गये थे। बच्चे उनसे तरह-तरह के और कई बार तो बड़े बेढ़ब सवाल पूछ बैठते थे। गांधीजी सभी का संतोषजनक उत्तर देने का प्रयत्न करते। वह उन्हें अपने बचपन की कहानियां सुनाते और अपने ईस्ट एंड में ठहरने और सिर्फ लुंगी-चादर में रहने का कारण भी समझाते थे। वह उन्हें हमेशा यही उपदेश देते कि बुराई का जवाब भलाई से देना चाहिए। गांधीजी के इस उपदेश के कारण एक चार बरस की लड़की का बाप खासी मुसीबत में पड़ गया और उसे गांधीजी के पास अपनी शिकायत लेकर आना पड़ा था। गांधीजी द्वारा पूछे जाने पर उसने बताया, "मेरी नन्हीं जेन रोज मुझे मुंह पर मारकर जगाती है और कहती है, 'अब तुम मत मारना, क्योंकि गांधीजी कहते हैं कि हमें बदले में मारना नहीं चाहिए।'" २ अक्तूबर को उनकी वर्षगांठ के दिन बच्चों ने उन्हें ऊन के बने हुए दो कुत्ते, जन्मदिवस के समारोह पर जलाई जानेवाली तीन गुलाबी मोमबत्तियां, टीन की एक तश्तरी, एक नीली पेन्सिल और मुरब्बा भेंट किया। गांधीजी ने भेंट में मिली इन वस्तुओं को बहुत संभालकर रखा और अपने साथ भारत ले आये। महादेव देसाई ने गांधीजी के प्रति ब्रिटिश बच्चों के प्रेम का वर्णन करते हुए लिखा है—"इंग्लैंड में हजारों बच्चों ने गांधीजी को देखा होगा और हजारों उनसे मिलने आये होंगे। क्या पता, शायद अंग्रेज़ों की इसी पीढ़ी से निपटना पड़े ?"

गांधीजी की इस इग्लैंड-यात्रा की सबसे सुखद घटना थी लंकाशायर के सूती मिल-मजदूरों से उनकी भेंट। कांग्रेस के विदेशी वस्त्र-बहिष्कार आंदोलन की सीधी चोट इन लोगों पर ही पड़ी थी और कई लाख बेकार हो गये थे, लेकिन किसीने भी गांधीजी के प्रति क्रोध, उत्तेजना या घृणा का प्रदर्शन नहीं किया। सभी मजदूर उनसे बड़े प्रेम और विनम्रता से मिले। गांधीजी ने भी बड़े ध्यान से उनकी बातें सुनीं और बेकार हो जानेवालों के कष्टों के प्रति अपनी गहन सहानुभूति व्यक्त की। जब गांधीजी ने उनसे कहा कि "आपके यहां तीस लाख बेकार हैं, लेकिन हमारे यहां साल में छः महीने तीस करोड़ लोग बेकार रहते हैं, आप लोगों को औसत सत्तर शिलिंग बेकारी-भत्ता मिलता है, हमारी औसत मासिक आमदनी सिर्फ साढ़े सात शिलिंग है," तो भारत में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की पृष्ठ-

भूमि और आवश्यकता उन मजदूरों की समझ में बहुत अच्छी तरह से आ गई।

कुछ अंग्रेज मित्रों का ऐसा खयाल था कि ईस्ट एंड में ठहरने के कारण इंग्लैंड के उच्च और मध्यमवर्ग की गांधीजी ने उपेक्षा करदी थी; उनसे मिलना इसलिए भी जरूरी था, क्योंकि भारत के राजनैतिक भविष्य का निर्णय करनेवाली वास्तविक शक्ति भी वे ही लोग थे। इसलिए उन्होंने ब्रिटेन के राजनैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक क्षेत्र के श्रेष्ठी समुदाय से गांधीजी को मिलाने की एक योजना बनाई। वह जार्ज बर्नार्ड शा से मिले, जिन्होंने गांधीजी को 'समानशील व्यक्ति' पाया। गांधीजी ने पार्लमिंट के सदस्यों के समक्ष भाषण भी दिया। वह ईसाई संप्रदाय के धर्माध्यक्षों और बिशपों से भी मिले। उन्होंने ईटन के छात्रों और लंदन स्कूल आफ इकानामिक्स के विद्यार्थियों को संबोधित किया। डा० लिंड्से के निमंत्रण पर वह आक्सफोर्ड गये और वहां डा० गिल्बर्ट मरे, गिल्बर्ट साल्टर, प्रोफेसर कूपलैंड, एडवर्ड टाम्सन आदि धुरंधरों से मिले और चर्चाएं कीं और ऑक्सफोर्ड में ही उन्होंने वहां के भारतीय छात्रों की एक सभा में भाषण भी दिया। वह लायड जार्ज से भी मिलने के लिए गये। सुप्रसिद्ध अभिनेता चार्ली चैंप्लिन स्वयं उनसे मिलने के लिए आये। उनका नाम भी गांधीजी ने पहले नहीं सुना था।

इन गैर-रस्मी मुलाकातों के असर को नापना आसान नहीं है। अंग्रेज जाति स्वभाव से ही विनयशील है, इसलिए गांधीजी के व्यक्तित्व की उसपर जो छाप पड़ी, उसका सही अंदाज़ लगा पाना मुश्किल ही है। लेकिन इतना तो साफ मालूम हो गया कि कांग्रेस के उद्देश्यों और अंग्रेज जाति के दृष्टिकोण में पूरब-पश्चिम का अंतर था और उस अंतर को मिटाया नहीं जा सका था। इंग्लैंड और भारत के बीच बराबरी की भागीदारी के गांधीजी के दावे का पूरा समर्थन करनेवाले अंग्रेज सिर्फ गिने-चुने ही निकले। ब्रिटेन के अधिकांश विचारकों और राजनीतिज्ञों की यह धारणा थी कि गांधीजी भारत को स्वराज्य के कठिन मार्ग पर एकदम बहुत दूर और बहुत तेजी से ले जाना चाहते थे। लेकिन जिससे भी वह मिले, उसपर उनकी ईमानदारी, सहज व्यवहार और स्पष्टवादिता का स्थायी प्रभाव पड़े बिना न रहा।

जिस आदमी की लुंगी और बकरी के दूध के किस्से उछालने में सारे इंग्लैंड के अखबार होड़ बद रहे थे, कम-से-कम उसकी एक सही तसवीर तो उन लोगों के सामने इन मुलाकातों से अवश्य आ गई थी। गांधीजी के विचार मिलनेवालों को स्वप्नदर्शी या क्रांतिकारी लग सकते थे, लेकिन भेंट कर चुकने के बाद, जैसाकि 'ट्रुथ' अखबार ने उनके इंग्लैंड पहुंचने पर लिखा था, 'बकवास' कहकर उनको टाला नहीं जा सकता था।

इसी बीच गांधीजी को भारत से जो समाचार मिले, वे बहुत ही चिंताजनक थे। उनकी इंग्लैंड-यात्रा से पहले सरकार और कांग्रेस में जो अस्थायी समझौता हुआ था वह टूट चुका था। ऐसी स्थिति में गांधीजी का स्वदेश लौटने के लिए व्यग्र होना स्वाभाविक ही था। वापसी में यूरोप-भ्रमण और अमरीका-यात्रा के निमंत्रण उन्होंने अस्वीकार कर दिये। लेकिन लौटते हुए कुछ समय स्विट्ज़रलैंड में रोमां रोलां का आतिथ्य उन्होंने अवश्य ग्रहण किया।

६ दिसंबर को गांधीजी महादेव देसाई, प्यारेलाल, मीराबहन (मिस स्लेड) और देवदास गांधी के साथ विलेनेव पहुंचे। प्रथम असहयोग-आंदोलन के तत्काल बाद प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी' में रोमां रोलां ने गांधीजी के जीवन और संदेश की व्याख्या में विलक्षण अंतर्दृष्टि का परिचय देते हुए यह आशा प्रकट की थी कि हिंसा-ग्रस्त यूरोप अब भी गांधीजी के अहिंसा और आत्मत्याग के मार्ग पर चल-कर आत्म-विनाश से अपनी रक्षा कर सकता है—"इतना तो निर्विवाद है कि या तो गांधीजी की आत्मा अपने ही युग में विजयी होगी या ईसा और बुद्ध की भांति उसका पुनरागमन होता रहेगा, जबतक कि जीवन की पूर्णता का प्रतीक कोई महापुरुष अवतीर्ण होकर नई मानवता को नूतन मार्ग का पथिक नहीं बना देते।"

गांधीजी और रोमां रोलां आपस में बड़े प्रेम से मिले ओर रोज घंटों साथ बैठे विचार-विनिमय करते रहे। उन्होंने अनेक विषयों पर चर्चाएं की। रोलां की बहन मदलेन लिखती हैं :

"मेरे भाई ने गांधीजी को पीड़ाग्रस्त यूरोप की दुःखद स्थिति का परि-चय दिया। उन्होंने तानाशाहों के अत्याचारों से पीड़ित जनता के कष्टों का

वर्णन करते हुए सर्वहारा वर्ग के आंदोलनों और प्रयत्नों की बात बताई और समझाया कि निर्मम पूंजीवाद के शिकंजे को तोड़ फेंकने के लिए आतुरता से प्रयत्नशील और न्याय एवं स्वतंत्रता की उचित आकांक्षा से प्रेरित यह वर्ग किस प्रकार केवल विद्रोह और हिंसा का ही अवलंबन करता है। उन्होंने गांधीजी को यह भी बताया कि पश्चिम का आदमी अपनी शिक्षा, परंपरा और स्वभाव से ही अहिंसा के धर्म को अपनाने को प्रस्तुत नहीं है।

"...गांधीजी विचारमग्न सुनते रहे। वह बार-बार अहिंसा में अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करते जाते थे। लेकिन साथ ही वह जानते थे कि संदेह-प्रताड़ित यूरोप को प्रतीति कराने के लिए अहिंसा के सफल प्रयोग का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। यह पूछे जाने पर कि क्या भारत कर सकेगा, उन्होंने जवाब दिया था कि हाँ, आशा तो है..."[१]

जब स्विट्जरलैंड की जनता को गांधीजी के अपने देश में आने का पता चला तो सारे देश में उत्साह की लहर दौड़ गई। लेमेन नगर के दूधियों की सिंडीकेट ने रोमां रोलां को टेलीफोन से यह सूचना दी कि वह "भारत के राजेश्वर" के लिए जबतक वह स्विट्जरलैंड में रहें, दूध भेजना चाहते हैं।

एक जापानी कलाकार उनके चित्र बनाने के लिए पेरिस से दौड़े आये। एक युवक वादक रोज उनकी खिड़की के नीचे खड़े होकर दिलरुबा बजाया करते। इटली के लोगों ने भारतीय संत से आगामी राष्ट्रीय लाटरी के लिए दस विजेता नंबर बताने की प्रार्थना की। पाठशाला में पढ़नेवाले बच्चे रोज उनके लिए फल लेकर आते थे।

गांधीजी रास्ते में एक दिन के लिए रोम में भी ठहरना चाहते थे। रोमां रोलां ने उन्हें वहां फासिस्टों से संभलकर रहने की सलाह दी और एक बहुत ही विश्वसनीय मित्र के यहां उनके रहने-ठहरने का प्रबंध कर दिया। रोम में गांधीजी ने ईसा मसीह और उनके अनुयायियों से संबंधित चित्र-प्रदर्शनी (वेटिकान गैलेरी) देखी। सिस्टिन चैपल (गिरजाघर) में तो वह ठगे-से रह गये—"मैंने ईसा का चित्र देखा। बड़ा ही अद्भुत! वहां से हटने का मन ही नहीं होता था। देखता रहा, आंखों में आंसू उमड़ आये,

---

१. शुक्ल द्वारा संपादित : 'इंसीडेंट्स आव गांधीजीज लाइफ', पृष्ठ २८४

पर मन नहीं अघाया।"

पोप ने तो उनकी मिलने को मांग को स्वीकार नहीं किया, परन्तु मुसोलिनी ने उनसे भेंट की। पांच महीने बाद यरवदा-जेल में वहां के एक जेल-अधिकारी ने मुसोलिनी का उल्लेख करते हुए गांधीजी से कहा था कि उसका (मुसोलिनी का) व्यक्तित्व तो बड़ा ही आकर्षक है। "हां", गांधीजी ने जवाब दिया था—"लेकिन वह जल्लाद मालूम पड़ता है। संगीनों की नोक पर कोई राज्य आखिर कबतक टिक सकता है?"[1]

इतालवी जहाज पिल्सना पर सवार होकर ब्रिंडिस की ओर जाते हुए गांधीजी को बताया गया कि 'ज्योर्नेल द इतालिया' में उनकी एक मुलाकात के बारे में छापा गया है, जिसमें उन्होंने यह घोषणा की बताई जाती है कि वह सविनय अवज्ञा आंदोलन को फिर से शुरू करने के लिए भारत लौट रहे हैं। उन्होंने रोम में कोई मुलाकात नहीं दी थी। समुद्री तार के द्वारा उन्होंने तत्काल यह सूचना लंदन भिजवा दी कि 'ज्योर्नेल द इतालिया' की रिपोर्ट बिलकुल झूठी है। लेकिन इस स्पष्टीकरण के बावजूद इंग्लैंड के बहुत-से अखबारों और राजनीतिज्ञों ने उनपर असत्य भाषण का आरोप लगा ही दिया। असल में इंग्लैंड के खुर्राट राजनीतिज्ञ और भारत के ब्रिटिश नौकरशाह दोनों ही कांग्रेस से समझौते के पक्ष में नहीं थे, गांधी-इर्विन-समझौता उनकी आंखों में कांटे की तरह खटक रहा था, वे उसे तोड़ने का कोई बहाना ढूंढ़ ही रहे थे। फासिस्टों के अखबार 'ज्योर्नेल द इतालिया' ने उन्हें मुंहमांगी मुरादें दे दीं।

: ३० :

सर्वांगीण युद्ध

गांधीजी २८ दिसंबर, १९३१ को बंबई पहुंचे। एक ही सप्ताह के अंदर वह गिरफ्तार कर लिये गए और सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर शुरू हो गया। सरकार ने कांग्रेस को गैर-कानूनी कर दिया और गांधी-इर्विन-समझौते को

---

१ महादेवभाई की डायरी—२६ मई, १९३२ का उल्लेख।

फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। केवल उस एक सप्ताह की घटनाओं को देश की राजनैतिक परिस्थिति में इतनी शीघ्रता से और इतने अप्रत्याशित परिवर्तन का कारण समझना भूल होगी। असली कारण तो सरकार और कांग्रेस के बीच के वे तीव्र मतभेद थे, जो गांधी-इर्विन-समझौते के बावजूद मिट नहीं पाये थे।

इस बार सरकार ने कांग्रेस पर आक्रमण की अपनी पूरी योजना बहुत अच्छी तरह तैयार की थी—उसमें कोई भी कमी नहीं रहने दी थी। यदि कांग्रेस ने फिर सविनय अवज्ञा शुरू की तो उसे कुचलने के लिए अधिकारियों को क्या करना चाहिए और उन्हें कौन-से और कितने अधिकार दिये जाने चाहिए, इस सबकी तैयारियां केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने महीनों पहले से कर ली थीं। कई काले कानून (आर्डिनेन्स) बनाकर प्रांतीय सरकारों को आवश्यक अधिकार दे दिये गए थे। सविनय अवज्ञा से उत्पन्न स्थितियों का मुकाबला करने की नियमावलियां बना दी गई थीं। १९ दिसंबर, १९३१ को जब गांधीजी स्वदेश पहुंच भी नहीं पाये थे, भारत सरकार ने एक परिपत्र के द्वारा कांग्रेस के संभावित संघर्ष के बारे में प्रांतीय सरकारों को सचेत कर दिया था। अधिकारियों के रुख का पता उस पत्र से चल जाता है, जो बंबई सरकार ने दिल्ली के आला अफसरों को, गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद बंबई अहाते की किसी जेल में उन्हें रखने की अपनी कठिनाइयों के बारे में, २१ दिसंबर को लिखा था—"अगर भारत सरकार गिरफ्तार करके गांधीजी को हिन्दुस्तान में ही रखना चाहती है...तो कोयंबतूर सबसे बढ़िया रहेगा। गवर्नर साहब की राय है कि इस बार गांधीजी की गिरफ्तारी का नैतिक प्रभाव पहले से कहीं ज्यादा होगा, मगर साथ ही गवर्नर साहब का यह खयाल भी है कि गांधीजी की गिरफ्तारी से सविनय अवज्ञा आंदोलन को कुचलने का सरकार का पक्का इरादा भी लोगों पर बखूबी जाहिर हो जायगा। गिरफ्तारी के बाद गांधीजी को अंडमान में, बल्कि हो सके तो अदन में, रखना बेहतर होगा, क्योंकि दोनों ही सूरतों में उनके नाम और गिरफ्तारी का राजनैतिक इस्तेमाल कम-से-कम किया जा सकेगा।"

भारत सरकार ने बंबई सरकार के इस सुझाव को तो अव्यावहारिक

मानकर स्वीकार करने से इनकार कर दिया, लेकिन १९२७ के बंबई रेगुलेशन के अन्तर्गत गांधीजी की गिरफ्तारी की बात पक्की हो गई। लार्ड विलिंगडन ने लार्ड चेम्सफोर्ड, लार्ड रीडिंग और लार्ड इर्विन की तरह गांधीजी की गिरफ्तारी के मामले में हिचकिचाहट और असमंजस से ज़रा भी काम नहीं लिया। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कई उच्च अधिकारियों का ऐसा विश्वास था कि गिरफ्तारी के मामले में हिचकिचाहट और ढिलाई की नीति के ही कारण गांधीजी इतने सिर-ज़ोर हो गये थे और शासन की यों अवज्ञा करने लगे थे। अगर शुरू से ही सख्ती की जाती तो सविनय अवज्ञा आंदोलन बहुत पहले ही कुचल दिया जाता। ब्रिटिश नौकरशाही को गांधी-इर्विन-समझौता फूटी आंखों भी नहीं सुहाया था, क्योंकि उस समझौते से भारत में ब्रिटिश राज्य को, जिसकी सेवा और रक्षा करना नौकरशाही अपना धर्म और कर्तव्य समझती थी, समाप्त करने के कांग्रेस के लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अधिकांश बड़े अफसर अहिंसा को केवल एक बहाना और ओट समझते थे, इसलिए हिंसा का प्रयोग न करने के कांग्रेस के निर्णय को कोई महत्व नहीं देते थे। जिन अधिकारियों को गांधीजी की ईमानदारी में विश्वास था, उनका कहना था कि अगर जनता हिंसा पर उतर ही आई तो कांग्रेस और गांधीजी उसे कैसे रोक सकेंगे!

चार महीने की विदेश-यात्रा के बाद जब गांधीजी २८ दिसंबर, १९३१ को बंबई के बन्दरगाह पर उतरे तो वह बहुत उत्साहित और आशावान नहीं थे, लेकिन उन्होंने यह भी नहीं सोचा था कि राजनैतिक संकट इतना गहरा हो जायगा। जवाहरलाल नेहरू एवं अब्दुल गफार खां की गिरफ्तारी और संयुक्त प्रांत में आर्डिनेन्स राज्य ने स्थिति को बहुत ही विषम बना दिया था। गांधीजी ने बंबई की एक आम सभा में भाषण करते हुए कहा था—"मैं ऐसा समझता हूं कि ये आर्डिनेंस हमारे ईसाई वाइसराय लार्ड विलिंगडन साहब की ओर से हमें क्रिसमस का उपहार है।" कार्य-समिति परिस्थिति पर विचार-विनिमय करके इस नतीजे पर पहुंची कि सरकार ने बल-परीक्षण का फैसला कर लिया है, इसलिए सविनय अवज्ञा को फिर से शुरू करना ही सही जवाब होगा।

लेकिन गांधीजी सरकारी दृष्टिकोण को समझ लेना और शांतिपूर्ण

समझौते की कोशिश कर लेना चाहते थे। आशा की एक मद्धिम-सी किरण के भी रहते वह देश को आंदोलन के बवंडर में नहीं डालना चाहते थे। उन्होंने तार करके वाइसराय से मुलाक़ात की इजाजत मांगी। उन्होंने दोनों प्रांतों[१] में जाकर वहां की घटनाओं के सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही तरह के विवरणों की स्वयं पड़ताल करने और अगर कांग्रेस की गलती दिखाई दे तो अपने साथियों और सहयोगियों को सही राह पर लाने की तैयारी भी ज़ाहिर की। लेकिन इस कदम को वह वाइसराय से मिलकर शांति स्थापना के प्रयत्नों में असफल हो जाने के बाद ही उठाना चाहते थे। वाइसराय झल्ला उठे और गांधी पर सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से शुरू करने की धमकी देने का आरोप लगाते हुए तार[२] से यह जवाब दिया कि "कांग्रेस ने जिन उपायों के अवलंबन का इरादा जाहिर किया है, उसके सब परिणामों के लिए हम आपको और कांग्रेस को उत्तरदायी समझेंगे और उनके दबाने के लिए सरकार सब आवश्यक उपायों का अवलंबन करेगी।" अब तो शायद सम्राट की लंदन की सरकार ही संकट को और गहरा होने से बचा सकती थी। गोल-मेज परिषद् के समय नये उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर ने गांधीजी से बहुत साफ शब्दों में कह दिया था कि अगर कांग्रेस ने सीधी कार्रवाई की तो सरकार उसे बल-प्रयोग के द्वारा कुचल देगी। गांधीजी ने सर सेम्युअल होर से स्थिति पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया था। "यदि आपने ऐसा किया तो उससे दोनों ही देशों की कठिनाइयां और कष्ट बहुत अधिक बढ़ जायंगे...आप बार-बार विद्रोह की दुहाई देते हैं, लेकिन सर सेम्युअल, शांतिपूर्ण विद्रोह कभी उतना खतरनाक नहीं हुआ करता।"

सर सेम्युअल जानते थे कि गांधीजी गोलमेज परिषद् के परिणामों से सन्तुष्ट और प्रसन्न नहीं थे, फिरभी उन्होंने उपनिवेश-मंत्री को यह आश्वा-

---

१ संयुक्त प्रांत और सीमा प्रांत

२ गांधीजी ने २९ दिसंबर को एक तार वाइसराय को भेजा था। ३१ दिसंबर को उनके प्राइवेट सेक्रेटरी ने उसका कुछ लंबा जवाब दिया तब गांधीजी ने १ जनवरी, १९३२ को काफ़ी लंबा तार वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को दिया, जिसका २ जनवरी को प्राइवेट सेक्रेटरी ने धमकी भरा उत्तर दिया।

—अनुवादक

सन दिया था कि भारत लौटकर सरकार से संघर्ष को टालने की जितनी भी कोशिश करते बनेगी, अवश्य करेंगे। 'ज्योर्नाल द इतालिया' ने उनकी जो फर्जी मुलाकात छाप दी थी, उससे सर सेम्युअल होर को आश्चर्य जरूर हुआ था, लेकिन गांधीजी के प्रतिवाद से वह निश्चिन्त हो गये थे। सर सेम्युअल चाहते तो इस समय हस्तक्षेप करके भारत सरकार को गांधीजी के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करने से रोक सकते थे, लेकिन न तो ऐसा करने की उनकी इच्छा थी और न भारत-स्थित ब्रिटिश नौकरशाही का विरोध करने की उनमें शक्ति ही थी। फिर सर सेम्युअल इसके पहले ही कांग्रेस का दमन करने की भारत सरकार की योजना को अपने आशीर्वाद दे चुके थे, इसलिए उन्होंने शांति-स्थापना के लिए हस्तक्षेप करने की अपेक्षा दमन शुरू करने का आदेश देना ही उचित समझा और सरकार को दमन-योजना कार्यान्वित करने की अनुमति प्रदान कर दी।

गांधीजी ने सरकार के रुख को भांप लिया था, इसलिए बंबई की एक सभा में उन्होंने जनता को सावधान कर दिया था—"पिछली लड़ाई में जनता को लाठियों के वार सहने पड़े थे, लेकिन इस बार गोलियां खानी होंगी।" पर सरकारी तैयारियों का सही अंदाज तो उस समय गांधीजी को भी नहीं था। लार्ड विलिंगडन बहुत कठोर शासक समझे जाते थे और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वह कठोर ही नहीं, क्रूर और नृशंस शासक भी थे। प्रांतीय गवर्नरों ने भी इस बार आंदोलनकारियों को सबक सिखाने और ठिकाने लगाने का निश्चय कर लिया था। आंदोलन का दमन करने के लिए महीनों पहले जिन गुप्त योजनाओं को बनाया गया था वे सब-की-सब एक-दम और बड़ी तेजी से अमल में ले आई गईं। ४ जनवरी, १९३२ को गांधी-जी और कार्य-समिति के सदस्यगण गिरफ्तार कर लिये गए और उसके कुछ ही घंटों बाद तावड़तोड़ एक के बाद एक कई आर्डिनेंस जारी कर दिये गए। कांग्रेस की कार्यसमिति ही नहीं, सभी प्रांतीय समितियां और बहुत-सी स्थानीय समितियों को भी गैर-कानूनी करार दिया गया। इतना ही नहीं, कांग्रेस-संगठन की समर्थक या उससे सहानुभूति रखनेवाली दूसरी अनेक संस्थाएं—युवक लीग, राष्ट्रीय विद्यापीठें, कांग्रेस वाचनालय एवं पुस्तका-लय, कांग्रेस अस्पताल और चिकित्सालय आदि भी गैर-कानूनी कर दिये

गए। कांग्रेस का सारा पैसा और संपत्ति जब्त कर ली गई। कांग्रेस दफ्तरों और भवनों पर सरकार ने कब्जा कर लिया। संक्षेप में यह कि वे सभी कार्रवाइयां की गई, जिनसे कांग्रेस संगठन पूरी तरह ठप्प हो जाय। आर्डिनेंस कितने कठोर और व्यापक थे इसका पता पार्लमेंट के हाउस आव कामन्स में उपनिवेश-मंत्री के मार्च १९३२ के भाषण से चल जाता है।

सरकार को आशा थी कि कांग्रेस के नेताओं को गिरफ्तार करके और कांग्रेस की धन-संपत्ति को जब्त करके वह संगठन और आंदोलन दोनों को ही तोड़ सकेगी। आर्डिनेंस में अफसरों को यह अधिकार भी दिया गया कि यदि उन्हें किसी भी निधि के गैर-कानूनी संगठनों के लिए खर्च किये जाने का संदेह हो जाय तो वे उसे फौरन जब्त कर लें। किसी भी व्यक्ति, संस्था अथवा व्यावसायिक संगठन की खाते-वहियों की जांच करने, पूछताछ और तलाशी लेने के अधिकार भी अफसरों को दिये गए थे। गांधीजी ने इंग्लैंड में एक भाषण दिया था, कोलंबिया ग्रामोफोन कंपनी ने उसका रेकार्ड बनाया था और अखिल भारत चर्खा संघ को उसकी रायल्टी मिलती थी। भारत सरकार ने यह रायल्टी बंद करवाने की कोशिश भी की।

जेल की सख्तियां बेहिसाब बढ़ा दी गई। १९३०-३१ के सत्याग्रह आंदोलन में बहुत-सी महिलाएं जेल गई थीं। इस बार औरतों को आंदोलन में हिस्सा लेने से रोकने के उद्देश्य से ही जेल-कानूनों को कड़ा किया गया था। मीराबहन को, जो एक अंग्रेज नौ-सेनाध्यक्ष की पुत्री और गांधीजी की शिष्या थीं, बंबई की आर्थर रोड जेल में रखा गया था। वहां सत्याग्रही महिला बन्दियों से जैसा दुर्व्यवहार किया जाता था और जितनी सख्तियां उनपर होती थीं, उनका आंखोंदेखा वर्णन उन्होंने किया है। सत्याग्रही महिला बन्दियों को कटघरे के अंदर से अपने बच्चों से मिलने दिया जाता था। मीराबहन को सत्याग्रही महिलाओं के साथ नहीं, अपराधी औरतों के साथ रखा गया था। उनकी चार पड़ोसिनों में तीन चोरी के अपराध में और एक वेश्यावृत्ति के जुर्म में सजायाफ्ता थीं। इन अपराधिनों को रात में ताले में बन्द नहीं किया जाता था, परन्तु सत्याग्रही महिलाएं सरेआम ताले में बन्द कर दी जाती थीं।

संधि-काल में कांग्रेस का प्रभाव देहातों में बहुत बढ़ गया था। शहर के

मध्यमवर्गीय लोगों के स्वदेश-प्रेम से ही निपटना सरकार के लिए मुश्किल हो रहा था। जब वह आग देहातों में भी फैलती चली गई तो सरकार की बौखलाहट बहुत ज्यादा बढ़ गई। करबंदी-आंदोलन पर जो इतनी सख्तियां और लोमहर्षक अत्याचार किये गए उसका कारण भी सरकार की यह बौखलाहट ही थी। करबंदी-आंदोलन का संयुक्त प्रांत के दो जिलों, इलाहाबाद एवं रायबरेली में तथा बंबई, बंगाल, बिहार और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के कुछ जिलों में सबसे अधिक जोर था।

अखबार और छापेखानों को भी इस बार नहीं छोड़ा गया। १९३० में नमक-सत्याग्रह की आरंभिक सफलता का कारण सरकार की निगाह में उसका अत्यधिक अखबारी प्रचार ही था। इसलिए १९३२ में प्रेस और समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का अपहरण करनेवाले कई आर्डिनेंस जारी किये गए। संवाददाताओं की गिरफ्तारी से लेकर समाचारपत्रों से जमानतें मांगने और जमानतें जब्त करने तक के प्रावधान उनमें रखे गए और इन काले कानूनों का धड़ल्ले से प्रयोग किया गया। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दुबारा शुरू किये जाने के कोई छः महीने बाद, ४ जुलाई, १९३२ को भारत मंत्री ने पार्लमिंट में स्वीकार किया कि प्रेस कानूनों के अंतर्गत १०९ संपादकों-संवाददाताओं और ९८ छापेखानों के खिलाफ कार्रवाई की गई थी।

इस बार भी गांधीजी को पूना के यरवदा-सेंट्रल जेल में रखा गया था। वल्लभभाई पटेल और महादेव देसाई भी उनके साथ ही थे। महादेवभाई ने अपनी डायरियों में गांधीजी के इस बार के जेल-जीवन का बड़ा ही रोचक और प्रेरणात्मक वर्णन किया है। आंदोलन के खिलाफ सरकार की दमनकारी कार्रवाइयों की गांधीजी को पूरी-पूरी जानकारी थी। इस बार का दमन औचित्य की सारी सीमाओं को लांघ गया था और यही बात उन्होंने जेल से सर सेम्युअल होर को लिखी भी थी। गांधीजी सत्याग्रही के लिए कष्ट-सहन को उसकी आत्मा के विकास के लिए और कष्ट देनेवाले के हृदय-परिवर्तन के लिए एक आवश्यक शर्त मानते थे। गांधीजी का विश्वास था कि दमन की इस भट्टी में सारा-कूड़ा करकट जल-भुनकर खाक हो जायगा और राष्ट्र का व्यक्तित्व अधिक तपःपूत होकर निकालेगा। उनका कहना था कि यदि जनता सत्याग्रह पर डटी रही,

दमन से विचलित नहीं हुई, अहिंसा का पूरी तरह पालन करती रही तो दमन कितना ही कठोर क्यों न हो उसे कभी तोड़ नहीं सकता। इंग्लैंड में ब्रिटिश विशेषज्ञ और भारतीय दर्शक मिलकर जो नया विधान बना रहे थे, गांधीजी को उससे रंच-मात्र भी आशा नहीं थी। बंबई सरकार के गृह-सचिव टामस जेल में मिलने के लिए गये तो उन्होंने गांधीजी से कहा था—"आधी रोटी मिल रही है तो आज आप आधी को ही क्यों स्वीकार नहीं कर लेते ?" इसपर गांधीजी ने कहा था, "मगर वह रोटी हो, पत्थर तो नहीं।"

जेल में भी गांधीजी उतने ही व्यस्त रहते थे जितने जेल के बाहर। दोनों समय प्रार्थनाएं और कताई तो उनका नित्य नियम था। कपड़े अपने हाथ से धोते थे और सारी चिट्ठियों का जवाब स्वयं देते और बोलकर लिखाते भी थे। एक दिन तो उन्होंने उनंचास पत्र लिखे थे। अधिकांश पत्र आश्रमवासियों को ही लिखे जाते थे। जेल से लिखे पत्रों को वह सर्वथा व्यक्तिगत मानते थे और पानेवालों को उन्हें व्यक्तिगत ही रखने की कड़ी हिदायत भी कर दी थी। अध्ययन भी खूब करते थे। खगोलशास्त्र में उनकी रुचि बहुत बढ़ गई थी और रात में प्रायः आकाश के नक्षत्र-मंडल और तारों की गति को देखा करते। विश्राम और हँसी-मज़ाक भी चलता रहता। वल्लभभाई पटेल से उनकी खूब नोक-झोंक रहती थी।

सरकार ने दमन के साथ-साथ प्रचार पर भी पूरी रोक लगा दी थी, क्योंकि ऐसे समय प्रचार ही राष्ट्र के मनोबल को बनाये रखने का एक-मात्र साधन होता है। लेकिन फिर भी १९३२ के आरंभिक नौ महीनों में कुल ६१,५५१ सत्याग्रही सविनय अवज्ञा के सिलसिले में जेल गये। यह संख्या १९३०-३१ के आंदोलन में जेल जाने और सजा पानेवालों से अधिक ही है। आंदोलन शुरू के चार महीने तो खूब तेज रहा, पर उसके बाद जेल जाने और सजा पानेवालों की संख्या क्रमशः घटती गई (अप्रैल १९३२ में जब कांग्रेस ने पं० मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में दिल्ली में अपना वार्षिक अधिवेशन करने की कोशिश की तो बहुत अधिक गिरफ्तारियां हुई थीं) और आंदोलन की रफ्तार बहुत मंद हो गई।

१९३२ का अंत होते-होते तो केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें इसलिए

अपनी-अपनी पीठ ठोकने लगी थीं कि उन्होंने कांग्रेस को चारों खाने चित कर दिया। लेकिन आर्डिनेंसों द्वारा प्रदत्त अपने विशेषाधिकारों को छोड़ने के लिए वे अब भी तैयार न हुईं। लार्ड विलिंगडन ने फैसला कर लिया था कि लड़ाई को अधबीच नहीं छोड़ा जायगा, आंदोलन को इस तरह कुचल दिया जायगा कि वह अनेक वर्षों तक अपना सिर न उठा सके और जबतक गांधीजी तथा कांग्रेस बिनाशर्त आत्म-समर्पण नहीं कर देते, गांधीजी को नजरबन्द रखा जायगा। १९३२ के दिसंबर महीने में जब तेजबहादुर सप्रू और एम० आर० जयकर लंदन से संवैधानिक चर्चाएं करके लौट आये तो उपनिवेश-मंत्री ने वाइसराय को यह सुझाव दिया कि उन्हें जेल में गांधीजी से मिल लेने दिया जाय। ४ जनवरी, १९३३ को वाइसराय ने एक लंबा समुद्री तार भेजकर उपनिवेश-मंत्री के इस सुझाव का कड़ा विरोध किया :

"इस तरह की मुलाकात के इस उद्देश्य से कि सरकार गांधी और कांग्रेस को नये विधान से सहयोग करने का पूरा अवसर दे रही है, हम यानी प्रांतों के गवर्नर और वाइसराय की कार्यकारिणी कौंसिल पूर्णतः सहमत हैं; लेकिन साथ ही हमारी यह राय भी है कि इस तरह की मुलाकात का नतीजा यहां हमारे हक में बहुत बुरा होगा और पिछली गोलमेज परिषद की सफलता एवं पिछले पूरे साल की कार्रवाइयों के फलस्वरूप हमने स्थिति पर जो काबू पाया है, उसपर बिलकुल ही पानी फिर जायगा।"

वाइसराय गांधीजी के साथ उदारता दिखाने की गलती तो भूलकर भी नहीं करना चाहते थे। १ जुलाई, १९३३ को भारत मंत्री के नाम लिखे अपने एक पत्र में वह लिखते हैं, "गांधी के नेतृत्व को नरम और गरम दोनों ही पक्षों की ओर से खुली चुनौतियां दी जा रही हैं। उनपर यह आरोप लगाया जा रहा है कि पूरे चौदह वर्ष के सतत संघर्ष के बाद उन्होंने कांग्रेस को विफलता की दलदल में फंसाया है। कांग्रेस की भावी नीति के सम्बन्ध में कांग्रेसजनों में तीव्र मतभेद हैं और साथ ही निराशा की गहरी भावना भी। अकेले गांधी ही सबको जोड़-बटोरकर साथ रख सकते हैं और निराशा से उभार सकते हैं। लेकिन वह इस बात को भी बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि उनका प्रभाव पूरी तरह सरकार के उनके सम्बन्धों पर निर्भर करता

है। यदि कांग्रेसजनों और जनता को यह पता चल गया कि सरकार उनकी दिलजोई कर रही है तो निश्चय ही गांधीजी के प्रभाव में शत प्रतिशत वृद्धि हो जायगी।"

गांधीजी के बारे में वाइसराय का यह खयाल कि वह कूटनीति-प्रवण हैं, कांग्रेस को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं और वाइसराय से भेंट की तिकड़म चलकर भारत के अज्ञ-जनों पर अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं, महात्माजी के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों एवं भारतीय जनता के सम्बन्ध में उनके घोर अज्ञान का ही परिचायक है। सर सेम्युअल होर ने अपनी पुस्तक (नाइन ट्रबल्ड ईयर्स) में बिलकुल ठीक ही लिखा था कि "यह आलोचना तो मुझे करनी ही होगी कि गांधीजी के व्यक्तित्व को, जितना लार्ड इर्विन समझते थे उतना लार्ड विलिंगडन नहीं समझ पाये और इसीलिए वह उनकी (गांधीजी की) शक्ति और प्रभाव को हमेशा कम करके आंकते रहे।" लार्ड विलिंगडन एक योग्य और अनुभवी प्रशासक रह चुके थे, लेकिन भारत के वाइसराय के नाते वह गुण ही उनका घोर दुर्गुण और अक्षमता बन गया। भारतीय समस्या को उन्होंने केवल प्रशासकीय स्तर पर ही देखने-समझने की कोशिश की, जिसका एकमात्र हल उनके निकट उपद्रवकारियों को निर्ममता से कुचल देना था। भारत के स्वाधीनता-आंदोलन के बौद्धिक और भावनात्मक स्वरूप को समझने में अपनी असमर्थता के कारण आज़ादी के देश-व्यापी जोश को उन्होंने अविवेकपूर्ण हठवादिता समझने की भूल की। भारतवासियों के राष्ट्र-प्रेम के मूल तत्त्वों को वह कभी नहीं समझ पाये, इसलिए गांधीजी के व्यक्तित्व को समझने में भी असमर्थ रहे। यह बात उनकी समझ में ही नहीं आ पाती थी कि सविनय अवज्ञा गांधीजी के उस सत्याग्रह की एक शैली थी, जिसकी उद्देश्य अहिंसात्मक जन-आंदोलन के द्वारा देश में राजनैतिक ही नहीं, सामाजिक परिवर्तन लाना भी था और इस आंदोलन में विरोध तो था, पर बदले की भावना नहीं थी, असहयोग तो था, पर घृणा नहीं थी। जहां गांधीजी के निकट आंदोलन का अहिंसात्मक स्वरूप ही सबसे महत्वपूर्ण था, वहीं लार्ड विलिंगडन को गांधीजी और उनके अनुयायियों की इस सजग नैतिक श्रेष्ठता से झुंझलाहट तो होती ही थी, न्याय और व्यवस्था बनाये रखने के लिए जिम्मेदार

व्यक्तियों के प्रति व्यापक तिरस्कार अहिंसात्मक आंदोलन को निंदनीय मक्कारी का रूप भी दे देता था।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बद्धमूल संस्कारों, पूर्वाग्रहों और पक्षपातपूर्ण आचरण से गांधीजी को अक्सर बड़ी निराशा होती थी। अंग्रेजों के कृत्यों की आलोचना करने पर गांधीजी को अवसरवादी और लोगों को उकसानेवाला कहा जाता था। अंग्रेजों की मैत्री का दावा करने पर उन्हें दंभी और फरेबी कहा जाता था। जब वह वाइसराय से भेंट की इच्छा प्रकट करते तो उनपर सरकार को चालाकी से पछाड़ने के इरादे का दोषारोपण किया जाता। आंदोलन शुरू करने पर उन्हें 'दुर्दम शत्रु' की उपाधि दे दी जाती। अगर वह आंदोलन के क्षेत्र को सीमित कर देते या आंदोलन बन्द कर देते तो यह शोर मचाया जाता कि अनुयायियों पर उनका असर ही नहीं रहा।

सत्याग्रह का एक उद्देश्य अंग्रेजों के पूग्रर्वाहों की इस दीवार को ढहाना भी था। जब तर्क और युक्तियां निष्फल हो जातीं तो विरोधी के हाथों स्वेच्छा से कष्ट-सहन करके उसके हृदय को विगलित करने का प्रयत्न किया जाता, जिससे दो दिलों को आपस में मिलने से रोकनेवाली बाधाएं टूट जायं। प्रेम के 'अतिक्रमण' की यह पद्धति व्यवहार में न तो उतनी सरल थी और न हमेशा त्वरित फल देनेवाली ही। जब अंग्रेजों के नैतिक आडंबर का भंडा फूटने लगता तो वे और भी हेकड़ और निर्लज्ज हो जाते। फिर भी सविनय अवज्ञा आंदोलन का इतना परिणाम तो अवश्य ही हुआ कि एक ओर तो उसने डेढ़सौ वर्षों की दासता से दबी-डरी जनता को निर्भय-निडर कर उसमें राष्ट्रीयता की भावना भर दी, दूसरी ओर अपनी कठोरता-कट्टरता के प्रति अंग्रेज अफसरों के मन में सन्देह जगा-जगाकर उनके आरम्भिक उत्साह को काफी शिथिल कर दिया। अंग्रेज अधिकारियों के लिए भारत-जैसे विशाल देश का शासन शांति-काल में भी कोई सरल काम नहीं था, जब यहां के बुद्धिजीवी और सारा मध्यम वर्ग एकदम विरोधी हो गया तो भारत पर शासन करना उनके लिए लगभग असम्भव ही हो गया।

लेकिन अब घटनाओं का रुख बदलने जा रहा था। १९३२ के अगस्त महीने के आते-आते लार्ड विलिंगडन और उनका सलाहकारी मंडल सोचने

लगा था कि सरकार के वार सहते-सहते सविनय अवज्ञा आंदोलन धराशायी हो गया। उधर गांधीजी ने जेल में अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिये जाने के विरोध में उपवास आरम्भ कर दिया। इससे सारे देश में तहलका मच गया और जनता में उत्साह का जो ज्वार आया, वह राजनैतिक आंदोलन की मुख्य धारा में प्रवाहित होने के बदले दूसरी-दूसरी धाराओं में विभक्त हो गया।

: ३१ :

हरिजनोद्धार

१३ सितम्बर, १६३२ को सारे भारत के अखबारों में यह सनसनीखेज खबर छपी कि यरवदा-जेल में बन्द महात्मा गांधी ने दलित जातियों को नये विधान में पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिये जाने के विरोध में २० सितम्बर से आमरण अनशन का फैसला कर लिया है। देश पर गाज-सी गिरी और सब स्तब्ध रह गये। लेकिन इस विषय पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल से गांधीजी के पत्र-व्यवहार को देखने से पता चलता है कि संकट आकस्मिक रूप से नहीं टूट गिरा था, वह धीरे-धीरे रूप ग्रहण करता जा रहा था, जिसकी जानकारी जनता को नहीं थी।

अपनी गिरफ्तारी के दो महीने बाद, मार्च १६३२ में गांधीजी ने नये विधान में जन-प्रतिनिधियों की संख्या और उनकी चुनाव-पद्धति का निर्धारण करनेवाले साम्प्रदायिक निर्णय (कम्यूनल अवार्ड) के बारे में उपनिवेश मंत्री को पत्र लिखते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया था कि पृथक् निर्वाचन का अधिकार हिंदू जाति का अंग-भंग और विच्छेद करनेवाला तो है ही, वह दलित जातियों के लिए भी हानिकारक है। अपने प्राणों की बाजी लगाकर पृथक् निर्वाचन का विरोध करने की बात गांधीजी गोलमेज परिषद् में कह ही चुके थे। उसकी याद दिलाते हुए उपर्युक्त पत्र में उन्होंने सर सेम्युअल होर को यह भी लिख दिया कि "मैंने वह बात क्षणिक जोश में आकर या अपने वक्तृत्व की धाक जमाने लिए नहीं कही थी...आमरण उपवास मेरे

लिए एक उपाय नहीं, मेरे अस्तित्व का ही अंग है।"

१७ अगस्त, १९३२ को साम्प्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ तो गांधीजी बहुत अधिक चिंतित हो गये। दलित जातियों को आम (हिंदू) निर्वाचन क्षेत्र में मतदान का अधिकार देने के साथ-ही-साथ अपने पृथक् निर्वाचन क्षेत्र में भी मत देने का अधिकार दिया गया था। इसका साफ मतलब यह था कि उनके लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र भी बनाये जायंगे और उन्हें दुहरा मताधिकार होगा। गांधीजी ने ब्रिटिश प्रधान मंत्री रेम्ज़े मेक्डोनल्ड को तुरन्त पत्र लिखकर इसके विरोधी में आमरण अनशन करने के अपने निर्णय की सूचना दी और यह भी लिख दिया कि "यदि ब्रिटिश सरकार अपनी इच्छा से या जनमत के दवाव से दलित जातियों के पृथक् निर्वाचन की योजना को वापस ले लेगी तभी अनशन समाप्त होगा, उसके पहले नहीं, और जेल से रिहा कर दिये जाने पर भी अनशन चालू रहेगा।" तीन सप्ताह वाद मेक्डोनल्ड साहब ने जो जवाब दिया, उसमें गांधीजी के इस रवैये पर 'सख्त अफसोस' और 'वड़ा आश्चर्य' प्रकट किया गया था। उन्होंने लिखा था कि सरकार ने तो अपने इस निर्णय के द्वारा सभी जातियों के दावों के साथ उचित न्याय करने की ही कोशिश की थी और अगर भारत की सभी जातियां चुनाव के वारे में किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुंच सकें तो सरकार अपने इस फैसले को जरूर वदल देगी। उन्होंने गांधीजी के उपवास को अनुचित और अन्यायपूर्ण बताते हुए उनके उद्देश्यों में गहरी शंका व्यक्त की और उन्हें दलित जातियों के प्रति शत्रुता का भाव रखनेवाला व्यक्ति बताया—"मेरी राय में आप दलित जातियों को हिंदुओं के साथ संयुक्त चुनाव का अधिकार दिलाने के लिए आमरण अनशन नहीं कर रहे हैं, क्योंकि उसका प्रावधान तो पहले ही कर दिया गया है, न आप हिंदुओं की एकता के लिए अनशन कर रहे हैं, क्योंकि उसका प्रावधान भी किया जा चुका है। आप तो आज भी बहुत ही ज्यादा अक्षम दलित जातियों को, उनके भविष्य को पूरी तरह प्रभावित करनेवाली विधि-परिषदों में, कुछ थोड़े-से ऐसे प्रतिनिधियों का, जो उनकी आवाज को बुलन्द कर सकें, अपनी इच्छा से चुनाव कर सकने से रोकने के ही लिए यह अनशन कर रहे हैं।"

ब्रिटिश प्रधान मंत्री की आघात पहुंचानेवाली इस वात से सिर्फ यही

साबित होता है कि समस्या के प्रति गांधीजी के धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उन्हें और उनके सलाहकार-मंडल को लेशमात्र भी ज्ञान नहीं था। आरंभ में उन्होंने यही समझा कि गांधीजी का उपवास एक निरी राजनैतिक चाल थी, जिसके द्वारा सविनय अवज्ञा के पराभव से उनकी जिस प्रतिष्ठा को धक्का लगा था, उसे फिर से संवारने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। दलित जातियों की हित-संवर्द्धना में गांधीजी की रुचि ठेठ उनके बचपन से चली आती थी और वह उनके गहनतम मानवतावाद का ही परिणाम थी। उसे तात्कालिक या अस्थायी समझना गलत ही नहीं, उस महात्मा के साथ अन्याय भी था। अस्पृश्यता से उनका पहला वास्ता अपने घर में ही पड़ा था। उनके वैष्णव परिवार में और खास तौर पर माता के परंपरागत संस्कारों के कारण घर के भंगी उका को छूने या अछूत बालकों के साथ खेलने की सख्त मनाही थी। गांधीजी आज्ञाकारी बालक थे, लेकिन उन्हें इस तरह मना किये जाने पर गुस्सा भी आता था। रामायण की केवट और शवरी की कथाओं से इस अस्पृश्यता का ज़रा भी मेल नहीं खाता था। उम्र के साथ अछूतों के प्रति उनकी भ्रातृ-भावना का विकास भी होता गया। दक्षिण अफ्रीका में तो सभी वर्णों और जातियों तथा संप्रदायों के लोगों ने उनके साथ कंधे-से-कंधा भिड़ाकर काम किया था और साबरमती-आश्रम का तो अस्तित्व ही एक हरिजन-परिवार को आश्रमवासी बनाने से खतरे में पड़ गया था। अहमदाबाद में धनाधीशों ने नाराज होकर आर्थिक सहायता देना बंद कर दिया था। गांधीजी अपने साथियों-सहयोगियों के साथ हरिजन-बस्ती में जाकर रहने की बात सोच ही रहे थे कि ऐन वक्त पर एक अज्ञात व्यक्ति के गुप्तदान ने आश्रम को बंद होने से बचा लिया था। असहयोग-आंदोलन के रचनात्मक कार्यक्रमों में उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण को भी रखा था। १९२८-२९ में उन्होंने जो देशव्यापी दौरे किये, उनमें अछूतोद्धार उनके भाषणों का मुख्य विषय रहा करता था। गोलमेज परिषद् में अछूतों के प्रतिनिधियों को सांप्रदायिक और प्रतिक्रियावादी तत्वों के हाथ का खिलौना बनते देख उन्हें मर्मांतक पीड़ा होती थी। इस प्रश्न पर उनकी भावनाओं का पता उस भाषण से चलता है, जो उन्होंने अल्पसंख्यक समिति की बैठक

में १३ नवंबर, १९३१ को दिया था—"मेरा तो दावा है कि मैं भारत के बहुसंख्यक अछूतों का भी प्रतिनिधि हूं। मैं यहां सिर्फ कांग्रेस के ही नहीं, अपने बारे भी कह रहा हूं और इस बात का दावा करता हूं कि यदि अछूतों के मत लिये जायं तो उनके भी सबसे ज्यादा मत मुझीको मिलेंगे। हम नहीं चाहते कि अछूतों का एक पृथक् जाति के रूप में वर्गीकरण किया जाय। सिक्ख हमेशा के लिए सिक्ख, मुसलमान हमेशा के लिए मुसलमान और ईसाई हमेशा के लिए ईसाई रह सकते हैं। लेकिन क्या अछूत भी सदा के लिए अछूत रहेंगे ?"

ब्रिटिश मंत्रिमंडल जिस प्रकार इस प्रश्न पर गांधीजी की भावनाओं को समझने में असफल रहा, उसी प्रकार इस समस्या के निराकरण के लिए उनके उपवास के महत्व और उसकी उपयोगिता को समझने में भी असमर्थ रहा। वे लोग इसे केवल राजनैतिक समस्या समझते रहे, इसीलिए गांधीजी के दृष्टिकोण को हृदयंगम नहीं कर सके। उपवास को उन्होंने उत्पीड़न और एक तरह की धमकी ही समझा। गांधीजी के उपवास की घोषणा पर अंग्रेज-जाति की उस समय की प्रतिक्रिया को सुप्रसिद्ध अंग्रेज व्यंग्य-चित्रकार लो ने '१९३३ की भविष्यवाणी' नामक अपने व्यंग्य-चित्र में बड़ी सफ़लता से चित्रित किया था। उक्त व्यंग्य चित्र में लार्ड विलिंगडन को १०, डाउनिंग स्ट्रीट (ब्रिटिश प्रधान मंत्री का निवासस्थान) के आदेश पर "गांधीजी को इस बात के लिए विवश करने को कि वह नये विधान को स्पृश्य (सवर्ण) मानकर स्वीकर कर लें," अनशन करते हुए दिखलाया गया था। गांधीजी के मनोभावों और दृष्टिकोण को सी० एफ० एंड्रूज़ से अधिक तो दूसरा कोई अंग्रेज समझ नहीं सकता था। लेकिन उन्हें भी बरमिंघम से (१२ मार्च, १९३३ को) यह लिखना पड़ा—"यहां के लोग आमरण अनशन को कितना बुरा समझते और घृणा करते हैं, उसका आपको अंदाज़ भी नहीं हो सकता। उसे उचित और न्यायसंगत सिद्ध करने में मुझे जो कठिनाई हो रही है, उसे मैं ही जानता हूं।"

लेकिन अपनी आत्मा, या उन्हींके शब्दों में कहें तो अपने परमात्मा के अतिरिक्त किसीके भी समक्ष अपने उपवास का औचित्य सिद्ध करने की गांधीजी को ज़रा भी चिंता नहीं थी। उपवास का उनके आत्मानुशासन में

एक निश्चित और निर्धारित स्थान था। कई बार अपनी मनोव्यथा से निस्तार पाने का वही एकमात्र उपाय उनके सामने हुआ करता था। लेकिन गहन हृदय-मंथन और आत्मपरीक्षण के बिना उस उपाय का अव-लंबन नहीं किया जा सकता था। जबतक 'अंतरात्मा की आवाज़' स्पष्ट स्वर में आदेश न देती, वह उपवास आरंभ नहीं करते थे। लेकिन क्या अंत-रात्मा की आवाज़ सुनने में भूल नहीं हो सकती थी? क्या अंतरात्मा के बदले उनका अहंकार ही नहीं बोल रहा होता था? गांधीजी ने कभी इन-कार नहीं किया। अंतरात्मा की आवाज़ सुनने में उनसे गलती हो सकती थी। वह उनका अहंकार भी हो सकता था, "लेकिन तब तो अनशन करके मेरा मर जाना ही उचित होता, मुझ जैसे अहंकारी के जाल में फंसे लोगों का छुटकारा हो जाता।"

क्या उपवास उत्पीड़न और ज्यादती नहीं? गांधीजी इस बात को जानते थे कि उनका उपवास लोगों पर नैतिक दबाव की तरह काम करता है। लेकिन अपने से असहमत होनेवालों पर वे इसे कभी नहीं आजमाते थे; इसका प्रयोजन होता था अपने स्नेहियों और विश्वास-भाजनों की आत्मा को जगाने और आत्मपीड़न के माध्यम से अपनी असह्य मनोव्यथा का उन्हें भान कराने के ही लिए। अपने आलोचकों से उन्होंने कभी यह आशा नहीं की कि उपवास आदि पर उन लोगों की वही प्रतिक्रिया हो, जो उनके मित्रों, सहयोगियों, साथियों और समर्थकों की होती है। लेकिन उनके आत्मदंड से अगर विरोधियों और आलोचकों को उनकी ईमानदारी में विश्वास हो सकता तो वह अपने प्रयोजन को बहुत अंशों में पूरा हुआ मान लेते थे। अस्पृश्यता के प्रश्न पर गांधीजी के उपवास ने लोगों की तर्क-बुद्धि को नहीं, भावनाओं को झकझोरा, और यही गांधीजी चाहते भी थे। समस्या का समाधान लोगों की तर्कबुद्धि को कुरेदकर नहीं उनकी भाव-नाओं को—जड़ आत्मा को—जगाकर ही किया जा सकता था। सदियों से सामाजिक विषमता को प्रश्रय देती आ रही बौद्धिक जड़ता, कुसंस्कार और पूर्वाग्रहों को किसी भी तर्क से परास्त नहीं किया जा सकता। केवल लोगों की भावनाओं को जगाकर ही इस बुराई को मिटाया जा सकता था।

गांधीजी के उपवास की खबर ने सारे देश को हिला दिया। २० सितंबर,

के दिन ११ बजे सवेरे गरम पानी में शहद के साथ नीबू का रस लेकर इसके एक घंटे के बाद गांधीजी ने उपवास शुरू किया और वह दिन सारे देश में उपवास और प्रार्थना-दिवस के रूप में मनाया गया। शांतिनिकेतन में कवींद्र रवींद्र ने काले वस्त्र पहनकर एक विशाल सभा में गांधीजी के उपवास के महत्व पर प्रकाश डाला और श्रोताओं को कमर कसकर अस्पृश्यता-निवारण के काम में जुट जाने को उद्‌बोधित किया।[1] दलित जातियों के प्रति स्नेह और सहानुभूति का जैसे देश में ज्वार ही आ गया। अछूतों के लिए मंदिर, कुएं और अन्य सार्वजनिक स्थान धड़ाधड़ खोले जाने लगे। ब्रिटिश सरकार के सांप्रदायिक निर्णय से भिन्न कोई दूसरी निर्वाचन व्यवस्था खोज निकालने के लिए सवर्ण हिंदुओं और दलित जातियों के नेताओं का एक संयुक्त सम्मेलन भी तत्काल आयोजित किया गया।

समय तेजी से बीतने लगा। सरकार गांधीजी को जेल से रिहाकर पूना में ही किसीके मकान में थोड़े-से प्रतिबंधों के साथ रखने को राजी थी, लेकिन गांधीजी जेल में ही रहकर उपवास करने के पक्ष में थे। सवर्ण और अछूत नेताओं का सम्मेलन बंबई में हो रहा था।[2] उसमें भाग लेने-

---

१ उपवास आरंभ करने से पहले महात्माजी ने महाकवि को निम्न पत्र लिखा था : "अभी मंगलवार की सुबह के ३ बजे हैं। दोपहर के समय मैं अग्निमय द्वार में प्रवेश करूंगा। मैं चाहूंगा कि आप मेरे इस कार्य को आशीर्वाद दें। आप सच्चे मित्र हैं...अपने विचारों को प्रायः स्पष्टता से प्रकट कर देते हैं। यदि आपकी अंतरात्मा मेरे कार्य की निंदा करे तो भी आपकी आलोचना को बहुमूल्य समझूंगा। आपका हृदय यदि मेरे कार्य को पसंद करे तो मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूं। उससे मुझे सहारा मिलेगा।" रविबाबू ने गांधीजी का यह पत्र मिलने के पूर्व उपवास आरंभ होते ही यह तार भेज दिया था—"भारत की एकता और सामाजिक अविच्छिन्नता के लिए बहुमूल्य जीवन का दान श्रेयस्कर है। हमलोग ऐसे हृदय-हीन नहीं हैं कि इस राष्ट्रीय वज्रपात को चरम सीमा तक पहुचने दें। हमारे व्यथित हृदय आपकी लोकोत्तर तपस्या को श्रद्धा और प्रेम से निहारते रहेंगे।"

२ पहले बैठकें बंबई में शुरू हुई, उसके बाद सारी कार्रवाई पूना में हुई। इसलिए इस सम्मेलन का निर्णय पूना-निर्णय या पूना पैक्ट कहलाता है।—अनुवादक

वाले पं० मदनमोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, एम० आर० जयकर, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, एन० सी० केलकर, राजेंद्रप्रसाद और मुंजे आदि नेता समझौते का कोई मार्ग जल्दी-से-जल्दी खोज निकालना चाहते थे। लेकिन सब-कुछ दलित जाति के नेताओं के और खासतौर पर डा० अंबेडकर के हाथ में था। वे पृथक् निर्वाचन के दृढ़ समर्थक तो थे ही, अपनी केंद्रीय स्थिति के कारण यह भी जानते थे कि सम्मेलन की सफलता-असफलता का सारा दारोमदार भी उन्हींपर है। उनके समर्थन और स्वीकृति के बिना कोई भी तजवीज सरकार के सामने पेश नहीं की जा सकती थी। उधर गांधीजी का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था, इधर अंबेडकर हर कदम पर अड़ते जा रहे थे और पूरी सौदेबाजी पर तुले हुए थे। आखिर बहुत खींच-तान के बाद जो समझौता हुआ, वह इतिहास में पूना-निर्णय (पूना पैक्ट) के नाम से प्रसिद्ध है। प्रांतीय कौंसिलों और केंद्रीय कौंसिल में स्थान सुरक्षित करके दलित जाति के प्रतिनिधियों की संख्या सांप्रदायिक निर्णय में निर्धारित संख्या से दूनी कर दी गई, और निर्वाचन-प्रणाली में भी परिवर्तन किया गया—प्रत्येक सुरक्षित स्थान के लिए दलित जातियों के मतदाता प्राथमिक चुनाव करके चार प्रतिनिधि चुनेंगे और उनमें से दलित वर्ग का एक प्रतिनिधि सवर्णों और दलितों के संयुक्त निर्वाचन द्वारा चुना जायगा। सुरक्षित स्थानों द्वारा दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व तबतक जारी रहेगा जबतक दोनों पक्ष आपसी समझौते से उसे समाप्त नहीं कर देंगे, लेकिन प्राथमिक निर्वाचन की पद्धति दस वर्ष बाद समाप्त हो जायगी। संक्षेप में ये थी पूना-पैक्ट की सिफारिशें।

सवर्णों और दलित वर्गों में तो समझौता हो गया, लेकिन जबतक सरकार उसे स्वीकार न करले गांधीजी अपना उपवास तोड़ने को तैयार न थे। ब्रिटिश प्रधान मंत्री अपनी चाची की अंत्येष्टि में भाग लेने के लिए ससेक्स गये हुये थे। वहां से तुरंत भागकर लंदन आये। उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर और गोलमेज परिषद की मताधिकार समिति के अध्यक्ष लार्ड लोदियन से उन्होंने विचार-विनिमय किया और अंत में ब्रिटिश-मंत्रिमंडल नें पूना-पैक्ट पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। तब कहीं जाकर गांधीजी ने अपना उपवास तोड़ा।

लोगों की चिंता मिटी और देश ने सुख की सांस ली। लेकिन स्वयं गांधीजी के निकट अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं था। उन्हें अपने भौतिक प्राणों से अधिक लाखों लोगों के नैतिक प्राणों की फिक्र थी। इसलिए उपवास समाप्त करते समय ही उन्होंने यह भी कह दिया कि "यदि उचित समय के भीतर अस्पृश्यता-निवारण-संबंधी सुधार नेकनीयती से नहीं किया गया तो मुझे निश्चय ही नये सिरे से उपवास करना पड़ेगा।" पूना के समझौते के संबंध में उन्होंने अपने हरिजन मित्रों को (गांधीजी के ही शब्दों में, "मैं आगे से उन्हें इसी नाम से पुकारना चाहूंगा") यह विश्वास दिलाया कि "उसका पालन किये जाने के लिए आप मेरे प्राणों को बंधक मानिये।"[1]

पूना पैक्ट के द्वारा दलित जातियों के प्रतिनिधित्व की एक प्रकार की चुनाव-योजना के स्थान पर दूसरे प्रकार की चुनाव-योजना को स्वीकार किया गया। फिर भी गांधीजी के उपवास का इतना शुभ परिणाम हुआ ही कि दलित जातियों के लिए जारी किया गया पृथक् निर्वाचन रद्द हो गया। यदि पृथक् निर्वाचन जारी रहता तो आनेवाले वर्षों में उससे भारतीय समाज को जो क्षति पहुंचती और हिंदू जाति का जिस तरह अंग-भंग और विच्छेद हो जाता, उसकी कल्पना भी भयावह है। अच्छा हुआ कि राजनैतिक जीवन को तोड़ने-फोड़नेवाली यह राष्ट्रीय बुराई उसी समय समाप्त कर दी गई। लेकिन इस समस्या के राजनैतिक और संवैधानिक पक्ष से भी अधिक महत्वपूर्ण था इसका सामाजिक और भावनात्मक पक्ष। दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व की नई चुनाव-योजना तो अगले चार-साढ़े चार वर्ष तक कार्यान्वित न हो सकी, परंतु सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता-निवारण का क्रांतिकारी कार्य तुरंत और तेजी से आरंभ हो गया। उपवास ने सारे हिंदू समाज का 'आत्मिक शुद्धिकरण' कर दिया था। गांधीजी ने तो कहा भी था कि उनके उस उपवास का प्रधान उद्देश्य "हिंदू अंतकरण में ठीक-ठीक धार्मिक कार्यशीलता उत्पन्न करना था।"

इस प्रकार इतिहास के सबसे बड़े समाज-सुधार-आंदोलन का सूत्रपात एक राजबंदी के हाथों हुआ। गांधीजी जानते थे कि सदियों पुराने सामाजिक

---

१ इस संबंध में विस्तृत विवरण जानने के लिए 'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित 'हमारा कलंक' पढ़ना चाहिए।—अनुवादक

अत्याचार को यूंही चुटकी बजाते मिटाया नहीं जा सकता। उपवास का जो शुभ परिणाम हुआ था, उसे ठोस काम और प्रचार-प्रसार के द्वारा स्थायित्व देना और पराकाष्ठा तक ले जाना था, अतएव गांधीजी की प्रेरणा से घन-श्यामदास बिड़ला के सभापतित्व में हरिजनोद्धार के लिए एक अखिल भारतीय संगठन[1] बनाया गया और ठक्करबापा उसके मंत्री नियुक्त हुए। जेल से ही गांधीजी ने अनेक प्रेस-वक्तव्यों और अगणित पत्रों के द्वारा अपने सहयोगियों ओर अनुयायियों को हरिजनोद्धार के पवित्र काम में जुट जाने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि इस संबंध में लोक-शिक्षण और लोक-संग्रह का कार्य निष्ठापूर्वक होना चाहिए। "स्वतंत्रता का संदेश हरेक हरि-जन के घर में पहुचना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब सुधार हर एक गांव में किया जाय।" हरिजन-सेवा और हरिजनोद्धार के आंदोलन को गति देने के लिए उन्होंने अपने अंग्रेजी साप्ताहिक 'यंग इंडिया' के स्थान पर 'हरिजन' आरंभ किया और 'हरिजन सेवक' के नाम से उसका हिंदी संस्करण भी निकाला। वह तो शब्द-कोश से 'अछूत', अस्पृश्य', 'अंत्यज' आदि अपमानजनक शब्दों को ही निकाल देने के पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने दलित वर्गों का नया नामकरण हरिजन—हरि के प्यारे जन—किया। "दुनिया के सभी धर्मों में ईश्वर को मित्रविहीनों का मित्र, बेसहारों का सहारा और दुर्बलों का रक्षक कहा गया है। भारत के अछूत कहे जाने-वाले चार करोड़ हिंदुओं से अधिक मित्र-विहीन, बेसहारा और दुर्बल कौन हो सकता है ?'

हरिजन-सेवा का कार्य शुरू करने के बाद ही गांधीजी को समस्या की जटिलता, कार्य की गुरुता और मार्ग में आनेवाली अपार बाधाओं का वास्त-विक ज्ञान हुआ। युग-युगांत से चली आती इस बुराई को कैसे मिटाया जाय ? अंत में अपने प्रभु से मार्ग-दर्शन पाने और कार्यकर्ताओं को अपना पवित्रता, सेवाभाव और अधिक नेकनीयती के साथ करने में सहायता देने के लिए गांधीजी ने ८ मई, १९३३ को आत्मशुद्धि के निमित्त २१ दिन का उपवास आरंभ किया। सविनय अवज्ञा आंदोलन तो उनकी रिहाई के

---

१ यही संगठन आगे चलकर 'अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ' में विकसित हुआ।—अनुवादक

तत्काल बाद ही उनकी सलाह से छः सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया था। थोड़ी-सी शक्ति आते ही उन्होंने "शांति-स्थापना की संभावनाओं का पता लगाने के लिए" तार द्वारा वाइसराय से मिलने की अनुमति मांगी। लार्ड विलिंगडन ने विनम्रतापूर्वक उनकी इस मांग को ठुकरा दिया। १ अगस्त को गांधीजी पुनः गिरफ्तार कर यरवदा-जेल भेज दिये गए। तीन दिन बाद वह रिहा कर दिये गए, लेकिन उन्हें पूना शहर की सीमा से बाहर जाने की अनुमति नहीं दी गई। इस निषेध-आज्ञा का भंग करने पर वह पुनः गिरफ्तार कर लिये गए। इस बार उनपर मुकदमा चला और एक साल की सजा दी गई। जेल में उन्हें हरिजन-कार्य, जो अब देशव्यापी पैमाने पर एक आंदोलन के रूप में चल रहा था, करने की सुविधाएं नहीं दी गई। उन्होंने इसके विरोध में १६ अगस्त से पुनः उपवास आरंभ किया। पिछले उपवासों से कमजोर तो वह हो ही रहे थे, उनका स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा। सरकार घबराई और उन्हें रिहा कर दिया।

अब गांधीजी ने अपनेको बड़ी ही विषम स्थिति में फंसा हुआ पाया। अगर गिरफ्तार होते हैं तो सरकार जेल में हरिजन-कार्य करने की सुविधा नहीं देती। अगर विरोध में उपवास करते हैं तो सरकार रिहा कर देती है। 'बिल्ली-चूहे का यह खेल' खेलना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। इसलिए उन्होंने यह घोषणा की कि जबतक एक साल की सजा की मियाद पूरी नहीं हो जायगी, वह सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेकर सत्याग्रह नहीं करेंगे।

इस प्रकार अपने राजनैतिक कार्यों पर स्वेच्छा से प्रतिबंध लगाकर गांधीजी ने पूरा समय और पूरी शक्ति हरिजनोत्थान के कार्य में लगादी। १९३३ के सितंबर महीने में वह वर्धा चले आये और साबरमती-आश्रम उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' को दान कर दिया। ७ नवंबर को उन्होंने हरि-जनोत्थान-कार्य के संबंध में सारे देश का दौरा शुरू किया। ९ महीनों में उन्होंने कुल मिलाकर साढ़े बारह हज़ार मील की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान वह देश के ऐसे अंदरूनी और अगम्य भागों में भी गये जहां अभी तक कोई नेता या सार्वजनिक कार्यकर्ता पहुंच नहीं पाया था। उन्होंने सवर्ण हिंदुओं से हरिजनों के संबंध में अपने सारे पूर्वाग्रहों को छोड़ने का अनुरोध

किया। हरिजनों को उन्होंने सलाह दी कि वे मांस खाना, शराव पीना और दूसरी सारी कुरीतियां छोड़ दें। उन्होंने लोगों को समझाया कि हरिजनों को भी मंदिर में जाने की इजाजत मिलनी चाहिए—"माना कि मंदिर पापियों के लिए हैं, हरि के प्यारों और पवित्रात्माओं के लिए नहीं ; पर यह फैसला कौन करे कि हममें कौन पवित्रात्मा है और कौन पापी ?" जन्म से छूत-अछूत और छाया से भी छूत माननेवालों की उन्होंने हर जगह निंदा की—जन्म से ही किसीका शरीर अछूत कैसे हो सकता है ? किसीकी छाया से छूत कैसे लग सकती है ? एक गांव में उनसे कहा गया कि हरिजन स्नान नहीं करते तो उन्होंने वहीं वोलनेवाले का मुंह पकड़ लिया—"नहाने से क्या होता है ? भैंसें तो दिन-भर पानी में ही पड़ी रहती हैं।"

हर क्षण वह हरिजन-फंड के लिए धन-संग्रह करने में लगे रहते, कोई अवसर हाथ से न जाने देते थे। इस महीने में उन्होंने आठ लाख रुपया इकट्ठा कर लिया था। अगर चाहते तो इतनी रकम किसी एक ही महाराजा, मिल-मालिक अथवा करोड़पति से ले सकते थे। लेकिन महत्व पैसे का नहीं, हरिजन-कार्य में ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के सक्रिय सहयोग का था। उनके भिक्षा-पात्र में पाई-पैसा और अन्नी-चवन्नी डालनेवाले लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुष और बच्चे अस्पृश्यता-निवारण-आंदोलन में उनके सहायक और समर्थक बन जाते थे। हर अवसर का उपयोग वह अपने निराले ढंग से जनता को शिक्षा देने में कर लेते थे। मलावार (अव केरल) में, जिसे वह भारत के लिए अस्पृश्यता का कलंक कहा करते थे, जब एक लड़की ने अपनी सोने की चूड़ियां हरिजन-फंड में दे दीं तो उन्होंने उससे कहा था—"तुम्हारा सच्चा आभूषण तो यह त्याग है, वह गहना नहीं, जो तुमने दे दिया।" वे महिलाओं से भाव-मोल करते—"मेरे हस्ताक्षरों की कीमत सिर्फ एक चूड़ी ?" आंध्र प्रदेश के तेलुगुभाषियों को मुक्त हस्त से दान न करते देख उन्होंने उलहना दिया था—"आंध्रवासी स्काटलैंड के निवासियों की तरह कंजूस तो नहीं हैं !" हाथ देखने के इच्छुक एक ज्योतिषी को उन्होंने यह कहकर फटकार दिया—"मैं हरिजन-कार्यकर्ता हूं। मेरा समय फालतू नहीं।" गांव के एक डाक्टर से उन्होंने पूछा था—"आपके पास अस्पृश्यता का भी कोई इलाज है ?"

लेकिन इससे यह धारणा बना लेना कि गांधीजी को अपने हरिजन दौरे में सर्वत्र सफलता मिली, सही नहीं होगा। वह परंपरागत अत्याचार पर आघात कर रहे थे, इसलिए निहित स्वार्थों का बौखलाकर प्रत्याघात करना स्वाभाविक ही था। सनातनियों ने गांधीजी का विरोध करने में कोई कसर बाकी न छोड़ी। उन्होंने गांधीजी को धर्म का द्रोह करनेवाला, नास्तिक, पाखंडी, पापी, भ्रष्ट और क्या नहीं कहा। उन्होंने गांधीजी को काले झंडे दिखाये; उन्होंने उनकी सभाओं में विघ्न डाला और शोर मचाकर उन्हें बोलने से रोका। ये थोड़े-से सिरफिरों या उत्तेजित लोगों का हंगामा नहीं, अहिंसा के पुजारी को बदनाम और असफल करने की सुविचारित योजनाएं थीं। वे चाहते थे कि गांधीजी के अनुयायी किसी तरह उकसावे में आकर हाथ छोड़ बैठें या पुलिस को ही बुला लें और उन्हें गांधीजी की अहिंसा का पर्दाफाश करने का मनचाहा अवसर मिल जाय। १९३४ के मई महीने में वह पुरी पहुंचे और वहां से उन्होंने उड़ीसा का शेष दौरा पैदल ही करने का निश्चय किया। लोगों ने कहा कि इस तरह तो आप बहुत थोड़े गांवों में जा सकेंगे तो उन्होंने जवाब दिया था कि थोड़े ही सही, परंतु उन्हें ज्यादा अच्छी तरह देख और जान सकूंगा। इससे दो लाभ हुए—एक तो रेल-मोटर के भीड़-भड़क्के और शोरगुल से उन्हें मुक्ति मिल गई, दूसरे, उन्होंने अपनेको पूरी तरह विरोधियों के हाथ में सौंप दिया—यह था विरोधियों को परास्त करने का उनका अपना ढंग।

२५ जून, १९३४ को गांधीजी बाल-बाल बचे। वह अपने दलसहित पूना म्युनिसिपैलिटी का मानपत्र ग्रहण करने के लिए दो मोटरकारों से म्युनिसिपल हॉल की ओर जा रहे थे। एक व्यक्ति ने, जिसका पता अंत तक नहीं लग सका, उनके दल के लोगों पर बम फेंका। गांधीजी तो बच गये, लेकिन म्युनिसिपल अधिकारी सहित सात लोगों को गहरी चोटें आईं। गांधीजी ने उस 'बेचारे' बम फेंकनेवाले पर 'रहम खाते' हुए कहा था—"शहीद होने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं है, लेकिन अपने विश्वास की रक्षा और कर्त्तव्य का पालन करते हुए मरना भी पड़े तो मैं उसे अपना सौभाग्य समझूंगा।"

सनातनियों का विरोध कम न हुआ और दलित जातियों के बहुत-से

नेताओं का रुख भी आलोचनात्मक ही रहा, परंतु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि गांधीजी युगों पुरानी अछूत-प्रथा की जड़ें हिलाने में सफल हुए। उस समय के मदरास के प्रमुख कांग्रेसी नेता चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने 'क्रांति की पूर्णाहुति' नामक अपने एक लेख में लिखा था— "अस्पृश्यता अभी मिटी नहीं है; लेकिन वास्तव में क्रांति पूरी हो गई है और अब तो केवल मलवे को हटाने का काम रह गया है।" यह अतिरंजना या आशातिरेक ही था, लेकिन इसमें तो कोई संदेह नहीं कि हरिजनोत्थान का काम अच्छी गति से आरंभ हुआ और तेजी से बढ़ता जा रहा था। १९३७-३९ के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने हरिजनों के हित में कुछ कानून बनाकर उनके मार्ग की बहुत-सी बाधाओं को दूर कर दिया; और स्वतंत्र भारत[1] के संविधान में तो अस्पृश्यता को गैर-कानूनी और अपराध ही घोषित किया गया। सदियों से गहरी जड़ें जमाये हुए सामाजिक अन्याय और अत्याचार के खिलाफ वैधानिक, सामाजिक और आर्थिक सभी मोर्चों पर सतत संघर्ष की आवश्यकता थी और आनेवाले कई वर्षों तक यह लड़ाई सभी मोर्चों पर बराबर लड़ी जाती रही।

: ३२ :

ग्रामीण अर्थव्यवस्था

सविनय अवज्ञा आंदोलन तो यों भी शिथिल होता जा रहा था और जब गांधीजी ने १९३२ की सर्दियों में अछूतों के सवाल पर आमरण

[1] गांधीजी 'हरिजन' के पहले ही अंक से निम्नलिखित को ध्येय-वाक्य के रूप में प्रकाशित करते रहे थे—"अब भविष्य में हिंदू जाति में किसीको जन्म से अस्पृश्य नहीं समझा जायगा और जिन्हें अबतक अस्पृश्य समझा जाता रहा है, उन्हें अन्य हिंदुओं की भांति ही कुओं, पाठशालाओं, सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग करने का अधिकार रहेगा। मौका मिलते ही इस अधिकार को कानून का स्वरूप दे दिया जायगा और यदि पहले न दिया गया तो स्वराज्य पार्लामेंट का पहला कानन इस संबंध में होगा।" —अनुवादक

अनशन आरंभ किया तो राष्ट्र का ध्यान इस ओर से बंटकर उधर केंद्रित हो गया। हरिजन-कार्य अपेक्षाकृत निरापद भी था, इसलिए कई कांग्रेसजनों ने बड़ी प्रसन्नता से उसे अपना लिया। मई १९३३ में सविनय अवज्ञा का अस्थायी रूप से स्थगित किया जाना पूरे आंदोलन के लिए घातक हो गया। बदले में व्यक्तिगत सत्याग्रह अवश्य आरंभ किया गया था, लेकिन सरकार ने उसे कोई खास महत्व नहीं दिया, क्योंकि इससे उसे कोई विशेष परेशानी नहीं हुई थी। सरकार के कठोर दमन ने देश को कुछ समय के लिए लुंज अवश्य कर दिया था, पर अधिकांश कांग्रेसजनों का ऐसा खयाल था कि यदि गांधीजी ने अपनी कार्यनीति के नैतिक पक्ष पर इतना अधिक जोर देने के बदले उसके राजनैतिक पक्ष पर पूरा जोर दिया होता तो सरकार को अवश्य घुटने टेक देने पड़ते! कांग्रेसजनों ने अहिंसा को स्वराज्य-प्राप्ति के लिए महज एक नीति के रूप में स्वीकार किया था, बल-प्रयोग न करने के लिए वे राजी हो गये थे; लेकिन गांधीजी ने अपने-आपको जितने नैतिक बंधनों से बांध लिया था, उससे उन लोगों को बड़ी झुंझलाहट होती थी। मई १९३३ में गांधीजी ने खुले आम गुप्त कार्य की निंदा की और उसे सत्याग्रह के सर्वथा प्रतिकूल बताया, जबकि सरकारी दमन के मारे हाल यह था कि छिपकर कांग्रेस का काम करना भी लगभग असंभव ही हो गया था।

जनता तो चट मंगनी और पट ब्याह के लिए बेचैन थी—वह त्वरित परिणाम चाहती थी। १९२० के असहयोग-आंदोलन की तेजी और जोश का खास कारण था 'एक साल में स्वराज्य' का नारा। १९३० और उसके बाद १९३२ में भी जनता ने यही आशा लगा रखी थी कि सविनय अवज्ञा की लड़ाई थोड़े दिन चलेगी और जल्दी-से उसका मनचाहा नतीजा सामने आ जायगा। सविनय अवज्ञा के बारे में जनता की धारणा गांधीजी की परिकल्पना से सर्वथा भिन्न थी। गांधीजी सविनय अवज्ञा को सत्याग्रह का अंग और सत्याग्रह को जीवन का ऐसा तरीका समझते थे, जिसके द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी तरह की समस्याओं को हल किया जा सकता था। उन्होंने सत्याग्रह को विज्ञान की संज्ञा दी थी, लेकिन एक जीवित, सतत विकासशील और सदा निर्मित होते रहनेवाला विज्ञान। उसके कोई बंधे-सधे नुस्खे तो थे नहीं। समस्याओं के बने-बनाये तैयार

समाधान हुआ भी नहीं करते। सत्याग्रही को सत्य की शोध करनी होती है, उसे सहेजना होता है, उसके लिए निरंतर कार्य करना होता है और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए कष्ट भी झेलने होते हैं।

क्रांतिकारी आंदोलन, चाहे वह अहिंसात्मक ही क्यों न हो, उसके उफान और जोश को अनिश्चित काल तक कायम नहीं रखा जा सकता। लगभग ७८ हजार कांग्रेस-जन जेल गये थे। हजारों ने अपने सुख-चैन को देश पर न्यौछावर कर दिया था और कइयों के स्वास्थ्य ही नहीं, घर-बार भी चौपट हो गये थे। यदि स्वतंत्रता की उमंग अधिक बलवती होती तो जेल जाने-वालों की कमी न होती, कड़ा-से-कड़ा दमन सत्याग्रहियों के जेल की ओर जाते हुए प्रवाह को रोक न पाता, लेकिन गांधीजी को अफसोस इस बात का नहीं था कि थोड़े लोग जेल गये, संख्या को वहां महत्व नहीं देते थे, उन्हें तो यह शिकायत थी कि अहिंसात्मक रहते हुए भी आंदोलनकारियों के दिलों में ब्रिटिश जाति के प्रति घृणा के भाव विद्यमान रहे। उनका कहना था कि ब्रिटिश राज्य का विरोध करनेवालों में से यदि थोड़े-से भी लोग इस घृणा-भावना से मुक्त हो जाते तो वे अपने शासकों का हृदय-परिवर्तन करने में अवश्य सफल होते। सविनय अवज्ञा के चार वर्ष के बाद भी अंग्रेजों का हृदय-परिवर्तन नहीं हो पाया था, उनकी कटुता, कठोरता और कांग्रेस के प्रति संदेहशीलता पहले से ही थी, और आतंकवाद अब भी यहां-वहां सिर उठा रहा था। अंत में गांधीजी इस नतीजे पर पहुंचे कि जनता अहिंसा के उनके संदेश को ठीक तरह से आत्मसात् नहीं कर पाई, इसलिए देश को अहिंसा-व्रत में पूरी तरह दीक्षित करने के लिए सविनय अवज्ञा को स्थगित कर उसके स्थान पर रचनात्मक कार्यक्रम आरंभ करना उचित होगा।

गांधीजी का यह विश्वास भी दृढ़ होता गया कि उनके कुछ अनुयायियों को उनके तरीकों और विचारों से अरुचि हो गई है और उनसे सहमत न होते हुए भी वे उनकी नीतियों को स्वीकार करने का बहाना करते हैं। उनका ऐसा खयाल भी होता जा रहा था कि कांग्रेस पर उनका व्यक्तित्व इस कदर छा गया है, जिससे उसके जनवादी ढंग से काम करने में बाधा पहुंचती है। अनुयायियों की ऐसी श्रद्धा-भक्ति को न वह उचित समझते थे और न सहन ही कर सकते थे। और फिर अकेला सविनय अवज्ञा का

स्थगन ही मतभेद का कारण नहीं था। दृष्टिकोण-संबंधी मतभेद तो और भी कई थे, लेकिन जबतक सरकार से संघर्ष चलता रहा, वे दबे पड़े रहे, तीव्रता से उभरकर ऊपर नहीं आये। आंदोलन के शिथिल होते ही मतभेदों ने उग्र रूप धारण कर लिया। अस्पृश्यता-निवारण के संबंध में गांधीजी के नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण को उनके बहुत-से अनुयायी सही नहीं मानते थे। जब गांधीजी ने चरखा चलाने पर फिर से ज़ोर देना शुरू किया और उसे "राष्ट्र का दूसरा फेफड़ा" कहा तो उनके अनेक सहयोगियों को उनकी यह बात भी उचित नहीं लगी। उदीयमान समाजवादी गुट को वह स्वयं अविश्वास की दृष्टि से देखते थे और उसे 'जल्दबाजों' की टोली कहते थे।

लेकिन कांग्रेस के बुद्धिजीवीवर्ग और उनके विचारों में सबसे अधिक अंतर था अहिंसा के प्रश्न को लेकर। उन्हें यह देखकर बड़ी पीड़ा होती थी कि लगातार पन्द्रह वर्ष तक सिखाने और आचरण करने के बाद भी अपने-को गांधी-मतावलंबी कहनेवाले लोग अहिंसा को न तो ठीक से समझ पाये थे और न अपना ही सके थे। सामूहिक सविनय अवज्ञा आम कांग्रेस-जन को ज़रूर पसन्द आई थी, लेकिन वह तो गांधीजी की अहिंसात्मक कार्य-प्रणाली का सिर्फ एक अंग थी। रचनात्मक कार्यक्रम उसका दूसरा पहलू था, जिसे अधिकांश कांग्रेसजन अराजनैतिक समझते थे।

इन मतभेदों के ही कारण गांधीजी अक्तूबर १९३४ में कांग्रेस से अलग हो गये। उन्होंने सरदार पटेल को लिखा था—"मैं नाराज़ होकर, तैश में आकर या निराशा के कारण पृथक् नहीं हो रहा हूं।" वह कांग्रेस को आज़ाद कर रहे थे और अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए खुद आज़ाद हो रहे थे। उसके बाद के तीन वर्ष उन्होंने राजनैतिक कार्यों में नहीं, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन, मनन और ग्रामोद्धार के काम में लगाये।

अक्तूबर १९३४ की बंबई कांग्रेस ने जहां गांधीजी के इस्तीफे को मंजूर किया, वहीं उनके निर्देशन में अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ की स्थापना का प्रस्ताव भी पास किया। 'ग्रामोद्योग-संघ कांग्रेस की राजनैतिक हल-चलों से परे रहकर' ग्रामोद्योग की रक्षाऔर उन्नति एवं गांवों के नैतिक तथा आर्थिक उत्थान के लिए काम करने के उद्देश्य से बनाई गई थी। गांधीजी अपनी और कांग्रेस की गति-विधियों को जो नई दिशा दे रहे थे, यह प्रस्ताव

उसीका सूचक था।

१६१५ में भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के बाद से ही गांधीजी गांवों के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर जोर देते आ रहे थे। जमीन पर वेहद दवाव और सहायक उद्योगों के अभाव के कारण गांवों में कभी छः तो कभी वारहों महीने वेकारी बनी रहती थी। किसानों की यह घोर दरिद्रता गांधीजी को एक क्षण भी चैन नहीं लेने देती थी। चरखे से किसानों को तात्कालिक राहत मिल जाती थी, इसीलिए गांधीजी उसका इतना समर्थन और प्रचार करते थे। अखिल भारत चर्खा संघ की स्थापना गांधीजी ने ही की थी और उसके कामों में अपना काफी समय और शक्ति लगाते रहे थे। इस संस्था ने दस वर्षों में अपना कारवार खूब बढ़ा लिया था। ५३०० गांवों में इसकी शाखाएं थीं और इसने कुल मिलाकर २,२०,००० कताई करनेवालों, २०,००० बुनकरों और २०,००० धुनकियों को रोज़ी-रोटी दी थी और गांवों में दो करोड़ रुपये से भी ज़्यादा का भुगतान किया था। आज के युग में, जबकि सरकारी योजनाओं के अंतर्गत काफी बड़े-बड़े काम किये जा रहे हैं। ये आंकड़े उतने महत्वपूर्ण नहीं लगेंगे, लेकिन जिस ज़माने में विदेशी शासन पग-पग पर बाधाएं पहुंचा रहा हो, एक संस्था का इतना ठोस काम निस्संदेह प्रशंसनीय कहा जायगा।

गांधीजी बहुत अच्छी तरह जानते थे कि अखिल भारत चरखा संघ ने जो कुछ किया है, वह गांवों की ग़रीबी को देखते हुए केवल समंदर में बूंद की तरह था। असली काम था गांवों की आमूल आर्थिक क्रांति और अब गांधीजी इसी दिशा में प्रवृत्त होना चाहते थे। हरिजन-यात्रा के दौरान में उन्होंने देखा और अनुभव किया था कि ग्रामीण उद्योगों के नष्ट हो जाने से सबसे अधिक हानि हरिजनों को उठानी पड़ी थी। वे आर्थिक दुरवस्था की अन्तिम सीमा तक पहुंच गये थे। इस प्रकार गांधीजी के अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम का एक आर्थिक पहलू भी था। हरिजनों की आर्थिक स्थिति को उन्नत किये बिना उनका उद्धार असंभव ही था। इस दृष्टि से भी ग्रामोद्योगों का पुनर्विकास गांधीजी के निकट अत्यंत आवश्यक और अपरिहार्य हो गया था। जिस स्वदेशी व्रत का देश की राजनैतिक चेतना और जोश को बढ़ाने में इतना अधिक हाथ था, अब १६३४-३५ में गांधीजी ने उसे एक नये

अर्थ-बोध से मंडित कर दिया। उन्होंने कहा कि स्वदेशी का मतलब यही नहीं है कि वस्तु-विशेष देश में बनी हुई हो, बल्कि वह गांव की बनी हुई होनी चाहिए। उन्होंने नगरनिवासियों से अनुरोध किया कि वे अपने दैनिक उपभोग की वस्तुओं को ध्यान से देखें कि उनमें कौन स्वदेशी और कौन विदेशी है और एक-एक करके उन्हें गांव की बनी चीज़ों से बदलते चले जायं। सफाई के ब्रुश की जगह झाड़ू काम आ सकती है, 'टूथ ब्रुश' की जगह नीम या बबूल की दातौन का इस्तेमाल हो सकता है, कारखाने के पालिश किये हुए चावल के बदले हाथकुटे चावल का, कारखाने की चीनी के बदले गुड़ का और मिल के काग़ज़ की जगह हाथ के बने कागज का उपयोग किया जा सकता है। गांव की बनी चीज़ें कुछ महंगी हो सकती हैं, लेकिन उनकी मज़ूरी और मुनाफा भी तो गांववालों को ही मिलेगा, जिन्हें रोजी-रोटी की इतनी अधिक आवश्यकता है। गांधीजी ने लिखा भी था—"नगरवालों के लिए गांव अछूत हैं। नगर में रहनेवाला गांव को जानता भी नहीं। वह वहां रहना भी नहीं चाहता। अगर कभी गांव में रहना पड़ ही जाता है तो शहर की सारी सुविधाएं जमा करके उन्हें शहर का रूप देने की कोशिश करता है। अगर वह तीस करोड़ ग्रामवासियों के रहने लायक शहरों का निर्माण कर सके तो यह कोशिश बुरी नहीं कही जायगी।"

भारत की ८५ प्रतिशत जनसंख्या गांवों में रहती थी, इसलिए उनका आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान देश को विदेशी शासन से मुक्त करने की आवश्यक शर्त थी। शहर द्वारा गांव के शोषण को गांधीजी ने हिंसा का ही एक रूप माना था। उनका कहना था कि शहर और गांव के बीच के आर्थिक और सामाजिक अंतर को मिटाना ही होगा। इसके लिए उनका सुझाव था कि शहर से कार्यकर्ताओं को गांवों में जाना चाहिए और वहीं बसकर गांवों के म्रियमाण या मरणशील उद्योगों को पुनर्जीवित करपोषण, शिक्षा और सफाई के स्तर को उन्नत करना चाहिए। गांधीजी चाहते थे कि गांवों में काम करनेवाले कार्यकर्ता गांववालों की तरह रहें, उन्हें गांववालों की ही तरह थोड़े में गुज़र करना चाहिए। यदि उन्होंने अपनी गुज़र-बसर के लिए ज्यादा पैसा मांगा तो गांववालों का दिवाला ही पिट जायगा।

गांधीजी जो कहते थे सबसे पहले स्वयं उसपर आचरण करके दिखाते थे। इसलिए उन्होंने वर्धा से थोड़ी दूर सेगांव में बसने का निश्चय किया। यह बहुत ही छोटा और पिछड़ा हुआ गांव था। जनसंख्या मुश्किल से ६०० होगी। न पक्की सड़क थी, न कोई दुकान और न डाकखाना ही। सेठ जमनालाल बजाज की इस गांव में कुछ ज़मीन थी। गांधीजी ने उस ज़मीन पर अपने रहने के लिए एक छोटी-सी कुटिया बना ली। वर्षाकाल में जो उनसे यहां मिलने के लिए आते थे, उन्हें कीचड़ में चलकर आना पड़ता था। यहां की आबहवा भी बहुत ख़राब थी। पेचिश और जूड़ी बुखार ने गांव में किसीको भी नहीं छोड़ा था। गांधीजी खुद बीमार पड़ गये, लेकिन सेगांव न छोड़ने का उनका प्रण अटल रहा। वह यहां अकेले ही आये थे। कस्तूरबा तक को साथ नहीं आने दिया था। सेगांव के निवासियों में से ही वह ग्राम-कार्यकर्ताओं का अपना दल बनाना चाहते थे। लेकिन अपने नये-पुराने शिष्यों को सेगांव आने और वहां बसने से वह रोक भी न सके। १९३७ में जब डॉ० जान माट सेगांव गये तो वहां अकेली गांधीजी की कुटिया थी। थोड़े ही दिनों में उसके आस-पास बांस के टट्टरों और गारे-मिट्टी की कई झोंपड़ियां बन गईं। उस बस्ती के निवासियों में प्रो० भंसाली थे, जिन्होंने अपने ओंठ सी लिये थे और जंगलों में नंगे घूमा करते थे और सिर्फ नीम की पत्तियां खाकर गुज़र करते थे। मॉरिस फ्राहटमेन नामक एक पोलैंड-निवासी सज्जन थे, जो हस्तशिल्प और गृहोद्योग पर आधारित अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था के गांधीवादी आदर्श से प्रभावित होकर गांधीजी के शिष्य बन गये थे। संस्कृत के एक प्रकांड विद्वान् थे, जिन्हें कुष्ट रोग हो गया था, और गांधीजी स्वयं उनकी परिचर्या करते थे, इसलिए अपनी कुटिया के पास ही उन्होंने उनकी झोंपड़ी बनवा दी थी। एक जापानी साधु भी थे, जो (महादेव देसाई के शब्दों में) घोड़े की तरह काम करते और तपस्वी की तरह रहते थे। शायद इसीलिए वल्लभभाई पटेल सेगांव को 'आदमियों का चिड़ियाघर' कहते थे और गांधीजी ने उसे कई बार 'रोगियों का घर' कहा था।

शीघ्र ही सेगांव का नाम बदलकर सेवाग्राम हो गया। सेवाग्राम को आश्रम का रूप देने की बात गांधीजी के मन में कभी आई ही नहीं। इसी-लिए वहां आश्रम-जीवन के नियम-कानूनों की पाबंदी कभी नहीं रही।

स्वभाव और समझ में भारी वैषम्य और ज्ञान तथा शिक्षा-दीक्षा में भारी अंतर होते हुए भी वे चित्र-विचित्र लोग गांधीजी के प्रति अपने-अपने स्नेह और श्रद्धा-भक्ति के जोर से एवं ग्राम-सेवा के समान आदर्श से अनुप्रेरित होकर वहां खिंचे चले आये थे। यह चित्र-विचित्र मेला गांधीजी की अहिंसा की प्रयोगशाला थी। महादेवभाई के शब्दों में, "वह अहिंसा को राजनीति के व्यापक क्षेत्र में लागू करने से पहले यहां प्रयोग के द्वारा परखकर देख लिया करते थे। यदि अहिंसा इस घरेलू स्तर पर खरी उतरी तो राजनीति में उसकी सफलता असंदिग्ध हो जाती और यही वजह थी, जिसके कारण बापू सेवाग्राम लौट आने के लिए इतने अधीर रहा करते थे। यहां उन्हें अहिंसा के अपने परीक्षण और नये-नये प्रयोग करने की पूरी स्वतंत्रता थी। यह सच है कि उनकी प्रयोगशाला के उपकरण जटिल थे और इसलिए उनका काम काफी कठिन हो जाता था, लेकिन साथ ही यह भी सच है कि कठिनाई जितनी ज्यादा होती थी, उस बड़े काम को करने की उनकी क्षमता और सामर्थ्य भी उतनी ही बढ़ जाती थी।"

सेवाग्राम शीघ्र ही गांधीजी की ग्राम-कल्याण योजनाओं का केन्द्र बन गया। वहां और उसके आस-पास गांवों में समाज-सुधार और आर्थिक उन्नति का काम करनेवाली बहुत-सी संस्थाओं का निर्माण हुआ। अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ का प्रधान कार्यालय मगनवाड़ी (वर्धा) में रखा गया। कम पूंजी और सिर्फ गांव की ही मदद से चल सकनेवाले उद्योगों की सहायता, विकास और विस्तार के लिए इस संस्था ने वहां ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं का एक प्रशिक्षण-केन्द्र भी शुरू किया। 'ग्रामोद्योग पत्रिका' के नाम से यह संस्था अपना एक पत्र भी प्रकाशित करने लगी। इसी तरह गो-सेवा-संघ, हिंदुस्तानी तालीमी संघ, महिलाश्रम, तेल-घानी केन्द्र आदि और भी कई संस्थाएं थीं।

भारत के सात लाख गांवों को गरीबी, बीमारी और अज्ञान के अभिशापों से मुक्त करना आसान काम नहीं था। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों में निरंतर काम, काम और काम करते रहने की जरूरत थी। ग्रामोद्योगों से गांववालों की बेकारी मिटाई जा सकती थी, उन्हें रोजी मिलती और इस तरह गांवों की क्रय-शक्ति में वृद्धि होती। साथ ही ग्रामोद्योगों के माध्यम से गांव-

वालों की निष्क्रियता, जड़ता और आलस्य को भी मिटाया जा सकता था। गांधीजी ने लिखा था—"सेगांव के चारसौ वयस्क अगर मेरे कहने के अनुसार काम करें तो साल में आसानी से दस हजार रुपया कमा सकते हैं। लेकिन वे काम करेंगे ही नहीं। सहयोग करना वे जानते नहीं। बुद्धिपूर्वक श्रम करने का उन्हें ज्ञान नहीं। नई कोई बात वे सीखना नहीं चाहते।"

पोषण अथवा पुष्टिकर आहार की समस्या पर भी गांधीजी बराबर लिखते और भाषण देते रहे थे। जब विद्यार्थी थे तभीसे वह भोजन और उपवास के प्रयोग अपने-आपपर करने लग गये थे। पुष्टिकर भोजन की समस्या का महत्व उनके निकट उस समय और भी बढ़ गया जब उन्होंने यह देखा कि भारतीयों को पूरा पोषण न मिल पाने की वजह गरीबी ही नहीं, भोजन के पोषण-तत्त्वों के संबंध में उनका घोर अज्ञान भी है। हरी सब्जियों के रहते, और जो सब जगह बड़ी आसानी से मिल जाया करती थीं, वह विटामिनों की कमी का कोई बहाना सुनने को तैयार न थे। भारतीय वैज्ञानिकों से भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में भारतीयों के भोजन पर अनुसंधान करने का अनुरोध वह बराबर करते रहे। 'एक अनुभवी रसोइये' के नाते उन्होंने भोजन पकाने के ऐसे तरीकों के बारे में लिखा, जिनसे भोजन के पोषक तत्व नष्ट नहीं होते और चक्की के आटे से हाथ के पिसे आटे एवं मिल के चावल से हाथकुटे चावल की श्रेष्ठता पर भी हमेशा ज़ोर देते रहे। उन्होंने एक बार कहा भी था—"कपड़ा-मिलें अपने पीछे बेकारी लाईं और आटे तथा चावल की मिलें पोषक तत्त्वों की कमी से होनेवाली बीमारियां।"

गांधीजी जानते थे कि शहर के बुद्धिजीवी वर्ग की सक्रिय सहायता के बिना गांवों का उद्धार असंभव है। इसलिए उन्होंने कांग्रेस को अपने वार्षिक अधिवेशन गांवों में करने की सलाह दी। फैजपुर-कांग्रेस इस दिशा में पहला कदम था। उसके बाद तो हरिपुरा, त्रिपुरी आदि कई अधिवेशन ग्रामीण-क्षेत्रों में हुए और होते जा रहे हैं। गांधीजी का कहना था कि ग्रामीण क्षेत्रों के अधिवेशन में शहरों का हो-हल्ला और भीड़-भड़क्का नहीं होता, कटीले तारों का खर्च बच जाता है, क्योंकि गांव की बागुड़ों से घेरेबंदी का काम हो जाता है और गांवों के हस्तशिल्प और कुटीर-उद्योगों की प्रदर्शनियों से

दर्शकों का मनोरंजन ही नहीं, ज्ञानवर्द्धन भी होता है।

हर समस्या को वह गांव की आवश्यकता और ग्रामीणों के दृष्टिकोण से देखते-समझते थे और उसका ग्रामोपयोगी हल खोजते थे। कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि पूर्णतः ग्राममूलक थी। स्वराज्य उनके निकट ग्राममूलक था और शिक्षा भी ग्राममूलक थी। उस समय की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से वह पूरी तरह असंतुष्ट थे और उसे अनुपयुक्त और बरबादी कहा करते थे। एक तो देश की बहुसंख्यक जनता के लिए शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी और दूसरे वह जीवन से इतनी कटी-छंटी और अनुपयोगी होती थी कि गांव की प्राथमिक पाठशाला में पढ़नेवाले पढ़ाई छोड़ने के कुछ ही समय बाद सब पढ़ा-लिखा भूल जाते थे—वह आगे कभी उनके काम ही नहीं आता था।

ऊंची कक्षाओं में अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। इससे ग्रामीणों और उच्च शिक्षा पाये हुए लोगों के बीच एक दीवार खड़ी हो गई थी। जो वास्तव में जनोपयोगी हो, ऐसी शिक्षा-प्रणाली निर्धारित करने के लिए प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन जाने पर गांधीजी ने कांग्रेसी शिक्षा-मंत्रियों और शिक्षाशास्त्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया था। उसने 'बुनियादी शिक्षा प्रणाली' के नाम से जो सिफारिशें की थीं, उनके पक्ष और विपक्ष में बहुत-कुछ कहा गया, लेकिन इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि प्रचलित शिक्षा-पद्धति की रूढ़िबद्धता को मिटाने का वह एक स्तुत्य प्रयत्न था।[1]

ग्रामोत्थान श्रम-साध्य और समय-साध्य कार्य था—बराबर लगे रहो, रात-दिन एक कर दो तब कहीं जाकर ज़रा-सा परिणाम दिखाई देता था। गांधीजी ने ठीक ही कहा था कि यह घोर उद्यमशील व्यक्तियों के लिए भी चींटी की चाल-जैसा काम है। इस काम की न अखबार में खबरें छपती थीं और न इससे सरकार को कोई परेशानी ही होती थी। गांधीजी के कई सहयोगियों का कहना था कि ऐसे निरापद काम से स्वाधीनता-प्राप्ति के लक्ष्य में क्या सहायता मिल सकती है? यह तो मुख्य राजनैतिक सवाल को

१ बुनियादी शिक्षा प्रणाली या 'वर्धा-योजना' पर अगले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

उलझन में डालकर गौण समस्याओं की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करना हुआ। गांधीजी ने इसका यह जवाब दिया था—"मेरी समझ में नहीं आता कि जब सरकार की आर्थिक नीतियों का ऊहापोह राजनैतिक काम माना जा सकता है तो ग्रामोत्थान की अत्यंत आवश्यक समस्याओं पर सोचना-विचारना और उनका हल खोजना राजनैतिक क्यों नहीं है ?"

गांधीजी के ग्राम-विकास-कार्य की ज्यादा तीखी और कुछ गंभीर किस्म की आलोचना यह कहकर की जाती थी कि वह विज्ञान और उद्योग की प्रगति से मुंह मोड़कर जिस आदिकालीन अर्थ-नीति की सिफारिश कर रहे हैं वह तो देश को गरीबी के गड्ढे से कभी उबरने ही न देगी। 'हिंद स्वराज्य' में गांधीजी ने मशीनों, कारखानों और औद्योगिक सभ्यता की बड़ी कड़ी आलोचना की थी। लेकिन बाद के चालीस वर्षों में उनके विचारों में काफी परिवर्तन और विकास हुआ। अहिंसा की दृष्टि से उन्होंने मशीनों की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर काफी मनन किया और इस नतीजे पर पहुंचे कि मशीनीकरण से धन और संपत्ति थोड़े-से लोगों के हाथों में केंद्रित हो, जाती है। एक ऐसे देश में, जहां काम कम और करनेवाले ज्यादा लोग हों मशीनों से आम जनता की गरीबी और बेकारी बढ़ती ही जाती है। यदि मशीनों से देश की गरीबी और बेकारी मिट सकती "तो वह बड़ी-से-बड़ी मशीनों के उपयोग का समर्थन करने को तैयार थे।" वह कहते थे कि 'मास प्रोडक्शन' (बड़े पैमाने पर उत्पादन) और 'प्रोक्डशन फार दि मासेज़' (जनता के लिए उत्पादन) में बड़ा अंतर है। मुक्त उद्यम के अंतर्गत बड़े पैमाने पर उत्पादन तो अमीरों को ज्यादा अमीर और गरीबों को ज्यादा गरीब बना देता है। वह मशीन मात्र के विरोधी नहीं थे। यों तो जिस चरखे को वह इतना मानते और महत्व देते थे, वह भी एक तरह से मशीन या यंत्र ही था, लेकिन वह जनता को लाभ पहुंचानेवाला यंत्र था, हानि पहुंचानेवाला नहीं। वह ऐसे सरल यंत्रों और उपकरणों का स्वागत करते थे, जो मानवी अवयवों को दुर्बल किये बिना लाखों-करोड़ों ग्रामवासियों के बोझ को हलका कर सकें। सिलाई की मशीन को वह इसी कोटि की मशीन समझते थ। लेकिन इस तरह की मशीनों के निर्माण के लिए बड़े कारखानों और फैक्टरियों की जरूरत पड़ती है, इस बात को भी वह जानते थे। उनका कहना

था कि "मैं इस हद तक तो समाजवादी हूं ही कि ऐसे सब कारखाने या तो राष्ट्रीयकृत होने चाहिए या राज्य द्वारा नियंत्रित। वहां काम करने की हालतें अच्छी होनी चाहिए और उनमें काम करनेवालों को सभी मानवोचित सुविधाएं मिलनी चाहिए। ऐसे कारखानों को मुनाफे के लिए नहीं, जनता के लाभ के लिए चलाना चाहिए। उनका प्रेरक उद्देश्य लोभ नहीं, प्रेम होना चाहिए।"

१९३१ में जब गांधीजी गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए लंदन गये थ तो प्रख्यात् सिने-अभिनेता चार्ली चैप्लिन ने उनसे भेंट की थी। आधुनिक मशीनों और मशीनीकरण के संबंध में उनकी गांधीजी से जो रोचक बात-चीत हुई उसका विवरण महादेवभाई ने प्रस्तुत किया है— "मान लीजिये कि भारत में उसी ढंग की आज़ादी कायम हो जाय जैसी रूस में है और देश के बेकारों को दूसरा काम दिया जा सके और धन-संपत्ति का समान बंटवारा भी किया जा सके तब तो आप मशीनों का विरोध नहीं करेंगे न ?" चार्ली चैप्लिन ने पूछा था। "बिलकुल नहीं।" गांधीजी ने जवाब दिया था। यह सच है कि गांधीजी औद्योगीकरण की बुराइयों के कारण उसका विरोध करते थे—आम मजदूर बेकार हो जाते हैं और धन-संपत्ति थोड़े-से हाथों में सिमट जाती है। लेकिन साथ ही इस तरह के आर्थिक संगठन पर आधारित समाज-रचना के अनिष्टकारी प्रभाव भी उनके ध्यान में थे। गांधीजी के अहिंसात्मक समाज के आदर्श का मूलाधार राजनैतिक सत्ता का विकेंद्रीकरण था और हजारों गांवों में उत्पादन के विकेंद्रीकरण से वह घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ। गांधीजी की राय में केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन करनेवाले और आर्थिक असमताओं से मुक्त छोटे समुदायों में ही मानवी (भौतिक नहीं) संबंधों पर आधारित सच्चा जनवाद संभव था। पश्चिम की औद्योगिक क्रांति ने एक देश में मुट्ठी-भर लोगों द्वारा बहुसंख्यक जनता के और विश्व में औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा पिछड़े हुए देशों के शोषण की प्रक्रिया को बहुत तेज़ कर दिया था। औद्योगिक दृष्टि से खूब उन्नत समाज में आर्थिक और राजनैतिक संघटन भी अत्यधिक केंद्रीभूत हो गये थे और वहां सैन्यवाद का खतरा भी बहुत बढ़ गया था। इसलिए गांधीजी की राय

में अहिंसात्मक समाज का संगठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि आंतरिक असमानताओं और तनावों को समाप्त किया जा सके और बाहर से आक्रमण का कोई कारण न रहे। आर्थिक विकेंद्रीकरण को आधार मानकर ही ऐसे समाज की रचना हो सकती थी। इस संबंध में गांधीजी ने लिखा भी था—"कारखानों की सभ्यता पर अहिंसात्मक समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। केवल आत्म-निर्भर गांवों पर ही उसका निर्माण हो सकता है। यदि हिटलर चाहे तब भी वह सात लाख अहिंसात्मक गांवों का विनाश नहीं कर सकता। ध्वंस की उस प्रक्रिया में स्वयं उसीको अहिंसावादी बन जाना होगा। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की जो मेरी कल्पना है, उसमें शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है और इसीलिए हिंसा भी नहीं है, क्योंकि शोषण से ही हिंसा का उदय होता है। इसलिए अहिंसामूलक होने से पहले ग्राममूलक होना आवश्यक है।"

आदर्श भारतीय गांव की गांधीजी की कल्पना एक ऐसे 'गणतंत्र' की थी, जो अपनी मुख्य आवश्यकताओं के लिए पड़ोसियों पर निर्भर न हो, यों अन्य मामलों में पारस्परिक निर्भरता तो रहेगी ही। जो अपने खाद्यान्न और कपास और अतिरिक्त भूमि उपलब्ध होने पर नकदी फसलें पैदा करता हो; यथासंभव जिसकी गति-विधियां सहकारिता पर आधारित हों, जिसकी अपनी पाठशाला, सार्वजनिक सभा-भवन और नाट्यगृह हों; जहां निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा हो, निर्वाचित पंचायत झगड़े निपटाती हो और बारी-बारी से चुने हुए रक्षक गांव का पहरा देते हों।

'वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आधारित जनवाद' की इस कल्पना को निरा आदर्श कहकर चुटकियों में उड़ाया जा सकता है, लेकिन गांधीजी के निकट तो अहिंसात्मक समाज का यही एकमात्र रूप था और दूसरे लोग इसका जो चाहे नामकरण करें, उन्हें इस बात की ज़रा भी चिंता नहीं थी। भारतीय समाजवादी गांधीजी के इन विचारों की अक्सर आलोचना करते थे, लेकिन गांधीजी अपने-आपको किसी समाजवादी से कम नहीं समझते थे। उनका दावा था कि जहांतक समाजवाद का प्रश्न है, उसे वह दूसरे कई भारतीय समाजवादियों से बहुत पहले ही अपना चुके थे। "लेकिन मेरा समाजवाद किताबों का नकली समाजवाद नहीं, सहज और स्वाभाविक

समाजवाद है। अहिंसा में मेरी दृढ़ आस्था से वह उत्पन्न हुआ है। अहिंसा का आचरण करनेवाला ऐसा कोई आदमी हो ही नहीं सकता, जो सामाजिक अन्याय का विरोधी न हो।"

हिंसा अथवा वर्ग-युद्ध की अनिवार्यता में उनका विश्वास नहीं था। उनका तो यह दावा था कि अहिंसात्मक कार्रवाइयों से जिस प्रकार विदेशी शासन का अंत किया जा सकता है, उसी प्रकार सामाजिक अन्याय को भी मिटाया जा सकता है। हिंसा का परित्याग करने मात्र से उनका समाजवाद निरर्थक नहीं हो जाता था, गहन मानवीयता और शांतिपूर्ण पद्धतियों के बावजूद उसके परिणाम क्रांतिकारी होते थे। मुट्ठी-भर संपत्तिशालियों को अपना लोभ छोड़कर सारे समाज के हित में काम करने के लिए कैसे बाध्य किया जा सकता था? पहला कदम था उन्हें समझाने-बुझाने का। यदि उससे काम न चले तो अंत में अहिंसात्मक असहयोग करने का। जिस प्रकार कोई सरकार जनता के सहयोग के बिना चल नहीं सकती, चाहे वह सहयोग जनता स्वेच्छा से दे या जोर-जबर्दस्ती से, उसी प्रकार शोषितों के सक्रिय अथवा निष्क्रिय सहयोग के बिना आर्थिक शोषण भी कभी संभव नहीं होता। गांधीजी ने ठोस वास्तविकताओं से मुह मोड़कर सिद्धांतों का आसरा कभी नहीं लिया। अपने आस-पास की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के ही अनुसार उनके विचारों और सिद्धांतों का निर्माण हुआ करता था।

गांवों का कमर-तोड़ गरीबी से उद्धार करना ही उनका मुख्य ध्येय था। मुट्ठीभर शहरों को और भी संपन्न करने के लिए गांवों का शोषण और दोहन होता रहे, यह उन्हें ज़रा भी स्वीकार नहीं था। विशालकाय कारखानों के चक्कों को चलाने की अपेक्षा वह गांवों की हर झोपड़ी में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और शहरों के लिए भी माल तैयार करनेवाले कुटीर उद्योगों के गुंजन को अधिक श्रेयस्कर मानते थे। यदि ग्रामोद्योगों के द्वारा स्विट्जरलैंड और जापान के हजारों-लाखों ग्रामीणों को उनके घरों पर रोजी और काम दिया जा सकता है तो भारत में क्यों नहीं दिया जा सकता?

भारत में और उन देशों में एक बुनियादी फर्क जरूर था। वे स्वतंत्र

थे और यहां एक विदेशी सरकार थी, जिसमें न इतनी सूझ-बूझ थी, न इतना उत्साह और न उसके पास ऐसा कोई संगठन ही था, जिसके द्वारा गांवों की अर्थ-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किया जाता। उस सरकार का तो यह हाल था कि जब राजनीति छोड़कर गांधीजी ने गांवों में काम शुरू किया तो उनकी इस निर्दोष गति-विधि को ग्रामीण क्षेत्रों में देशव्यापी सविनय-अवज्ञा आंदोलन की तैयारी की कपट चाल ही समझा गया।

उधर राजनीति का घटना-चक्र भी चलता ही रहा। नये विधान को लागू करने की तिथि १ अप्रैल, १९३७ निश्चित की गई थी। गांधीजी की इस नये विधान के बारे में कोई बहुत ऊंची राय नहीं थी, इसके असली स्वरूप को वह शुरू से ही जानते थे, लेकिन ज्यों-ज्यों चुनाव के दिन पास आते गये, वह सोचने लगे कि क्या इस विधान की त्रुटियों के बावजूद जनता की हालत को सुधारने में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता?

: ३३ :

कांग्रेस द्वारा पदग्रहण

प्रांतीय स्वराज्यवाला नया विधान, जिसके अंतर्गत देश को सीढ़ी-दर-सीढ़ी स्वशासन देने की योजना बनाई गई थी, ब्रिटिश पार्लामेंट ने १९३५ में पास किया और १९३७ में वह भारत में लागू किया गया। १९१९ के सुधारों में, दस वर्षों के बाद देश की संवैधानिक स्थिति पर विचार करने की गुंजाइश रखी गई थी। १९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति के द्वारा, अवधि पूरी होने के दो साल पहले ही, इस दिशा में प्रयत्न आरंभ कर दिये गए थे; लेकिन नया विधान तैयार करने और उसे लागू करने में पूरे दस साल लग गये। इस एक दशाब्दि में देश में क्या-कुछ नहीं हुआ। असंतोष का ज्वार उमड़ा, दो-दो देशव्यापी सत्याग्रह हुए और सरकारी स्तर पर बीसियों सम्मेलन और आयोग नये विधान की रूप-रेखा तैयार करने में माथा लड़ाते रहे।

ब्रिटेन में 'भारतीय प्रश्न' को लेकर खासा विवाद उठ खड़ा हुआ था।

विंस्टन चर्चिल विरोधियों के अगुआ थे। वह भारत को स्वशासन देना ब्रिटिश साम्राज्य के ही नहीं, भारतीय जनता के साथ भी गद्दारी करना समझते थे। उनके विचारों में भारतीय राजनीतिज्ञों की अपेक्षा भारत ब्रिटिश नौकरशाहों के हाथों में कहीं सुरक्षित था। गांधी-इर्विन-समझौते पर तो वह आगबबूला ही हो गये थे और लार्ड इर्विन को खूब आड़े हाथों लिया था। लार्ड विलिंगडन के सख्ती से काम लेने के वह सबसे बड़े हिमायती थे और चाहते थे कि सरकार ने जो विजय प्राप्त की है उसे और भी पुख्ता कर लेना चाहिए। भारत में अंग्रेजों के एक भी अधिकार को छोड़ने और भारतीय देशभक्तों की एक भी मांग को स्वीकार करने के पक्ष में वह नहीं थे। ब्रिटिश मंत्रिमंडल में भारत के उपनिवेश-मंत्री सर सेम्युअल होर को ही सबसे अधिक चर्चिल के विरोध का सामना करना पड़ता था, क्योंकि पार्लमिंट में नये संविधान कानून को पास कराने का सारा भार उन्हींपर था। उन्होंने चर्चिल की मनोवृत्ति का बड़ा ही यथार्थ विश्लेपण किया है—"क्लाइव, विलिंगटन, लारेंस और किपलिंग के जमाने के भारतीय साम्राज्य की शानदार स्मृतियों ने उनकी आंखों पर पर्दा डाल रखा था। वह वर्तमान भारत की परिवर्तित परिस्थितियों को बिलकुल ही नहीं देख पा रहे थे। उनकी आंखों के आगे भारत का जो चित्र था, वह आज का नहीं, उस जमाने का या जब वह वहां सैनिक सेवाओं में थे और अंग्रेज अफसरों का काम हुआ करता था पोलो खेलना, सूअर का शिकार करना और सीमा-रक्षा की फौजी कार्रवाइयों में हिस्सा लेना। उन दिनों रियाया सरकार को माई-बाप और महारानी को देवी का अवतार समझा करती थी।"[1]

१८९० के बाद और १९३० के बाद के भारत में जमीन-असमान का अंतर हो गया था। इस अंतर का कारण समय का व्यवधान ही नहीं, भारतीय राजनीति पर गांधीजीके कृतित्व और व्यक्तित्व की गहरी छाप भी थी। लेकिन चर्चिलसाहब इतिहास के अपने प्रकांड ज्ञान के बावजूद इतनी मोटी-सी बात को समझ नहीं पाते थे। इसका कारण भी स्पष्ट था। चर्चिल थे रणनीति-कुशल राजनीतिज्ञ। वह गांधीजी की धार्मिकता और सत्य-अहिंसा की नीतियों को निरा ढकोसला समझते थे और भारत पर शासन करने के

१ टेंपलवुड, लार्ड (सर सेम्युअल होर)—'नाइन ट्रबल्य ईयर्स, पृष्ठ ९८

ब्रिटेन के नैतिक अधिकार को गांधीजी की चुनौती से तिलमिला जाते थे।

नये विधान में वाइसराय और गवर्नरों के हाथ में जो 'सरक्षण' और विशेषाधिकार दिये गए थे, वह जनवाद का मज़ाक ही था। भारतीयों को इस बात पर सख्त नाराज़गी थी। लेकिन इंगलैंड में प्रेस और पार्लामेंट ने इनके विरोध में इतना हो-हल्ला मचा रखा था कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल के लिए अपना बचाव करना मुश्किल हो गया था और बड़ी मुश्किलों से वह इस विधान को वहां पास करवा सके थे। ब्रिटिश सरकार की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए इंग्लैंड के समाचार-पत्र 'मैंचेस्टर गार्जियन' ने लिखा था कि अंग्रेज न तो भारत पर शासन कर सकते हैं, न उसे छोड़ सकते हैं। इसलिए "ऐसा विधान बनाना आवश्यक हो गया, जो भारतीयों को स्वशासन मालूम पड़े और अंग्रेजों को ब्रिटिश राज।"

इस नये विधान में कुछ अधिकार तो जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को सौंपे गये थे और कुछ सरकार ने अपने पास रखे थे, जिससे इसकी हालत उस मोटर-गाड़ी-जैसी हो गई थी, जिसके ब्रेक चांपकर 'लो गियर' में चला दिया गया हो। विधान के अंतर्गत भविष्य में बननेवाले भारतीय संघ में प्रांतों के साथ-साथ रियासतों को भी नत्थी करके संघ की विधान-मंडल में उन्हें एक-तिहाई स्थान दिया गया था। मानी हुई बात थी कि रियासतों में चुनाव और प्रातिनिधिक संस्थाएं न होने से उनके प्रतिनिधि राजाओं द्वारा नामज़द व्यक्ति होते, जबकि राजा स्वयं ही अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटिश सरकार के कृपाकांक्षी थे। ऐसे विधान पर भारतीय नेताओं का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। फिर संघीय विधान-मंडल के अधिकार भी सीमित थे। सैनिक व्यय, सरकारी कर्मचारियों के वेतन और भत्ते, ब्याज की दरें आदि बजट के महत्वपूर्ण मुद्दे संघीय विधान-मंडल के अधिकार-क्षेत्र में नहीं रखे गए थे, परंतु वित्त और कुछ दूसरे मामलों में उनके अधिकारों को भी काफी सीमित कर दिया गया था और गवर्नरों को मंत्रियों के निर्णय को बदलने अथवा रद्द करने का अधिकार दिया गया था।

इन बंधनों और सीमाओं के ही कारण पं० जवाहरलाल नेहरू ने उस विधान को 'गुलामी का परवाना' कहा था। लखनऊ-कांग्रेस में उन्होंने घोषणा की थी कि नये विधान में भारतीयों को जिम्मेदारियां तो सौंपी

गई हैं, अधिकार नहीं दिये गए। लेकिन कांग्रेस ने फिर भी नये विधान के अंतर्गत चुनाव लड़ने का फैसला किया। अपने चुनाव घोषणा-पत्र में कांग्रेस ने इस नये विधान को रद्द करने और राजनैतिक स्वतंत्रता पर आधारित एवं विधान-परिषद द्वारा निर्मित जनवादी विधान की मांग की। प्रश्न उठ सकता है कि जब कांग्रेस नये विधान को रद्द करने की मांग कर रही थी तो उसने इसके अंतर्गत चुनाव क्यों लड़ा? इसका एक कारण तो यह था कि कांग्रेस ने कौंसिलों का मोर्चा पूरी तरह राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों के हाथ में छोड़ना उचित नहीं समझा, और फिर कांग्रेस के अंदर एक ऐसा शक्तिशाली पक्ष भी था, जिसे नये विधान की सीमाओं में भी प्रांतों में रचनात्मक काम करने की काफी संभावनाएं दिखाई दे रही थीं।

आम चुनाव के नतीजे फरवरी १९३७ में मालूम हुए। संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और मदरास में कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत था। बंबई में उसने लगभग आधे स्थानों पर कब्जा कर लिया था और मैत्री भाव रखनेवाले दलों के साथ मिलकर अपनी सरकार बना सकती थी। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और आसाम में वह सबसे बड़ी पार्टी थी।

कांग्रेस के घोषणापत्र में इस बात का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं था कि यदि कांग्रेस ने प्रांतीय कौंसिलों में बहुमत प्राप्त कर लिया तो उसे क्या करना चाहिए। मंत्रिमंडल बनाने के सवाल पर गहरा मतभेद था। विरोधी पक्ष का कहना था कि नये विधान में मिलना-मिलाना तो कुछ है नहीं। लोगों को राहत कुछ दी नहीं जा सकेगी, खाली बदनामी सिर पड़ेगी और जनता का यह जीवित क्रांतिकारी संगठन जन-संपर्क से विच्छिन्न होकर महज एक 'माडरेट' दल बनकर रह जायगा। प्रांतों में सरकार बनाने के समर्थकों का कहना था कि विधान में कमजोरियां और खामियां जरूर हैं, लेकिन कौंसिलों का नेतृत्व सरकार और उसके पिट्ठुओं के हाथ में छोड़ देना बहुत बड़ी भूल होगी। विधान जैसा भी है, उससे जनता की जितनी सेवा की जा सके, करनी चाहिए और इन समर्थकों का ऐसा विश्वास था कि सीमाओं के बावजूद नये विधान का उपयोग जनहित में किया जा सकता है। इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय के लिए मार्च १९३७ में कार्यसमिति और प्रांतीय कौंसिलों के कांग्रेसी सदस्यों का एक

संयुक्त सम्मेलन किया गया। उस सम्मेलन में यह तय पाया गया कि यदि प्रांतीय कौंसिलों में कांग्रेस पार्टी के नेताओं को इस बात से संतोष हो और वह यह सार्वजनिक घोषणा कर सकें कि गवर्नर हस्तक्षेप के अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग नहीं करेंगे और "वैधानिक कार्रवाइयों के संबंध में" मंत्रियों की सलाह की अवहेलना नहीं की जायगी तो कांग्रेस प्रांतों में मंत्रिमंडल बना सकती है।

कौंसिलों और पद-ग्रहण के प्रश्न पर गांधीजी के विचारों ने भी उक्त निर्णय को काफी हद तक प्रभावित किया था। १९३७ में जब पद-ग्रहण के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद जोरों पर था तो उन्होंने लिखा था—"लोगों को यह बात समझनी चाहिए कि कौंसिलों का बहिष्कार सत्य और अहिंसा की तरह कोई शाश्वत सिद्धांत नहीं है। इनके प्रति मेरा विरोध कुछ कम हुआ है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मैं अपनी पहलेवाली स्थिति में पहुंच रहा हूं। यह प्रश्न कार्यनीति-संबंधी है और मैं तो केवल यही कह सकता हूं कि किसी खास अवसर पर क्या करना सबसे ज्यादा जरूरी है।"

और उस समय गांधीजी की राय में रचनात्मक काम ही सबसे ज्यादा जरूरी था। उन दिनों गांधीजी की गतिविधि अराजनैतिक होते हुए भी काफी महत्वपूर्ण थी—वह देहातों के लिए शुद्ध-स्वच्छ पानी, सस्ता पुष्टिकर आहार, उपयुक्त शिक्षा-प्रणाली और आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था का प्रबंध करने में लगे थे। वह यह देखने को बहुत उत्सुक थे कि सारी खामियों के बावजूद क्या नया विधान ग्रामोत्थान के इस कार्यक्रम को आगे बढ़ा सकेगा? उनका खयाल था कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल अपने-अपने प्रांतों में ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देने, शराबबंदी लागू करने, किसानों के बोझों को घटाने, खादी के उपयोग को बढ़ावा देने, शिक्षा-प्रसार और अस्पृश्यता-निवारण आदि के काम तो कर ही सकते थे।

गांधीजी का कहना था कि कौंसिल-प्रवेश और पदग्रहण का उद्देश्य होना चाहिए जनता को राहत पहुंचाना और रचनात्मक काम करना, न कि सरकार के रास्ते में कांटे बोना। नये विधान के अंतर्गत जो कुछ रचनात्मक काम किया जा सके, उसे करने की उनकी आकांक्षा ही थी, जिसने अंत में कांग्रेस को पद-ग्रहण के लिए प्रेरित किया। लेकिन शुरू-शुरू में सर-

कार हस्तक्षेप न करने का आश्वासन देने को राजी न हुई। सरकारी पक्ष के निकट ऐसा आश्वासन नये विधान को क्षति पहुंचानेवाला ही समझा गया। लार्ड लिनलिथगो ने अगस्त १९३६ में एक भारतीय भेंटकर्ता से कहा भी था कि वह स्वयं तो विधान में एक अल्प विराम भी इधर-से-उधर नहीं कर सकते।[1] लेकिन कांग्रेस बिना आश्वासन पाये मंत्रिमंडल बनाने को प्रस्तुत नहीं थी। इसलिए वाइसराय ने एक लंबा वक्तव्य दिया, जिसमें आश्वासन तो कोई नहीं था, परन्तु बात को कुछ इस तरह घुमा-फिराकर कहा गया था, जिससे कांग्रेसी सदस्यों के संदेह काफी अंश तक निर्मूल हो गये।

बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत, उड़ीसा और मदरास—इन छः प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का बनना देश के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। जो राजनैतिक दल ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए प्रणबद्ध था, वह छः सूबों में शासन करने को राजी हो गया था। प्रयोग वैसा विस्फोटक नहीं था जैसी कि आशंका की जाती थी। कांग्रेसी मंत्रिमंडल संकट पैदा करने के अवसर खोजने के बजाय कांग्रेस के चुनाव-घोषणा-पत्र में उल्लिखित सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम को पूरा करने में लगे रहे। गांधीजी की सारी दिलचस्पी इसी कार्यक्रम में थी और कांग्रेसी मंत्रियों के कार्य की कसौटी भी उन्होंने इसीको बना रखा था। अपने निजी जीवन में गरीब देश की जनता के अनुरूप सादगी और मितव्ययिता को अपनाने की उन्होंने कांग्रेसी मंत्रियों को सलाह दी। और यह आग्रह भी किया कि मंत्रियों को "अध्यवसाय, योग्यता, सचाई, निष्पक्षता, दक्षता एवं कार्यक्षमता आदि आवश्यक सद्गुणों का अपने में विकास करना चाहिए।"

गांधीजी ने दो बातों पर विशेष रूप से जोर दिया और आशा प्रकट की कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल इन्हें अवश्य पूरा करेंगे। उनमें एक थी शिक्षा और दूसरी थी शराबबंदी। शराब के दुर्गुणों और अनिष्टकारी परिणाम से गांधीजी भली प्रकार परिचित थे। औद्योगिक मजदूर और अधभूखे किसान अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा शराब में बहा देते थे और उनके बच्चे दूध के लिए तरसा करते थे। शिक्षा के बारे में उनके अपने विचार थे, जिनपर उन्होंने प्रयोग भी किये थे। दक्षिणी अफ्रीका की फिनिक्स-बस्ती और टाल्स्टाय-फार्म में वह

[1] बिड़ला, घनश्यामदास : 'गांधीजी की छत्रछाया में, पृष्ठ २०७

बच्चों के स्कूल चलाने में मदद भी कर चुके थे। उनका विश्वास दृढ़ हो चला था कि स्कूलों में किताबी पढ़ाई पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है और छात्रों के चरित्र-निर्माण एवं उन्हें हुनर सिखाने पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अक्तूबर १९३७ में गांधीजी ने प्रान्तों के कांग्रेसी शिक्षा-मंत्रियों और देश के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में बुलाया और उनके समक्ष अपने शिक्षा-संबंधी विचारों को रखा। उनके विचारों पर आधारित प्राथमिक शिक्षा की एक विस्तृत योजना तैयार की गई। बुनियादी शिक्षा की यह योजना वर्धा-योजना के नाम से प्रसिद्ध है और जिस समिति ने उसे तैयार किया था उसके अध्यक्ष भारत के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डा० जाकिर हुसैन थे।

शिक्षा की वर्धा-योजना ने भारतीय शिक्षा को गतानुगति के गर्त से उबारने और नये प्रगतिशील आधारों पर प्रस्थापित करने की दिशा में सोचने के लिए प्रशासकों और शिक्षा-शास्त्रियों को प्रेरित किया। लेकिन इस योजना की आलोचना भी हुई। शिक्षा में शारीरिक श्रम और हस्त कौशल को इतना अधिक महत्व देने से क्या पढ़ाई-लिखाई की हानि न होगी क्या शिक्षकों को मुखिया बनना भी होगा ? गांधीजी ने वर्धा-योजना के आलोचकों के संदेहों का निवारण करते हुए कहा कि बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को कारीगर बनाना नहीं, बल्कि हस्त-कौशल और उनके उपकरणों के द्वारा शिक्षा देना है। गांधीजी ने इसे पुस्तकीय शिक्षा से सर्वथा भिन्न श्रममूलक शिक्षा कहा था। उन्होंने यह भी कहा कि बुनियादी शिक्षा के अंतर्गत पाठशालाओं का प्रयोजन बिक्री के लिए अनगढ़ वस्तुएं तैयार करना नहीं है। लेकिन प्राथमिक स्तर के छात्रों में उन्होंने किसी हुनर का ज्ञान आवश्यक माना और यदि उनकी बनाई वस्तुओं की बिक्री से पाठशाला का खर्च चलाने में अथवा शिक्षकों का वेतन देने में थोड़ी-बहुत सहायता हो सके तो इसे उन्होंने एक अतिरिक्त अच्छाई बताया। सारा जोर किताबी पढ़ाई के स्थान पर हाथ और आंख के उपयोग को समन्वित करनेवाली सच्ची और स्थायी शिक्षा पर था, क्योंकि प्रचलित किताबी पढ़ाई तो इतनी अस्थायी होती थी कि ग्रामीण बालक पाठशाला छोड़ने के कुछ ही दिनों बाद सब पढ़ा-लिखा भूल जाते थे और जो याद रह भी जाता वह

उनके दैनिक जीवन में कुछ काम न आता था।

जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो न तो नेताओं को पता था, न सरकार को ही कि प्रान्तों में इस नई साझेदारी के ठीक-ठीक क्या परिणाम होंगे और यह किस तरह चल पायगी। पुराने इतिहास को, जो पारस्परिक झगड़ों और कटुता से परिपूर्ण था, भुला देना दोनों ही पक्ष के लिए आसान नहीं था। लेकिन रोज साथ काम करने से बीच की बहुत-सी दीवारें ढहती गईं। महादेवभाई ने बिड़लाजी को लिखा था—"जरा सोचिये तो सही कि अहमदाबाद का कमिश्नर गैरेट मुरारजीभाई का स्वागत करने स्टेशन जाता है और उनके साथ रेल के तीसरे दर्जे में काफी दूर तक यात्रा भी करता है।[1] प्रान्तों में लगभग आधे आई० सी० एस० अफसर यूरोपियन थे। उन्हें काफी मोटी तनख्वाहें मिलती थीं और विधान के अंतर्गत उनकी नौकरियां सुरक्षित थीं, फिर भी कइयों ने प्रान्तीय स्वराज्य और कांग्रेसी मंत्रियों के अनुकूल अपनेको ढालने-बनाने की पूरी-पूरी कोशिश की। चारों ओर फुर्ती और जोश दिखाई देने लगा। शासन के जनवादी स्वरूप के कारण प्रांतीय सचिवालय के एक्जीक्यूटिव अफसरों का काम बहुत अधिक बढ़ गया। शासन के दैनंदिन कामों में स्थानीय नेता भी थोड़ा दखल देने लगे थे। अंग्रेज अफसर एक बार पहले प्रान्तों में द्वैध शासन-प्रणाली के अंतर्गत काम कर चुके थे, वे अब अपनेको प्रांतीय स्वराज्य के अनुकूल बनाने की कोशिश करने लगे, यद्यपि इसमें उन्हें परिश्रम बहुत करना पड़ता था। मनमानी करनेवाले जिलाधिकारियों का राजपाट खतम होने लगा। अब वे पहले की तरह ब्रिटिश सरकार के खैरख्वाहों को इनाम-इकराम, जगह-जागीर और खिताब, मनसब आदि नहीं दे सकते थे। साम्राज्य की शाही परम्पराओं में पले-पुसे नौकरशाहों के लिए ऐसी स्थिति को स्वीकार करना सरल नहीं होता था। उस समय के अंग्रेज नौकरशाहों की मनःस्थिति का सिर्फ एक ही वाक्य में एक आई० सी० एस० अफसर फिलिफ मेसन ने यों वर्णन किया है—"जहां हुकूमत की हो, वहां मुलाजमत करना बड़ा मुश्किल होता है।"[2] देर अबेर-कांग्रेस और सरकार में संघर्ष तो होना था, लेकिन उस

---

१ बिड़ला, घनश्यामदास : 'गांधीजी की छत्रछाया में' : पृष्ठ २४३

२ वुडरफ, फिलिप : 'द गार्जियन', लंदन १९५५, पृष्ठ २४

समय टलता रहा, क्योंकि कांग्रेस पदारूढ़ होकर सामाजिक और आर्थिक सुधारों के जोश में थी और सरकार भी अंतर्राष्ट्रीय अस्थिरता के वातावरण में प्रान्तों के स्थिर शासन को गड़बड़ी में नहीं डालना चाहती थी। लेकिन दूसरे महायुद्ध के छिड़ते ही संकट मुंह बाये सामने आ खड़ा हुआ और कांग्रेस एवं सरकार के क्षणिक सहयोग का तत्काल अन्त हो गया। यहां साम्प्रदायिक समस्या पर विचार कर लेना समीचीन होगा, क्योंकि इस समस्या ने भारतीय राजनीति को युद्ध और उसके बाद के समय में भी काफी हद तक प्रभावित और विकृत भी किया है।

: ३४ :

पाकिस्तान का प्रादुर्भाव

१९३१ की गोलमेज परिषद के भारतीय प्रतिनिधि जब समस्या का कोई सर्वसम्मत हल न निकाल पाये तो ब्रिटिश सरकार ने १९३७ में सांप्रदायिक निर्णय का अपना हल उनपर थोप दिया। इस निर्णय के द्वारा मुस्लिम नेताओं की सभी मुख्य मांगें स्वीकार कर ली गईं। इस निर्णय में सांप्रदायिक मताधिकार (पृथक् निर्वाचन) का समावेश कांग्रेसी नेताओं को ज़रा भी न सुहाया, लेकिन जबतक कोई सर्वसम्मत हल न निकाला जा सके तबतक के लिए कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया। आशा तो यही की गई थी कि खामियों के बावजूद सांप्रदायिक निर्णय से हिंदू-मुस्लिम विवाद को समाप्त कर जन-शक्ति को रचनात्मक कार्य की ओर मोड़ने में सहायता मिलेगी, लेकिन अगले दस वर्षों की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि उससे सांप्रदायिक विवाद मिटने के बजाए अधिकाधिक उग्र और विषम ही होता चला गया।

इस दशाब्दि के इतिहास, हिंदू-मुस्लिम समस्या और पाकिस्तान के उद्भव को जिन्नासाहब के व्यक्तित्व और उनकी नीतियों के बिना ठीक से समझ पाना प्रायः असंभव है। ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिनों में हिंदू-मुस्लिम विरोध का इस तरह उभरना शायद स्वाभाविक और अवश्यंभावी

ही था। राजनैतिक शब्दावली में वह 'उत्तराधिकारों की लड़ाई' थी। लेकिन सांप्रदायिक समस्या ने भारतीय राजनीति को जैसा गलत मोड़ दिया और उसके जो अनिष्टकारी परिणाम हुए, उसका मुख्य कारण कायदे आजम जिन्नासाहब ही थे।

मुहम्मदअली जिन्ना गांधीजी से उम्र में छः साल छोटे थे। गांधीजी की तरह उन्होंने भी विलायत में कानून का अध्ययन किया था, लेकिन वह गांधीजी की तरह धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति नहीं थे। उनकी रुचि मुख्यतः राजनीति में ही थी। वह अपनी जवानी में दादाभाई नौरोजी के व्यक्तित्व से प्रभावित और प्रेरित होकर राजनीति में आये थे। गोखले के वह मित्र थे। बंबई में वकालत और राजनैतिक कार्य करने लगे थे। चालीस-बयालीस की उम्र में वह देश के उच्चकोटि के राजनैतिक कार्यकर्ता और नेता माने जाते थे। १६१६ की लखनऊ-कांग्रेस में लीग और कांग्रेस के बीच समझौता उन्हींके प्रयत्नों का सुफल था। उन दिनों जिन्नासाहब सारे देश में 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता के मसीहा' के नाम से पुकारे जाते थे।

असेंबली के सदस्य की हैसियत से और उसके बाहर भी जिन्नासाहब सदैव राष्ट्रीयता का पृष्ठपोषण करते थे। वह होमरूल आंदोलन में भी शरीक हुए थे और पहले महायुद्ध में भारतीय सहायता के बदले पूर्ण औपनिवेशक स्वराज्य की शर्त का उन्होंने समर्थन किया था। १६१६ में उन्होंने रौलट बिल का विरोध किया। पंजाब और तुर्की के मामले में वह ब्रिटिश सरकार की नीति के कड़े आलोचक रहे, पर गांधीजी के खिलाफत आंदोलन में शरीक नहीं हुए। असल में कांग्रेस में जैसे ही गांधीजी का वर्चस्व और प्रभाव बढ़ा वह उससे अलग हो गये। भारत के दूसरे नरम नेताओं की भांति जिन्नासाहब भी कांग्रेस को सुशिक्षित, संपन्न भारतीय बुद्धि-जीवियों की संस्था बनाये रखने के पक्ष में थे—साल में एक बार बढ़िया अंग्रेजी में बहस-मुबाहसा और लच्छेदार भाषण फटकार दिये, वे अखबारों में छप गये, सरकार का ध्यान आकर्षित हो गया और छुट्टी। जीवन में सिर्फ एक बार (दिसंबर १६१८ में) उन्होंने बंबई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन के विदाई-समारोह की सार्वजनिक सभा के विरोधी प्रदर्शन में भाग लिया था। जन-आंदोलन से वह अपनेको हमेशा दूर और काफी ऊंचाई पर रखते

थे। जब गांधीजी ने जन-आंदोलन शुरू किया और उसमें शहर और गांवों के लाखों अनपढ़ लोग हिस्सा लेने लगे तो जिन्नासाहब ने कहा था, "मैं तो इसके नतीजे की बात सोचकर ही कांप उठता हूं—तबाही में अब कसर ही क्या रह गई है ?"

जिन्नासाहब को गांधीजी की राजनीति से ही नहीं, उनकी धार्मिकता, आत्म-निरीक्षण, विनम्रता, अपनी मर्जी से अपनाई हुई गरीबी सत्य और अहिंसा आदि से भी बड़ी चिढ़ थी। उनके विचारों और आदर्शों से गांधीजी के इन सद्गुणों का कहीं भी मेल नहीं बैठता था, इसलिए वह इस सबको गांधीजी की राजनैतिक चाल और पाखंड कहकर दुर-दुराया करते थे। एक बार जिन्नासाहब ने लुई फिशर से कहा था कि "होमरूल सोसाइटी में नेहरू ने मेरे नीचे काम किया और गांधी ने भी लखनऊ में लीग-कांग्रेस के समझौते के समय मेरे हाथ के नीचे काम किया है।" इससे पता चलता है कि उन्हें गांधीजी से यह शिकायत भी थी कि उन्होंने राजनीति में प्रवेश कर उन्हें (जिन्ना को) अनुचित उपायों से प्रमुख स्थान से परे ढकेल दिया। यह तो मानना ही होगा कि जिन्नासाहब १९१६ में मुल्क की बड़ी हस्तियों में थे, लेकिन १९२० में, उनका प्रभाव एकदम खत्म होगया। ऐसा अकेले जिन्नासाहब के साथ नहीं, और भी कई माडरेट नेताओं के साथ हुआ, क्योंकि गांधीजी के व्यक्तित्व और नीतियों के कारण जन-सामान्य का प्रबल प्रवाह राजनीति में उमड़ पड़ा था और उसमें केवल जनता के सच्चे नेता ही टिक सकते थे।

१९२० के बाद के वर्षों में जिन्नासाहब सेंट्रल असेंबली में एक स्वतंत्र दल के नेता की हैसियत से सरकार और कांग्रेस के बीच संतुलनकारी शक्ति बन गये थे, और यह ऐसा काम था, जिसे वह बड़ी ही कुशलता से कर सकते थे। हिंदू-मुस्लिम एकता की बातें वह जरूर करते थे, लेकिन सरकार हो या कांग्रेस, जो भी उनसे सहयोग मांगता, उससे कड़ी कीमत वसूल करते थे और इस तरह अपनी कीमत को बराबर बढ़ाते जाते थे। नेहरू-रिपोर्ट में सांप्रदायिक समस्या का जो हल सुझाया गया था, उसका उन्होंने जबर्दस्त विरोध किया, यहांतक कि १९२८ में नेहरू-रिपोर्ट को ही खत्म कर देना पड़ा। १९३३-३४ के गांधीजी के सविनय अवज्ञा आंदोलन की उन्होंने उतनी ही मुखालफत की, जितनी पहले असहयोग-आंदोलन की कर चुके

थे। गोलमेज परिषद के वह भी एक सदस्य थे, परंतु वहां भी अपनी ढपली अलग ही बजाते रहे। सर सैम्युअलहोर ने कहा भी है कि "वह किसीके साथ मिलकर काम करने को राजी ही नहीं होते थे।" गोलमेज परिषद के बाद उन्होंने भारतीय राजनीति को नमस्कार किया और इंग्लैंड में ही बस गये। लेकिन जैसे ही नये विधान के अंतर्गत आम चुनाव का समय आया, वह भारत लौट आये और उन्होंने मुस्लिम लीग का चुनाव में मार्ग-दर्शन किया। लीग को उस चुनाव में मुसलमानों के पांच प्रतिशत से ज्यादा मत नहीं मिले, लेकिन इस करारी हार के बावजूद जिन्नासाहब ने अगले चार वर्षों में अपनी स्थिति को ऐसा मजबूत कर लिया कि भारत की संवैधानिक प्रगति की कोई बात उनकी रजामंदी के बगैर की ही नहीं जा सकती थी।

कई प्रांतों में बहुमत से जीतने के बाद जब गांधीजी ने १९३७ की ग्रीष्म ऋतु में कांग्रेस को पद-ग्रहण का आशीर्वाद दे दिया तो कांग्रेसजनों ने फैसला किया कि वह कहीं भी संयुक्त मंत्रिमंडल नहीं बनायंगे। उनके अपने ही मत इतने अधिक थे कि दूसरों की मदद से मंत्रिमंडल बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह आशंका भी थी कि संयुक्त मंत्रिमंडल के आपसी समझौतों और झगड़ों के कारण कहीं कांग्रेस कमजोर न हो जाय और यदि हो गई तो देश को स्वतंत्र करने का काम पिछड़ जायगा। फिर प्रांतीय कौंसिलों के कुल ४५० मुस्लिम स्थानों में से कांग्रेस केवल ५८ स्थानों पर चुनाव लड़ी और २६ स्थानों में विजयी हुई थी। कांग्रेस ने मुस्लिम कौंसिलरों को भी अपने मंत्रिमंडल में लिया, लेकिन तभी जब उन्होंने कांग्रेस के प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत कर दिये। इस फैसले का औचित्य जो भी रहा हो एक तो यह गांधीजी की सलाह के खिलाफ किया था और दूसरे इसने मुस्लिम लीग और खास तौर पर जिन्नासाहब को बहुत नाराज कर दिया। जिस पृथक् निर्वाचन पर उन्होंने इतनी आशाएं लगा रखी थीं, वह एक तरह से बेकार ही हुआ। न तो मुसलमान कांग्रेस में शरीक हो सके और न उन्हें शासन में मनचाहा हिस्सा ही मिला।

अब तो जिन्नासाहब की झुंझलाहट का कोई पार न रहा। १९३७ के बाद के उनके भाषणों और लेखों की उग्रता उनके रोष को बहुत अच्छी तरह प्रकट करती है। वह क्रोधावेश में एक के बाद एक ऐसे काम करते

गये कि हिंदू-मुस्लिम संकट अपने चरम बिंदु को पहुंच गया। कांग्रेस मंत्रि-मंडलों में मुस्लिम लीग का एक भी प्रतिनिधि नहीं था, यह क्या कांग्रेस का मामूली गुनाह था ! जिन्नासाहब को बहाना चाहिए था और वह उन्हें मिल गया। बस, कांग्रेस के खिलाफ मुसलमानों की झूठी-सच्ची शिकायतों का उन्होंने ढेर लगाना शुरू कर दिया। "सचाई तो यह है कि कांग्रेस ब्रिटिश संगीनों पर अपनी हुकूमत कायम करना चाहती है।" "कांग्रेस मुस्लिमलीग की घेराबंदी करके उसकी ताकत को तोड़ना चाहती है।" कांग्रेस के संविधान-परिषद् के प्रस्ताव की, जिसका कि गांधीजी ने हिंदू-मुस्लिम समस्या के हल के रूप में समर्थन किया था, उन्होंने खूब खिल्ली उड़ाई—"ब्रिटिश सरकार से यह कहना कि वह दूसरे राष्ट्र की संविधान-परिषद बुलाये और बाद में उस परिषद के बनाये विधान को ब्रिटिश पार्लामेंट की मंजूरी के लिए पेश करना बचपना नहीं तो और क्या है!" और गांधीजी तो जिन्नासाहब के माने हुए दुश्मन थे। "गांधीजी डिक्टेटर हैं। कांग्रेस की नकेल गांधीजी के हाथ में है।" सेगांव में अभी उजेला ही नहीं हुआ।" "गांधी हिंदू राज्य में मुसलमानों को गुलाम ही नहीं बना रहा, उनका खात्मा भी कर रहा है।" आदि-आदि वाक्-बाण वह महात्माजी पर चलाने लगे।

कांग्रेस के खिलाफ जिन्नासाहब का गर्जन-तर्जन और उनका कांग्रेसी-विरोधी अभियान दिनोंदिन तेजी पकड़ता गया। १९३९ के वसंत में उन्होंने फरमाया कि नये विधान के अंतर्गत प्रांतीय सरकारें मुस्लिम अधिकारों का संरक्षण करने में पूरी तरह असफल रही हैं। कुछ महीनों के बाद उन्होंने एक ऐसे बड़े मुल्क में, जहां कई जातियां बसती हों, जनवादी ढंग की सरकार को ही 'काबिले एतराज' बताया। उन्होंने वाइसराय और गवर्नरों पर यह आरोप लगाये कि वे कांग्रेस द्वारा शासित प्रांतों में मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग नहीं करते। १९३९ के नवंबर महीनों में जब कांग्रेस मन्त्रिमंडलों ने भारत को उसकी स्वीकृति के बिना युद्ध में सम्मिलित किये जाने के विरोध-स्वरूप इस्तीफे दे दिये तो जिन्नासाहब ने ढाई बरस के कांग्रेसी राज्य के अन्याय और अत्याचार से मुसलमानों के मुक्त होने के उपलक्ष में 'मुक्ति दिवस' मनाने की घोषणा की। उनका कहना था कि ढाई बरस के कांग्रेसी राज्य में मुसलमानों की राय

की ज़रा भी कद्र नहीं की गई, मुस्लिम संस्कृति को नष्ट किया गया, इस्लाम धर्म और मुसलमानों के सामाजिक जीवन पर आक्रमण किये गए और मुस्लिमों की अर्थ-व्यवस्था एवं राजनैतिक अधिकारों को कुचला गया।

विधान में प्रांतों के गवर्नरों को अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के विशेष अधिकार प्रदान किये गए थे। संयुक्त प्रांत के गवर्नर सर हैरी हेग ने अपनी गवर्नरी का कार्यकाल पूरा होने के बाद सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया था कि "कांग्रेसी मंत्री मुसलमानों के साथ न्याय और सद्भावना के व्यवहार पर विशेष ध्यान देते रहे हैं और उन्होंने हमेशा निष्पक्ष रहने की कोशिश की है, यहांतक कि बाद में तो उन्हें इसके लिए हिंदू सभा की आलोचना का पात्र भी बनना पड़ा और इस गलत आरोप का सामना करना पड़ा कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल हिंदुओं के साथ न्याय नहीं करते।"

१९४० के प्रारंभ में कांग्रेस के अध्यक्ष डॉ० राजेंद्रप्रसाद ने जिन्नासाहब को लिखा कि वह फेडरल कोर्ट के किसी भी जज के द्वारा कांग्रेस मंत्रिमंडलों पर लगाये गए आरोपों की जांच करवाने के लिए तैयार हैं। जिन्नासाहब ने इस सुझाव को ठुकरा दिया और बदले में रायल कमीशन की मांग की। वह जानते थे कि युद्धकाल में ऐसे विवाद के लिए रायल कमीशन नियुक्त नहीं किया जा सकेगा और उन्हें इन मनमाने आरोपों को लगाने का मौका मिलता रहेगा। असल में उनके मनगढ़ंत आरोपों का उद्देश्य कांग्रेस अथवा ब्रिटिश सरकार का विरोध उतना नहीं जितना कि मुसलमानों को उकसाना था। उनकी इस नीति को उस समय 'घरेलू इस्तेमाल का नुस्खा' कहा गया था। हिंदू और मुसलमानों के बीच की खाई को बढ़ाने और पारस्परिक मतभेदों को असाध्य करनेवाली हर बात का उपयोग करके वह अपनी इस स्थापना को सिद्ध करना चाहते थे कि भारत में जनवादी ढंग की सरकार असंभव है।

शीघ्र ही जिन्नासाहब ने दो राष्ट्रों की बात शुरू कर दी और उसे सैद्धांतिक जामा भी पहनाने लगे—हिंदू और मुसलमानों में केवल धार्मिक भेद ही नहीं, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अंतर भी है। १९४० के मार्च महीने में मुस्लिम लीग ने अधिकृत रूप से दो राष्ट्रों के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया और घोषणा की कि मुसलमानों को भारत के संबंध में

ऐसी कोई वैधानिक योजना स्वीकार न होगी जो उत्तर-पश्चिम और पूर्व के मुस्लिम बहुमतवाले प्रदेशों को स्वतंत्र राज्य मानकर तैयार न की गई हो। गोलमेज-परिषद में जिस 'पाकिस्तान' की मुस्लिम नेताओं ने "कुछ विद्यार्थियों की खामखयाली" कहकर उपेक्षा करदी थी, अब वही मुस्लिम लीग का अंतिम ध्येय हो गया था।

जब गांधीजी ने दो राष्ट्रों के सिद्धांत और लीग की पाकिस्तान की मांग के बारे में सुना तो चकित रह गये और उन्हें सहसा विश्वास न हुआ। धर्म का प्रयोजन लोगों के दिलों को मिलाना है, या अलग करना? उन्होंने दो राष्ट्रों के सिद्धांत को 'असत्य' कहा। इससे कड़ा शब्द उनके शब्द-कोश में दूसरा था ही नहीं। उन्होंने राष्ट्रीयता के गुणों की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि धर्म के परिवर्तन से राष्ट्रीयता नहीं बदलती। धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, लेकिन उससे संस्कृति भिन्न नहीं हो जाती। "बंगाली मुसलमान हिंदू बंगाली की ही भाषा बोलता है, वैसा ही खाना खाता है और अपने हिंदू पड़ोसी की ही तरह अपना मनोरंजन करता है। वेश-भूषा भी दोनों की एक-जैसी होती है, यहांतक कि जिन्नासाहब का नाम भी मुझे तो हिंदू नाम ही मालूम पड़ता है, पहली बार जब मैं उनसे मिला तो तो जान भी न पाया कि वह मुसलमान हैं।"

उन्होंने कहा कि भारत के विभाजन का अर्थ होगा हिंदू और मुसलमानों के सदियों के काम पर पानी फेर देना। वे कैसे स्वीकार कर लेते कि हिंदू धर्म और इस्लाम परस्पर विरोधी संस्कृतियों और सिद्धांतों के प्रतीक हैं और भारत के आठ करोड़ मुसलमानों का उनके हिंदू पड़ोसियों से कोई वास्ता नहीं? और मान भी लिया जाय कि धर्म और संस्कृतियां भिन्न हैं तो उससे दोनों के आय, उद्योग, सफाई, न्याय आदि समान हितों में क्या बाधा पड़ती है? जो भी अंतर है, वह धर्म के पालन करने के तरीके में है, जिससे एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का कोई भी वास्ता न होगा।

उन्होंने बहुत ही व्यथित होकर कहा था—"भारत के टुकड़े करने से पहले मेरे टुकड़े कर दो।" लेकिन उनकी व्यथा का किसीपर कोई असर न हुआ और वह पाकिस्तान के संबंध में अपने विचारों से एक भी आदमी को सहमत न कर सके। ६ अप्रैल, १९४० के 'हरिजन' में उन्होंने स्वीकार भी

किया—"आठ करोड़ मुसलमानों को शेष भारत की, चाहे उसका बहुमत कितना ही प्रबल क्यों न हो, इच्छा के आगे झुकाने का कोई अहिंसात्मक तरीका मुझे नहीं मालूम। मुसलमानों को भी आत्म-निर्णय का उतना ही अधिकार होना चाहिए, जितना कि शेष भारत को है। इस समय हम एक संयुक्त परिवार हैं और उस परिवार का कोई भी सदस्य बंटवारे की मांग कर सकता है।"

एक अहिंसावादी का सिर्फ यही रुख हो सकता था, यद्यपि यह रुख जिन्नासाहब के इस विश्वास को बढ़ानेवाला था कि अगर मुस्लिम लीग अपनी मांग पर अड़ी रही और मुस्लिम जनमत को अपने साथ ला सकी तो एक दिन पाकिस्तान वास्तविकता बन जायगा। जिन्नासाहब ने अन्त तक पाकिस्तान की सीमाएं निर्धारित नहीं की और न इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कोई ठोस प्रस्ताव ही रखा। उन्होंने अपने हर अनुयायी को उसकी इच्छानुसार पाकिस्तान की कल्पना करने के लिए आजाद छोड़ दिया था। धर्म-प्राण मुसलमान उसे मजहब और शरीयत का पाबंद पैगम्बर साहब के उपदेशों पर चलनेवाला पुराने जमाने का कट्टर इस्लामी राज्य समझते थे, तो धर्म-निरपेक्ष 'अपने' उस राज्य से सभी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाएं प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे।

भारतीय राष्ट्र-भक्तों को उस समय गहरा आघात पहुंचा, जब उन्होंने मुसलमानों को और खास तौर पर उसके मध्यम वर्ग को पाकिस्तान का जोर-शोर से समर्थन करते देखा। लेकिन इसके कई कारण थे। सरकारी नौकरियों, व्यवसाय और उद्योग की दौड़ में पिछड़े हुए मुस्लिम मध्यमवर्ग पर मुस्लिम राज्य के विचार का हावी हो जाना स्वाभाविक था। प्रतिस्पर्द्धामूलक समाज में जल्दी से सफलता दिलानेवाले उपाय का सभी अवलंबन करना चाहते हैं। बंगाल और पंजाब के मुस्लिम जमींदारों को पाकिस्तान उन 'खतरनाक राजनीतिज्ञों' से मुक्ति दिलाने का साधन था, जो जमींदारी उन्मूलन की बातें करने लगे थे। मुस्लिम अफसर इसलिए खुश थे कि नये निजाम में उन्हें हिंदू काफिरों की मातहती में काम नहीं करना होगा। मुसलमान व्यापारी और उद्योगपति हिंदू प्रतिद्वंद्वियों के अनुचित हस्तक्षेप से मुक्त मनमाना मुनाफा बटोरने के सपने देखने

लगे थे।

जैसाकि अंग्रेज लेखक डब्लू० सी० स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'भारत में आधुनिक इस्लाम' (माडर्न इस्लाम इन इंडिया) में लिखा है, पाकिस्तान भारतीय मुसलमानों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन था। "मुस्लिम लीग एक उभरते हुए राष्ट्रवाद की संस्था का रूप ले रही थी, जिसकी केन्द्रीय शक्ति तो सत्ता-लोलुप व्यावसायिक हित थे, लेकिन जाग्रत कृषि-वर्ग भी जिसका समर्थन करने लगा था और जिसे साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र से भी नव-जागरित श्रद्धाभक्ति का रसायन मिलने लग गया था।"

दूसरे महायुद्ध के छिड़ जाने पर युद्धजन्य परिस्थितियों ने बंटवारे की विचारधारा के प्रसार-प्रचार में और सहायता पहुंचाई। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के इस्तीफे ने मुस्लिम लीग को राजनैतिक मंच हथियाने का अवसर दे दिया। कांग्रेस के पदारूढ़ रहते उसके मंत्रिमंडलों पर यह आरोप लगाना कि उन्होंने मुस्लिम अल्पसंख्यकों पर अत्याचार किये हैं, आसान न होता, कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की ओर से जरूर विरोध किया जाता और सचाई लोगों के सामने आ जाती। अब गवर्नर ऐसे लोगों का, जो उनके विरोधी हो गये थे, बचाव क्यों करते? सरकार महायुद्ध के कारण मुस्लिम लीग से बिगाड़ भी नहीं करना चाहती थी। वाइसराय और सलाहकारी मंडल जिन्ना-साहब को नाराज़ करने के ज़रा भी पक्ष में न था। वैसे पाकिस्तान की मांग से ब्रिटिश सरकार को भी कुछ कम अचंभा नहीं हुआ था, लेकिन फिर भी यह एक तरह से उनके हित में ही हुआ। वह एक बार फिर दुनिया को यह दिखा सके कि भारत की वैधानिक प्रगति अंग्रेजों की वजह से नहीं भारतीयों के आपसी मतभेदों की ही वजह से रुकी हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने तो पाकिस्तान को स्वीकार करने का संकेत अपनी ओर से अगस्त १९४० की घोषणा में दे भी दिया, जब उसमें यह गया कि "भारत की शांति और उसके कल्याण का विचार करके ही ब्रिटिश सरकार अपनी जिम्मेदारियों को किसी ऐसी भारतीय सरकार को नहीं सौंप सकती, जिसकी सत्ता को देश के बड़े और शक्तिशाली तत्त्व मानने से इनकार करें।" मतलब यह था कि ब्रिटिश सरकार जिन्नासाहब के हल पर विचार करने को तैयार थी। और मजे की बात यह कि अखिल भारत मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान-संबंधी अपना

प्रस्ताव सिर्फ मार्च, १९४० में ही पास किया था। यदि लड़ाई का इतनी का जमाना न होता तो इसमें सन्देह ही है कि पाकिस्तान के प्रस्ताव का जल्दी यों गौण समर्थन सरकार के द्वारा किया जाता। लेकिन युद्ध का सबल हाथ घटना-चक्र को अपनी गति और अपनी इच्छा के अनुसार चला रहा था, जिसे ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओं में से न तो कोई जान सका और न उसपर नियंत्रण ही कर पाया।

: ३५ :

भारत और द्वितीय महायुद्ध

१९३८ में यूरोप पर युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। १९१४-१८ का महायुद्ध, जैसी कि आशा थी, "युद्ध को सदा के लिए समाप्त करनेवाला युद्ध" साबित नहीं हुआ। शान्ति-संधि ने जितनी समस्याओं को सुलझाया उनसे कहीं अधिक समस्यों को पैदा कर दिया था। राष्ट्र-संघ के माध्यम से 'सामूहिक सुरक्षा' की प्रणाली से जितनी आशाएं की गई थीं वे सब निष्फल सिद्ध हुईं। अमरीका के न रहने, रूस को अलग कर दिये जाने और सदस्य राष्ट्रों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय हितों को अधिक प्रधानता देने के कारण राष्ट्र-संघ बहुत ही अक्षम हो गया था। राष्ट्र-संघ की दुर्बलता और अक्षमता का पहला परिचय उस समय मिला, जब जापान ने उसके अधिकार को चुनौती दी और अपनी विस्तारवादी नीति पर अमल करना शुरू कर दिया। अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण, जर्मन द्वारा विसैन्यीकृत क्षेत्र पर अधिकार एवं आस्ट्रिया के राज्यापहरण और स्पेन के गृहयुद्ध में विदेशी हस्तक्षेप आदि घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिसकी लाठी उसकी भैंस का कानून चल रहा था। जनवाद और राजनैतिक एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में पड़ गई थी। तानाशाही सरकारों ने अपने-अपने देश में सारे विरोधियों को कुचल दिया था और वे युद्ध की पूरी तैयारियों के साथ दूसरे देशों पर आक्रमण करने का मौका तलाश रही थीं। यूरोप के छोटे राष्ट्र थर-थर कांप रहे थे, पता नहीं कब,

किसपर और किधर से हमला हो जाय ! समूचा सभ्य संसार भयाक्रांत हो गया था और लगता था, जैसे अंधकार का युग ही आ गया हो।

१९३१ में गांधीजी की इंग्लैंड-यात्रा के समय वहां के एक अखबार 'स्टार' ने एक व्यंग्य चित्र छापा था, जिसमें कोपीनधारी गांधीजी को काली कमीजवाले मुसोलिनी, भूरी कमीजवाले हिटलर, हरी कमीजवाले डि वेलरा और लाल कमीजधारी स्तालिन के साथ खड़ा दिखाया गया था। उस व्यंग्य-चित्र का शीर्षक था, "और इसके पास तो कोई भड़कीली कमीज ही नहीं !" शीर्षक का शब्दार्थ भी सही था और ध्वन्यार्थ भी। मानवी भाई-चारे में विश्वास रखनेवाले अहिंसावादी के निकट राष्ट्र और जातियां भले और बुरे में, मित्र और शत्रु में विभाजित नहीं होतीं। इसका यह मतलब नहीं कि गांधीजी आक्रांता और आक्रमण से आशंकित देशों में भेद नहीं करते थे। नेहरूजी ने उन्हें यूरोप की स्थिति का जो परिचय दिया था, उसके आधार पर उनकी पूरी सहानुभूति आक्रांत देशों के ही साथ हो, यह स्वाभाविक था। स्वयं गांधीजी अपने जीवन-भर हिंसा की शक्तियों से संघर्ष करते रहे थे। पिछले तीस बरसों से भी अधिक समय से वह एक ऐसी अहिंसात्मक शैली का विकास करने में लगे थे, जो व्यक्ति और समूह दोनों की समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से हल कर सके। उसका अहिंसा का सिद्धांत और सत्याग्रह की शैली कई बरसों में जाकर परिपक्व हुई थी। बोअर-युद्ध में और प्रथम महायुद्ध में उन्होंने एंबुलेंस दल गठित किये थे और अंग्रेजों की भारतीय सेना के लिए रंगरूट भर्ती का काम भी किया था। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्होंने खुद बंदूक नहीं उठाई थी। बाद में स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है—"अहिंसा की दृष्टि में तो मैं अपने उन कार्यों का बचाव नहीं कर सकता। हथियारों से लड़नेवालों और रेड क्रास का काम करनेवालों में मैं कोई फर्क नहीं करता। दोनों ही लड़ाई में हिस्सा लेते और उसके उद्देश्य में मदद पहुंचाते हैं। युद्ध के गुनाह के अपराधी तो दोनों ही हैं।"

पहले और दूसरे महायुद्धों के बीच के बीस बरसों में ब्रिटिश साम्राज्य की नेकनीयती में गांधीजी का विश्वास पूरी तरह डिग गया था। निरंतर के मनन और अनुभव से अहिंसा की शक्ति में उनका विश्वास

उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया था। और उनकी अखिल देशीय यात्राओं एवं तीन-तीन देशव्यापी सत्याग्रह-अभियानों के कारण भारत की जनता भी अहिंसा-धर्म से परिचित हो चुकी थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के संघर्ष में वह अहिंसा पर इतना अधिक जोर देते थे कि अनेक बार तो साधन ही साध्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता था। नवम्बर १९३१ में तो उन्होंने यहांतक कह दिया था, "मैं बार-बार दुनिया को यह बताना चाहूंगा कि अहिंसा की कीमत पर तो मुझे अपने देश की आजादी भी मंजूर न होगी।"

युद्ध का खतरा जितना ही बढ़ता गया और हिंसा की शक्तियां जितनी ही बलवती होती गईं, अहिंसा की अमोघता में गांधीजी का विश्वास भी उसी परिमाण में बढ़ता गया और वह अपनी आस्था की घोषणा भी बार-बार उतने ही जोर से करते रहे। उन्होंने अनेक बार इस बात को जोर देकर कहा कि विश्व-इतिहास की इस संकट की घड़ी में भारत को देने के लिए उनके पास एक संदेश है, और भय-विकंपित मानवता के नाम भारत के पास एक संदेश है, और अपने साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' के पृष्ठों में उन्होंने सैनिक आक्रमण और राजनैतिक अत्याचारों का अहिंसात्मक ढंग से विरोध करने के उपायों का वर्णन किया। उन्होंने कमजोर राष्ट्रों को यह सलाह दी कि वे अधिक शस्त्र-सज्जित राज्यों का सरंक्षण प्राप्त करके अथवा अपने सैन्यबल को बढ़ाकर नहीं, अपितु अहिंसात्मक प्रतिरोध के ही द्वारा आक्रमणकारी से आत्म-रक्षा करें। अहिंसावादी अबीसीनिया को राष्ट्र संघ से न तो शस्त्रों की आवश्यकता होगी, न संकटकालीन सहायता की। अगर अबीसीनिया का हर बालक, बूढ़ा और जवान इटली के सैनिकों का सहयोग देना बंद कर दे तो आक्रमणकारी सैनिकों को उनकी लाशों पर चलकर ही विजय तक पहुंचना होगा और जिस देश को वह अपने अधिकार में करेंगे, वह एकदम निर्जन और शून्य होगा।

यह कहा जा सकता है कि गांधीजी मानवी सहनशक्ति से बहुत अधिक अपेक्षा कर रहे थे। शत्रु के आगे समर्पण करने की अपेक्षा एक-एक आदमी, औरत और बच्चे का मर जाना सामान्य साहस की बात नहीं। इसके लिए अतुलित बल चाहिए। लेकिन गांधीजी का अहिंसात्मक प्रतिरोध संकट से जान बचाने का सुविधाजनक सिद्धांत तो था नहीं कि उसकी ओट

ले ली जाती और न वह तानाशाहों की हिंसा और पशुबल के आगे स्वेच्छा से आत्म-समर्पण ही था। अहिंसात्मक प्रतिरोध करनेवाले को तो चरमकोटि के बलिदान के लिए तैयार रहना होता था।

१६३८-३६ के घटना-प्रवाहों में यूरोप में अनेक शान्तिवादियों (पैसिफिस्ट) के विश्वास कच्चे मिट्टी के घड़े साबित हुए थे। जी. डी. एच. कोल ने अपनी आत्मव्यथा को 'आर्यन पाथ' के एक लेख में बड़ी ही सशक्त शैली में व्यक्त किया था—"दो वर्ष पहले तक मैं अपनेको युद्ध, हत्या-व्यापार और हिंसा का कट्टर विरोधी समझता था। लेकिन आज युद्ध के प्रति मेरी घृणा ही इन विभीषिकाओं को रोकने के लिए मुझे युद्ध का खतरा उठाने को प्रेरित कर रही है। मैं युद्ध का जोखिम लेने को तैयार हो जाऊंगा, लेकिन मेरी अंतरात्मा तो आदमी का वध करने के विचार-मात्र से कांपती है। किसीका वध करने की अपेक्षा मैं मर जाना पसंद करता हूं; लेकिन स्वयं मरने की अपेक्षा किसीका वध करना ही क्या आज मेरा कर्त्तव्य नहीं है ?"

मानवता के समक्ष नित-नूतन विभीषिकाएं खड़ी की जा रही थीं। विनाशक यंत्रों को क्रमशः पूर्णता प्रदान की जा रही थी। हवाई जहाज ने मार की हद को बहुत लंबा कर दिया था। लेकिन युद्ध के यंत्र और शस्त्रास्त्र कितने ही संहारक और भयानक क्यों न हों, मनुष्य का हाथ और मस्तिष्क ही उन्हें संचारित करता है। युद्ध की योजना बनानेवालों का सदा ही एक निश्चित प्रयोजन रहा है और वह है विजित देशों की जनता और वहां के साधनों का शोषण करना। आक्रमणकारी आतंक का सहारा लेता है और जबतक विरोधी को अपनी इच्छा के आगे झुका नहीं लेता आतंक की मात्रा को निरंतर बढ़ाता जाता है। "लेकिन मान लीजिये," गांधीजी लिखते हैं, "एक देश की जनता यह फैसला कर ले कि वह आततायी की इच्छा को कभी पूरा करेगी ही नहीं और न आततायी के तरीके से अपने पर किये जा रहे अत्याचारों का जवाब ही देगी, तब तो आततायी को अपना आतंक और अत्याचार बंद करना ही होगा। अगर दुनिया के तमाम चूहे मिलकर यह फैसला कर लें कि वे बिल्ली से नहीं डरेंगे और खुशी-खुशी उसके मुंह में चले जायंगे तब तो चूहे जी जायंगे।"

अहिंसा आक्रमण का मुकाबला करने का सिर्फ एक ढंग ही नहीं, ज़िंदगी

का एक तरीका भी है। नाज़ी और फासिस्ट सैन्यवाद का मूल उद्देश्य नये साम्राज्यों की स्थापना करना था—एक निर्मम होड़ थी, जिसके द्वारा वे कच्चे माल के जखीरे और नये वाजार प्राप्त करना चाहते थे। इस प्रकार युद्ध को जन्म देनेवाले कारण थे मनुष्य का अतिदृप्त लोभ और राष्ट्रीयता को मानवता से ऊंचा स्थान देनेवाली जातीय अहम्मन्यता। युद्ध की विभीषिकाओं से विश्व का उद्धार करने के लिए केवल यही काफी नहीं है कि सैन्यवाद का अंत किया जाय, प्रति-स्पर्द्धात्मक लोभ, भय और घृणा को मिटाना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि युद्ध की जड़ें इन बुराइयों में ही तो पनपती हैं।

जान मिडलटन मरी ने सितंबर १९३८ के 'आर्यन पाथ' के एक लेख में गांधीजी को वर्तमान विश्व का सबसे बड़ा ईसाई उपदेशक बताते हुए लिखा था—"मुझे तो ईसाई-प्रेम के ज्योति-पुंज के अतिरिक्त पश्चिमी सभ्यता के उद्धार की और कोई आशा, कोई मार्ग, दिखाई नहीं देता। केवल दो ही विकल्प हैं—या तो यह ईसाई-प्रेम अथवा विश्व-व्यापी हत्या, जिसकी कल्पनामात्र से आत्मा थर्रा उठती है।"

लेकिन ईसाई-प्रेम का ज्योति-पुंज तो प्रज्वलित हुआ नहीं, यहां-वहां जो दीये टिमटिमा रहे थे, वे भी एक-एक कर बुझते चले गए और सितंबर १९३९ में जब यूरोप में दूसरा महायुद्ध छिड़ा तो वहां सिर्फ गहरा अंधेरा छाया हुआ था।

३ सितंबर, १९३९ को भारत के राजपत्र में यह गंभीर घोषण की गई थी—"मैं विक्टर अलेक्जेंडर जान, लिनलिथगो का मार्क्वेस, भारत का गवर्नर-जनरल और पदेन एडमिरल (नौ सेनापति), प्राप्त सूचनाओं का प्रामाणिकता का निश्चय कर लेने के पश्चात् यह घोषणा करता हूं कि हमारे सम्राट और जर्मनी के मध्य युद्ध आरंभ हो गया है।"

पं० जवाहरलाल नेहरू अपने महान् ग्रंथ 'हिंदुस्तान की कहानी'[1] में लिखते हैं—"एक आदमी ने, और वह भी विदेशी, चालीस करोड़ लोगों को बिना उनकी राय के लड़ाई में झोंक दिया।" १९३५ के गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट के अंतर्गत भारत में संघीय सरकार बन नहीं पाई थी और देश के शासन का अंततोगत्वा उत्तरदायित्व ब्रिटिश पार्लमेंट पर था, इसलिए

[1] सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित

वाइसराय की उक्त घोषणा वैधानिक दृष्टि से तो अवश्य आपत्तिजनक नहीं थी, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वह निश्चय ही एक बड़ी भूल थी और वह इसलिए और भी अनिष्टकारी थी, क्योंकि कांग्रेस की सहानुभूति पूर्णतः मित्र-राष्ट्रों के साथ थी। कांग्रेस की विदेश-नीति के प्रणेता पं० जवाहरलाल नेहरू थे, जिनका फासिस्टवाद-विरोधी रुख जग-जाहिर हो चुका था और जो तानाशाही राज्यों के साथ किसी भी तरह का समझौता करने को तैयार नहीं थे।

यदि उस समय ब्रिटिश सरकार थोड़ी-सी सूझ-बूझ से काम लेती तो भारतीय जनता की सक्रिय सहानुभूति मित्र-राष्ट्रों को मिल सकती थी। तुरन्त ही अपनी भूल वाइसराय की समझ में आ गई और उन्होंने उसे सुधारने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उन्होंने तार देकर गांधीजी को मिलने के लिए बुलाया। गांधीजी तुरन्त शिमला पहुंचे। उन्होंने लार्ड लिनलिथगो को आश्वासन दिया कि उनकी सहानुभूति इंगलैंड और फ्रांस के साथ है, लेकिन अहिंसावादी होने के नाते वह मित्र-राष्ट्रों का केवल नैतिक समर्थन कर सकते थे। युद्ध की चर्चा करते-करते जब बमबारी में पार्लमेंट भवन और वेस्ट मिन्स्टर एबे के ध्वंस की संभावना का जिक्र आया तो गांधीजी व्याकुल हो गये। उन्हें हिंसा की विजय होती दिखाई दे रही थी।

युद्ध के आरंभ के दिनों में वह बहुत ही उद्विग्न और अशान्त थे। उस समय उन्होंने लिखा था—"मैं बहुत ही खिन्न और असहाय हो गया हूं। मैं अपने मन में हर समय ईश्वर को यह उलहना देता हूं कि तू ऐसे वीभत्स कृत्य क्यों होने देता है! अपनी अहिंसा मुझे निर्बल और निर्वीर्य प्रतीत होने लगती है। लेकिन रोज ईश्वर से झगड़ा करने के बाद मुझे यही जवाब मिलता है कि न ईश्वर निर्बल है और न अहिंसा ही। निर्बलता और नामर्दी तो आदमियों में है।" हिंसा से हिंसा के मुकाबले को वह निरर्थक समझते थे। उनका अपना रास्ता बिल्कुल साफ था—"मैं कार्य-समिति का मार्ग-दर्शन करूं या यदि किसीकी भावनाओं को ठेस पहुंचाये बिना इस शब्द का प्रयोग कर सकूं तो सरकार का, मेरा निश्चित प्रयोजन तो किसी एक या दोनों को अहिंसा के मार्ग पर ले जाना होगा, चाहे वह मार्ग कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो।"[१]

---

[१] हरिजन, ३० सितम्बर, १९३९

युद्ध छिड़ते ही यूरोप के अधिकांश शांतिवादी विचलित हो गये थे, लेकिन उन आरंभिक दिनों में भी गांधीजी अपने शांतिवाद पर दृढ़ और अविचलित थे। यद्यपि वह जानते थे कि अहिंसा के द्वारा भारत को विदेशी आक्रमण से बचाने का उनका प्रस्ताव व्यावहारिक रूप से शायद ही किसी कांग्रेस जन को स्वीकार हो, लेकिन स्वयं गांधीजी के लिए तो कोई गत्यंतर नहीं था। परीक्षा की उस कठिन घड़ी में वह अहिंसा में अपनी आस्था और विश्वास को कैसे छोड़ देते? "मेरी आस्था अकेले मुझी तक सीमित है। देखना है कि इस एकाकी पथ पर मेरा कोई सहयात्री है भी या नहीं... संगी-साथी एक हो या बहुत-से, मैं तो जोर देकर यही कहूंगा कि अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए भी भारत हिंसा का अवलंबन न करे, यही उसके लिए श्रेयस्कर है।"[१]

यदि राजनीति के संबंध में बिस्मार्क की यह परिभाषा स्वीकार कर ली जाय कि वह जितना हो सके उतने को ही करने की कला है तो गांधीजी का उस समय का रवैया राजनीतिज्ञ का नहीं, पैगंबर का था। आस्था की दृढ़ता के कारण प्रायः उनके निकट आदर्श और वास्तविकता में कोई अंतर नहीं रह जाया करता था। विश्वव्यापी युद्ध के समय जब देश राजनीतिज्ञों की युद्ध-योजना के केवल मोहरे बनकर रह गये थे, गांधीजी इस बात की घोषणा कर रहे थे कि स्वतंत्र भारत का कोई शत्रु न होगा। वह भूल गये थे कि विश्व-आधिपत्य के हामी शक्ति के मद में चूर, भूमि के भूखे, मानव-द्वेषी दुरात्मा राज्य और उनके शासक अपने अभीष्ट लाभ के लिए उचित-अनुचित कुछ भी नहीं देखा करते। इतना ही नहीं, गांधीजी ने एक कदम और आगे जाकर कहा कि यदि भारतवासियों को दृढ़ता से 'न' कहना आ जाय तो विदेशी सेनाओं का उसपर आक्रमण करने का साहस ही न होगा और भारत की अर्थ-व्यवस्था का इस तरह पुनर्गठन होना चाहिए कि किसी बाहरी शक्ति को उसपर आक्रमण करने का लोभ ही न हो। लेकिन भारत की अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन के लिए समय ही कहां था और जो जनता अंग्रेजी राज्य को हटाने के लिए आवश्यक अहिंसा को भी न अपना सकी थी, वह सशस्त्र विदेशी आक्रमण को

---

[१] हरिजन, १४ अक्तूबर १९३९

निरस्त करने लायक अहिंसा-बल अपने में सहसा कैसे पैदा कर लेती ?

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस शांतिवादियों का संगठन नहीं थी। उसने सिर्फ स्वतंत्रता-संघर्ष के लिए अहिंसा को अपनाया था। सब समय और सब मौकों के लिए उसे अपना धर्म और व्रत नहीं बना लिया था। कई प्रमुख कांग्रेसी नेता, जिनमें पं० मोतीलाल नेहरू भी थे, अपने जीवनकाल में स्वतंत्र भारत में पुलिस और सेना की समाप्ति की बात नहीं सोचते थे, प्रत्युत ब्रिटिश इंडियन आर्मी के भारतीयकरण की योजनाओं पर विचार किया करते थे और इस समय भी अधिकांश कांग्रेसी नेता युद्ध को अहिंसा की दृष्टि से नहीं, स्वराज्य-प्राप्ति की दृष्टि से देख रहे थे। पहले महायुद्ध के समय तिलक और श्रीमती बेसेंट आदि नेताओं ने युद्ध में सहायता के बदले औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की थी। पच्चीस वर्ष बाद तो देश इतना जाग गया था कि उससे कम पर राज़ी होने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। भारतीय राष्ट्रभक्त इस विरोधाभास की तो कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उनका अपना देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहे और वे चेकोस्लावाकिया अथवा पोलैंड की आज़ादी और जनवाद की रक्षा के लिए हजारों मील दूर यूरोप की भूमि पर लड़ने के लिए जायं। भारतीय राष्ट्रभक्तों के पक्ष में, जो वास्तव में मित्र-राष्ट्रों की सहायता करने के लिए उत्सुक थे, एक सबल कारण और भी था। अब युद्ध बस्ती से कहीं दूर दो पेशेवर सेनाओं की मुठभेड़ नहीं रह गया था, संपूर्ण राष्ट्र और समस्त जनता को सैनिकों अथवा श्रमिकों के रूप में युद्ध के उद्यम में लगाना आवश्यक हो गया था। ऐसी स्थिति में जबतक इंग्लैंड भारत को समान संघर्ष में बराबरी का हिस्सेदार स्वीकार नहीं कर लेता, विश्व-युद्ध में भारत-वासी अपनी संपूर्ण क्षमता से योगदान कर ही कैसे सकते थे ?

१४ सितंबर, १९३९ के प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस कार्य-समिति ने नाज़ी आक्रमणकारियों के प्रतिरोध में लगे राष्ट्रों से सहानुभूति व्यक्त करते हुए नाज़ीवाद के खिलाफ लड़े जा रहे युद्ध में अपना सहयोग देने की तत्परता प्रदर्शित की। लेकिन वह सहयोग "बराबरी के आधार पर पारस्परिक सह-मति से एक ऐसे कार्य के लिए था, जिसे दोनों सर्वथा उपयुक्त समझते थे।" कार्य-समिति ने ब्रिटिश सरकार से जनवाद और साम्राज्यवाद के संबंध में

अपनी नीति और उद्देश्यों की स्पष्ट शब्दों में घोषणा करने की मांग की और जानना चाहा कि भारत में उनका अमल कैसे होगा ? "किसी भी घोषणा की खरी कसौटी है वर्तमान में उसपर अमल, क्योंकि वर्तमान ही आज के कार्यों का संचालन और भावी कार्यों का निर्धारण करता है।" इस प्रकार कांग्रेस ने ब्रिटेन के सामने दो बुनियादी बातें रखीं—एक तो यह कि वह अपने युद्धोद्देश्यों का स्पष्टीकरण करे और दूसरे यह कि जिस स्वतंत्रता और जनवाद की रक्षा के लिए भारत से सहायता मांगी जा रही है, उन्हें पहले भारत में लागू किया जाय।

१९४० की गर्मियों में नाजी सेनाओं ने सारे पश्चिमी यूरोप को रौंद डाला। अकेला इंग्लैंड अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रबल शत्रु से जिस वीरता के साथ लोहा ले रहा था, उसने भारतीयों में उसके प्रति प्रशंसा और सहानुभूति के भावों को जगा दिया। भविष्य भी साफ नज़र आ रहा था। यदि इंग्लैंड नाजी विजय-वाहिनियों को रोकने में असफल हो जाता तो हिटलर को भूमध्यसागर के रास्ते भारत में घुस आने से दुनिया की कोई शक्ति रोक नहीं सकती थी। इस आसन्न संकट के कारण कांग्रेस ने युद्ध में अपने सहयोग की शर्तों को थोड़ा और नरम कर दिया। कार्य-समिति ने कहा कि यदि ब्रिटिश सरकार इस समय युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र करने की स्पष्ट घोषणा कर दे तो कांग्रेस देश की रक्षा के लिए अस्थायी राष्ट्रीय सरकार में सम्मिलित हो जायगी। कांग्रेस सहयोग के लिए कितनी उत्सुक थी, इसका पता इसी बात से चल जाता है कि वह गांधीजी का नेतृत्व छोड़ने के लिए भी तैयार हो गई थी। नाजियों के सैनिकवाद और आतंकपूर्ण कार्रवाइयों के विरोधी और मित्र राष्ट्रों के प्रति सहानु-भूतिशील होते हुए भी गांधीजी बराबर इस बात पर जोर देते आ रहे थे कि हिंसा को केवल अहिंसा के द्वारा ही प्रभावोत्पादक ढंग से समाप्त किया जा सकता है। वह कांग्रेस से भी यही घोषणा करवाना चाहते थे कि देश पर सशस्त्र आक्रमण होने पर उसका अहिंसात्मक प्रतिरोध किया जायगा। लेकिन जब इसके बदले कांग्रेस ने युद्ध-संचालन और देश-रक्षा के निमित्त अस्थायी सरकार में सम्मिलित होने की तत्परता दिखलाई तो गांधीजी ने उस नीति से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया, क्योंकि वह हिंसा पर आधा-

रित थी और किसी भी प्रकार की हिंसात्मक नीति में उनका विश्वास नहीं था।

: ३६ :
खाई बढ़ती गई

१९४० की उन संकटपूर्ण गर्मियों में कांग्रेस के नेता सरकार की ओर से सद्भावना-संकेत की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने युद्ध में सहयोग की अपनी शर्तों को बहुत नरम कर दिया था। लेकिन उन्हें निराश ही होना पड़ा। ८ अगस्त, १९४० को सम्राट् की सरकार की ओर से वाइसराय ने जो घोषणा की वह बहुत आशाप्रद नहीं थी।

उस घोषणा में नया विधान बनाने के भारतीयों के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन साथ ही यह भी जोड़ दिया गया था कि अभी इंग्लैंड जीवन-मरण की लड़ाई में व्यस्त है, इसलिए नया विधान तैयार करने का काम तुरंत शुरू नहीं किया जा सकेगा। घोषणा में भारत और इंग्लैंड के पुराने संबंधों का और भारत के प्रति इंग्लैंड की जिम्मेदारियों का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहा गया था कि इस संकट-काल में इंग्लैंड उन दायित्वों से विमुख नहीं हो सकता और अंत में यह भी कहा गया था कि "ब्रिटिश सरकार भारत की शांति और उसके कल्याण का विचार करके अपनी जिम्मेदारियां किसी ऐसी भारतीय सरकार को नहीं सौंप सकती, जिसकी सत्ता को देश के बड़े और शक्तिशाली तत्त्व मानने से इनकार करें और न ब्रिटिश सरकार उन तत्त्वों के साथ जोर-जबर्दस्ती करने में ऐसी भारतीय सरकार की सहायता ही कर सकती है।" असल में यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं थी। कोई नहीं चाहता था कि ब्रिटिश सरकार बड़े और शक्तिशाली तत्त्वों के साथ जोर-जबर्दस्ती करे। लेकिन सरकार का उद्देश्य मुस्लिम लीग को रिझाना, कांग्रेस-लीग-समझौते को और मुश्किल कर देना और ऐसा वातावरण तैयार कर देना था, जिससे सत्ता के हस्तांतरण की आवश्यक शर्त, भारत के सब दलों और जातियों का

सर्वसम्मत समझौता, पूरी न हो सके।

कुछ वैधानिक परिवर्तन भी किये गए। वाइसराय की कौंसिल को बढ़ाकर उसमें कुछ 'प्रातिनिधिक भारतीयों' को ले लिया गया और एक युद्ध सलाहकार परिषद् (वार एडवाइज़री कौंसिल) भी गठित की गई, जिसमें प्रांतों, रियासतों और दूसरे निहित हितों के प्रतिनिधियों को रखा गया।

सरकार की दृष्टि में अगस्त की घोषणा 'अधिकतम' थी, लेकिन कांग्रेस की न्यूनतम मांग से भी वह इतनी न्यून थी कि कांग्रेस उसे स्वीकार करने को राजी न हो सकी। देश और सरकार के सामने जो संकट मुंह बाए खड़ा था, उसके निवारण में अधिकांश कांग्रेसी नेता अपना सहयोग देने को बहुत उत्सुक थे, लेकिन सरकार सहयोग लेने को तैयार न थी, इसलिए उन्हें बड़ी निराशा और दुःख भी हुआ।

गांधीजी युद्ध-काल में सरकार को परेशान नहीं करना चाहते थे और कांग्रेसी नेता भी मित्र-राष्ट्रों की स्थिति के प्रति चिंतित थे, इसलिए किसी जन-आंदोलन का सवाल तो उस समय उठ भी नहीं सकता था। लेकिन वाइसराय की अगस्त घोषणा ने कांग्रेसजनों को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि नाराजी जाहिर करने के लिए किसी सशक्त कदम की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेसजनों की उस समय की निराशा और विक्षोभ का वर्णन 'दो रास्ते' नामक एक लेख में किया है—"उस घोषणा ने हमारे दिलों को जोड़ रखनेवाले रहे-सहे मुलायम धागों को भी तोड़ दिया।" सितंबर १९४० में बंबई में कार्य-समिति की बैठक हुई और उसमें सरकारी प्रस्तावों को पूरी तरह नामंजूर कर दिया गया। युद्ध में सहायता पहुंचाने के लिए सरकार से सहयोग करने की बात ही खत्म हो गई थी, इसलिए कांग्रेस ने पुनः गांधीजी से नेतृत्व ग्रहण करने के लिए कहा। युद्ध में सहयोग करना अहिंसा की नीति के प्रतिकूल था, इसलिए गांधीजी ने संबंध-विच्छेद कर लिया था। अब कांग्रेस फिर से सरकार की नीति का विरोध करना चाहती थी। इसलिए उसने गांधीजी का मार्गदर्शन पुनः स्वीकार कर लिया।

जिस प्रश्न ने कांग्रेस और सरकार के बीच की खाई को और चौड़ा

कर दिया था, वह शत-प्रतिशत राजनैतिक था। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध की समाप्ति पर भारत की स्वतंत्रता का आश्वासन देने और उस दिशा में अभी कुछ ठोस कदम उठाने से इनकार कर दिया था। लेकिन गांधीजी ने अपना सरकार-विरोधी अभियान राजनैतिक आधार पर नहीं, शांतिवादी और युद्ध-विरोधी आधार पर संगठित किया। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को न स्वाधीनता दे सकती है, न देने का वादा कर सकती है, लेकिन वह उन्हें भाषण की स्वतंत्रता और उस स्वतंत्रता के अंतर्गत भारत को उसकी मर्जी के खिलाफ महायुद्ध में घसीटे जाने का विरोध और युद्ध-मात्र का विरोध करने का अधिकार तो दे ही सकती है और देना चाहिए।

कांग्रेस का वाम पक्ष और गांधीजी के कुछ सहयोगी भी जन-आंदोलन शुरू न करने के पक्ष में थे, लेकिन गांधीजी ने उनकी एक न सुनी। उन्होंने चुने हुए लोगों के द्वारा सत्याग्रह शुरू करने का फैसला किया। सत्याग्रहियों के लिए उन्होंने जो नियमावली बनाई थी, उसमें दो बातों पर खासतौर से जोर दिया गया था—जनता को उत्तेजित नहीं करेंगे और अधिकारियों को हैरान नहीं करेंगे। व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ करने से पहले गांधीजी ने यह नियमावली वाइसराय को भी भेज दी थी। पहले सत्याग्रही के रूप में आचार्य विनोबा भावे का चुनाव किया गया। उन्होंने १७ अक्तूबर, १९४० को वर्धा के समीप पवनार गांव में युद्ध-विरोधी भाषण करके सत्याग्रह का श्रीगणेश किया। चार दिन बाद वह गिरफ्तार कर लिये गए। विनोबाजी के बाद ७ नवंबर को दूसरी बारी पं० जवाहरलाल नेहरू की थी, लेकिन सरकार ने उन्हें एक सप्ताह पूर्व इलाहाबाद जाते हुए रास्ते में ही गिरफ्तार कर जेल भेज दिया था और चार साल की कैद की सजा भी दे दी थी। नवंबर के मध्य में आंदोलन का द्वितीय चरण आरंभ हुआ, जिसका नामकरण गांधीजी ने 'प्रतिनिधि सत्याग्रह' किया था। इसमें भाग लेने के लिए कांग्रेस की कार्य-समिति, महासमिति और केन्द्रीय तथा प्रांतीय कौंसिलों के कांग्रेसी सदस्यों में से सत्याग्रहियों का चुनाव किया गया था। साल खतम होते-होते चार सौ कांग्रेसी विधायक जेलों में थे। इन चार सौ में २९ भूतपूर्व कांग्रेसी मंत्री भी थे। जनवरी, १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह ने तीसरे

चरण में प्रवेश किया। इस बार सत्याग्रहियों की सूचियां स्थानीय कांग्रेस समिति बनाती थी और गांधीजी उन्हें स्वीकृति देते थे। अप्रैल, १९४१ में जब आंदोलन का चौथा चरण शुरू हुआ तो उसमें साधारण कांग्रेसजनों को भी भाग लेने की स्वीकृति दे दी गई। १५ मई, १९४१ तक सरकारी सूचनाओं के अनुसार २५,०६९ सत्याग्रही बंदी जेल में सजाएं काट रहे थे। लेकिन गांधीजी ने सारा आंदोलन इस ढंग से संचालित किया था कि देश में कहीं उत्तेजना की कोई घटना न घटी और न वातावरण ही तनावपूर्ण हुआ। इस युद्ध-विरोधी सत्याग्रह को सामूहिक सविनय अवज्ञा का रूप देने के लिए वह तैयार न हुए—"जन-आंदोलन का न तो कोई औचित्य है और न वातावरण ही। यह सरकार को जान-बूझकर परेशान करना होगा और साथ ही अहिंसा का भंग भी।

जब 'हिंदू' समाचार-पत्र ने यह लिखा कि व्यक्तिगत सत्याग्रह से युद्ध पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा तो गांधीजी ने जवाब दिया था कि उसका उद्देश्य युद्ध-प्रयत्नों में बाधा पहुंचाना तो कभी था ही नहीं। भारत-मंत्री मि० एमरी ने अपने एक बयान में व्यक्तिगत सत्याग्रह को "जितना विवेकहीन उतना ही खेदजनक भी" बताया था और कहा कि "वह ढीले-ढाले तरीके से चल रहा है, जिसमें लोगों की कोई दिलचस्पी नहीं है।" पर्ल बंदरगाह पर जापानी आक्रमण के तीन दिन पहले तक जिस भारत सरकार को स्वयं उसीके शब्दों में, "विजय प्राप्त होने तक युद्ध-प्रयत्नों में भारत के सभी जिम्मेदार लोगों के पूर्ण समर्थन का पक्का-पूरा विश्वास था," उसने व्यक्तिगत सत्याग्रह में गिरफ्तार और सजा काट रहे सभी राजनैतिक बंदियों को रिहा करने का फैसला कर लिया।

जापान के युद्ध में प्रवेश करते ही लड़ाई भारत के दरवाजे तक पहुंच गई। अमरीकी जहाजी बेड़े को तहस-नहस कर जापानी सेना तूफानी वेग से पश्चिमी प्रशांत महासागर में बढ़ी चली आ रही थी। १५ फरवरी, १९४२ को सिंगापुर का पतन हुआ और जापानी बेड़े के लिए बंगाल की खाड़ी तक पहुंचने का रास्ता साफ हो गया। नौ-शक्ति के रूप में अंग्रेजों का पतन हो गया था। मलाया और बर्मा को पददलित कर जापानी पूर्वी और दक्षिणी भारत पर चढ़ दौड़ने के लिए तैयार खड़े थे। जापानियों की

इस त्वरित विजय ने जहां उनके सैन्य बल और रण-कौशल की धाक जमा दी, वहीं यह भी प्रकट कर दिया कि उनके द्वारा विजित देशों में न प्रतिरोध की इच्छा थी, न उत्साह।

गांधीजी ने जापानियों के इस नारे की कि "एशिया सिर्फ एशियावसियों के लिए है" निंदा की थी और चीन से सहानुभूति प्रकट करने के लिए जापानी माल के बहिष्कार का समर्थन किया था। चीन के प्रति नेहरूजी की सहानुभूति जग-जाहिर थी। इसलिए अगर जापान भारत पर हमला करके दो-एक लड़ाइयां जीत लेता तो उसे यहां सक्रिय सहयोग तो न मिल पाता, लेकिन देशव्यापी पराजयवाद और निष्क्रियता के कारण यहां अपने पांव जमाने का मौका अवश्य मिल जाता। इस आसन्न संकट में धुरी राष्ट्रों का पूरी शक्ति से प्रतिरोध करने में अपना और देश का सहयोग देने की कांग्रेस की उत्कठा बहुत ही तीव्र हो गई थी।

व्यक्तिगत सत्याग्रह के बंदियों की रिहाई से गांधीजी को, जैसाकि उन्होंने कहा भी था, "न तो प्रसन्नता हुई, न प्रशंसा का ही भाव मन में आया।" लेकिन घटनाचक्र बहुत तेजी से चल रहा था। दिसबंर, १९४१ और जनवरी १९४२ की उन सर्दियों में मित्र-राष्ट्रों की स्थिति उतनी ही संकटपूर्ण थी, जितनी १९४० की गर्मियों में फ्रांस के पतन के बाद हो गई थी। सी० राजगोपालाचार्य के नेतृत्व में कांग्रेस का एक वर्ग तुरंत समझौता करके जापानियों के खिलाफ ब्रिटिश सरकार से संयुक्त मोर्चा बनाने के पक्ष में था। अधिकाश कांग्रेसी नेता जापानी खतरे के खिलाफ सरकार की मदद करने को तैयार थे, लेकिन चाहते थे कि पहले सरकार अपनी ओर से सद्भावना का संकेत करे।

उधर ब्रिटिश सरकार के विचारों में भी युद्धजन्य परिस्थिति के कारण काफी परिवर्तन हो गया था। चर्चिल प्रधान मंत्री थे। वह भारत की स्वाधीनता के कट्टर विरोधी थे। दिसंबर १९४१ में जब उन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट से वाशिंगटन में भेंट की और रूज़वेल्ट ने भारत की समस्या का उल्लेख किया तो चर्चिलसाहब को जैसे ततैया ने डंक मार दिया। स्वयं उन्हींके शब्दों में—"मैं इस कदर नाराज़ हुआ कि फिर उन्होंने उस सवाल को छेड़ा ही नहीं।" लेकिन उन्हीं चर्चिल साहब

को अब भारत का राजनैतिक संकट हल करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा। सिंगापुर के पतन के दस दिन बाद, २५ फरवरी को उन्होंने अपने युद्धकालीन मंत्रिमंडल की एक उपसमिति भारतीय समस्या का अध्ययन करने और उसका हल सुझाने के लिए नियुक्त की। इस समिति के सदस्यों में साइमन और एटली विधि-आयोग के सदस्य रह चुके थे। जेम्स ग्रिग और जान एंडरसन उपनिवेश-विभाग की भारतीय शाखा में उच्च पदों पर थे, स्टैफर्ड क्रिप्स प्रायः सभी महत्वपूर्ण भारतीय नेताओं से मिल चुके थे, भारतीयों की स्वतंत्र होने की अभिलाषा से सहानुभूति रखनेवाले और भारतीय राजनीति के अच्छे जानकार थे एवं एमरी ब्रिटिश सरकार के भारत-मंत्री थे। ११ मार्च को चर्चिल ने हाउस आव कामन्स को यह सूचना दी कि उनका मंत्रिमंडल भारतीय समस्या पर एक सर्व-सम्मत निर्णय कर चुका है और सदन के नेता स्टैफर्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से चर्चा करने के लिए शीघ्र ही भारत-यात्रा करनेवाले हैं।

स्टैफर्ड क्रिप्स निश्चय ही इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे। वह जब २२ मार्च को ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव लेकर नई दिल्ली पहुंचे तो बहुत ही आशावान थे। उन्होंने भारतीय संकट को हल करने के लिए प्रमुख अधिकारियों एवं विभिन्न भारतीय नेताओं से जिन सुझावों पर चर्चा की वे संक्षेप में इस प्रकार थे—युद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद प्रांतीय कौंसिलों का चुनाव होगा और उन कौंसिलों के निम्न सदन एक विधान-निर्मात्री परिषद का चुनाव करेंगे। रियासतें उसमें अपने नामजद प्रतिनिधि भेजेंगी। यह परिषद 'भारतीय संघ' का, जो दूसरे उपनिवेशों के समकक्ष 'स्वतंत्र उपनिवेश' होगा, संविधान बनायेगी। उस भारतीय संघ को, यदि वह चाहे तो, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अलग होने का, अधिकार भी होगा। ब्रिटिश सरकार उस संविधान को इस शर्त पर जारी करेगी कि "यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत नये विधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का पूरा अधिकार रहे, किंतु साथ ही यह व्यवस्था भी रहे कि वह प्रांत यदि बाद में विधान में आना चाहे तो आ सके।" मिस्टर एटली ने इन सुझावों को बड़ा ही "साहसपूर्ण कदम" और "इनके निर्माताओं के लिए प्रशंसनीय काम" कहा था।

लेकिन भारतीय नेताओं को ये प्रस्ताव एकदम निराशाजनक और निस्सार प्रतीत हुए थे। गांधीजी ने (क्रिप्स ने उन्हें तार देकर वर्धा से मिलने के लिए बुलाया था। क्रिप्स से कहा था, "यदि आपके यही प्रस्ताव थे तो आपने यहां आने का कष्ट क्यों उठाया ?...मैं आपको सलाह दूंगा कि आप अगले ही हवाई जहाज से ब्रिटेन लौट जायं।" जवाहरलालजी स्वीकार करते हैं कि जब उन्होंने पहली बार उन प्रस्तावों को पढ़ा तो उनका "दिल बुरी तरह बैठ-सा गया"; "और ज्यों-ज्यों मैंने उनको पढ़ा, मेरी निराशा बढ़ती गई।" यह सच है कि भारतीयों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया था और उस अधिकार को कार्यान्वित करने का ढंग और समय भी साफ शब्दों में निश्चित कर दिया गया था, लेकिन प्रांतों और रियासतों को अलग होने का अधिकार देकर देश के बीसियों "स्वतंत्र राज्यों" में विभाजित करने की व्यवस्था भी कर दी गई थी, जिससे भारत की राजनैतिक और आर्थिक एकता के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। यह तो दूसरे रूप में मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लेना था। क्रिप्स ने अपने एक रेडियो भाषण में कहा भी था—"जो लोग आपके साथ एक ही कमरे में प्रवेश करना न चाहें, उन्हें राजी करते हुए यह कहना कि भीतर जाने के बाद आप बाहर निकल नहीं सकते, बुद्धिमानी की बात नहीं।" कुल मिलाकर कांग्रेसी नेताओं की प्रतिक्रिया यही रही कि जिन्ना को बंटवारे की मांग को स्वीकार करने में क्रिप्स-योजना लिनलिथगो की १९४० अगस्त की घोषणा से एक कदम आगे है। १९४० में पाकिस्तान एक कल्पना-मात्र था, मार्च १९४२ में वह एक राजनैतिक संभावना बन गया था।

कांग्रेसी नेता क्रिप्स-योजना के संवैधानिक पक्ष से सहमत न हो सके, लेकिन उन्होंने उसके भारत की रक्षा-संबंधी तात्कालिक सुझावों पर विचार करके समझौते का कोई रास्ता निकालने की उत्सुकता अवश्य प्रदर्शित की। क्रिप्स और वाइसराय के साथ भारतीय नेताओं की कई बैठकें हुई और उनमें वाइसराय की कौंसिल के भारतीय रक्षा-सदस्य के उत्तरदायित्वों और अधिकारों के संबंध में विशद चर्चाएं हुईं। इन चर्चाओं में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के निजी दूत कर्नल लुई जानसन भी हिस्सा ले रहे थे। लेकिन

ये चर्चा-वार्ताएं भंग हो गईं। भंग होने का कारण भारतीय रक्षा-सदस्य के कर्त्तव्यों और अधिकारों के संबंध में मतभेद उतना नहीं था, जितना कि अंतरिम सरकार के स्वरूप और अधिकारों के संबंध में।[१]

इंग्लैंड पहुंचने के बाद क्रिप्स ने कहा कि उन्होंने तो सभी मिलनेवालों के सामने शुरू से ही यह बात साफ कर दी थी कि नये विधान के लागू होने से पहले कोई वैधानिक परिवर्तन न किया जा सकेगा। हो सकता है कि क्रिप्स का शुरू से यही इरादा रहा हो, लेकिन कांग्रेसी नेताओं पर तो उनकी बातों का कुछ दूसरी ही तरह का असर हुआ था। समझौता-वार्ताओं के दौरान उन्होंने 'राष्ट्रीय सरकार' और 'मंत्रि-परिषद' आदि शब्दों का खूब प्रयोग किया था, जिससे कांग्रेसी नेताओं को यह आशा हो चली थी कि वाइसराय के वैधानिक नेतृत्व में मंत्रिपरिषद के पूरे अधिकारोंवाली नई सरकार शीघ्र ही काम करने लगेगी। इस गलतफहमी के लिए कांग्रेसी नेताओं की वे धारणाएं भी जिम्मेदार हो सकती हैं, जिनका क्रिप्स-योजना के सुझावों में कोई उल्लेख नहीं था। नेहरूजी ने भी बाद में इस ओर संकेत करते हुए लिखा था कि "हो सकता है कि समझौता के लिए कांग्रेसी नेताओं की उत्सुकता ने उनको कुछ झूठी आशाएं बंधा दी हों।"

२४ अप्रैल १९४२ को लखनऊ के 'नेशनल हेरल्ड' ने क्रिप्स-समझौता-वार्ता को 'अमरीका का दबाव' बताते हुए उसकी असफलता पर यह टिप्पणी की थी—"यह विश्व-जनमत को अपने अनुकूल बनाने और असफलता के लिए पूरी तरह भारतीयों को जिम्मेदार ठहराने का ब्रिटेन का एक निरा तमाशा था।" इससे भारतीयों के गुस्से और निराशा का पता तो चल जाता है, लेकिन ब्रिटिश सरकार के साथ न्याय नहीं होता। जिस सरकार के प्रधान मंत्री ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के

---

१ क्रिप्स-योजना के अन्तर्गत भारत की रक्षा और युद्ध में सहयोग के संबंध में यह सुझाव था : "भारत के सम्मुख जो संकटकाल उपस्थिति है, उसके बीच में और जबतक नया विधान लागू न हो तबतक सम्राट की सरकार भारत की रक्षा, नियन्त्रण और निर्देशन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में रखेगी। भारतीय जनता के सहयोग से संपूर्ण सैनिक, नैतिक तथा आर्थिक साधनों को संगठित करने की जिम्मेदारी भारत सरकार पर रहेगी।"

लिए पदारूढ़ है, उसका दिवाला निकालने के लिए नहीं, उसी सरकार के द्वारा भारत के आत्मनिर्णय की स्पष्ट स्वीकारोक्ति बहुत बड़ी बात थी। गलती यही हुई कि वैधानिक सुझावों में दोनों को खुश करने की कोशिश की गई। भारत में जनवादी सरकार की स्थापना की बात कहकर कांग्रेस को, और उसे बीसियों छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त करने की बात कहकर मुस्लिम लीग, रियासतों एवं अन्य निहित स्वार्थों को। जिन्नासाहब के विचारों और तरीकों के कारण भारत के राजनैतिक भविष्य का प्रश्न इस बुरी तरह उलझ गया था कि ब्रिटेन की युद्धकालीन मंत्रिपरिषद की एक उपसमिति के जल्दी-जल्दी तैयार किये हुए प्रस्ताव से वह सुलझ नहीं सकता था। फिर उस प्रस्ताव में संशोधनों की कोई गुंजायश भी नहीं रह गई थी। "जैसा है वैसा स्वीकार करो या अस्वीकार कर दो" वाली शर्त ने तो उसकी सफलता की संभावनाओं को और भी कम कर दिया था।

युद्ध ऐसे खतरनाक मोड़ पर पहुंच गया था कि संवैधानिक सुझावों से असहमत होते हुए भी कांग्रेसी नेता उस जटिल समस्या को स्थगित कर बढ़े चले आ रहे जापानी खतरे के खिलाफ देश को संगठित करने के लिए तैयार हो गये थे। लेकिन जिस युद्ध में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से क्रिप्स-समझौता-वार्ता शुरू की गई थी वह दुर्भाग्य से युद्ध में सहयोग देने के ही तरीकों को लेकर भंग हो गई और वह भी ऐसे समय जब कांग्रेसी नेता जापानियों से लड़ने के लिए नई सेनाएं बनाने और ग्राम तथा नगर-रक्षा-दल संगठित करने को सबसे ज्यादा उत्सुक थे।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट को नई दिल्ली की पल-पल की खबरें उनके निजी दूत द्वारा भेजी जा रहीं थीं। समझौता-वार्ता भंग हो जाने से उन्हें बड़ा धक्का लगा और उन्होंने हापकिन्स के द्वारा चर्चिल को यह संदेश भेजा कि अमरीकी जनता की यह समझ में नहीं आता कि यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध के बाद भारतीय प्रांतों और रियासतों को साम्राज्य से पृथक होने का अधिकार देने को तैयार है तो अभी उन्हें स्वशासन का अधिकार देने से क्यों इनकार कर रही है? उन्होंने 'सार रूप में हमारे ही ढंग की' राष्ट्रीय सरकार भारत में स्थापित करने के लिए फिर से प्रयत्न करने का सुझाव भी चर्चिल को दिया, जो कार्यान्वित नहीं हुआ, क्योंकि क्रिप्स भारत से चल

पड़े थे। चर्चिल ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"भगवान को धन्यवाद कि घटनाओं के कारण ऐसा पागलपन संभव न हुआ।"

कांग्रेस अध्यक्ष ने क्रिप्स को लिखा था—"भारत की सुरक्षा ही हमारे और सभी भारतवासियों के निकट सबसे मुख्य प्रश्न है।" भारत की सुरक्षा के ही लिए भारतीय जनता राष्ट्रीय सरकार चाहती थी, लेकिन ऐसे समय भी ब्रिटिश सरकार भारत के राजनैतिक दलों के हाथ में सत्ता सौंपने को तैयार न हुई और अपनी जिद पर अड़ी रही। भारत सरकार के अधिकांश केंद्रीय और प्रांतीय अधिकारियों को युद्ध में कांग्रेस के सहायता-प्रयत्नों पर ज़रा भी विश्वास न था। फिलिप वुडरफ के शब्दों में—"कांग्रेस की मदद से न तो कोई रंगरूट, न एक जोड़ी जूता और न बम का एक गोला ही मिल सकता था।" चर्चिल ने भी १९४२ की जनवरी में कहा था कि कांग्रेस के हाथ में सत्ता सौंप देने से युद्ध के प्रयत्नों में कुछ अधिक सहायता मिल जाने की आशा निरी दुराशा ही सिद्ध होगी। "परस्पर विरोधी दलों के हाथ में देश की सुरक्षा का भार देने से तो सारा काम ही चौपट जायगा।" मार्च १९४२ में चर्चिल क्रिप्स-प्रस्ताव के लिए राजी तो हो गये, परंतु कांग्रेस के प्रति उनका (और उनके प्रति कांग्रेस का) अविश्वास बराबर बना रहा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के समझौता-वार्ता को फिर से शुरू करने के सुझाव को अस्वीकृत करने के संबंध में उनका कहना था कि "यदि इस संकट की घड़ी में सारे मामले को खटाई में डाला गया तो वह भारत की सुरक्षा की जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं हो सकेंगे।"

इंग्लैंड पहुंचकर क्रिप्स ने अपनी असफलता का सारा दोष गांधीजी के सिर मढ़ दिया। उन्होंने तो यहांतक कह दिया कि कांग्रेस की कार्य-समिति ने प्रस्ताव को स्वीकार करने संबंधी प्रस्ताव भी कर लिया था, लेकिन गांधीजी ने उसे रद्द करवा दिया, जबकि सचाई यह थी कि पहले तो गांधीजी दिल्ली आने को ही तैयार न थे। क्रिप्स के आग्रह पर राजी हुए तो उनके सुझावों में अपना संदेह प्रकट किया और समझौता-चर्चा को आरम्भिक स्थिति में ही छोड़कर वर्धा लौट गये। अंतिम निर्णय तो कार्य-समिति ने ही किया था और उसके सदस्यों को गांधीजी की राय मालूम थी, लेकिन साथ ही वे यह भी जानते थे कि वे जो भी निर्णय करेंगे, गांधीजी

उसके बीच में नहीं आयंगे।

ऐसा कहा जाता है कि गांधीजी ने क्रिप्स-प्रस्ताव को दिवाला निकालती हुई बैंक के नाम बाद की तारीख का चेक[१] बताया था। गांधीजी का कहना है कि "मैंने ऐसी तो कोई बात नहीं कही, लेकिन सच देखा जाय तो वह प्रस्ताव बाद की तारीख का चेक ही था। ब्रिटिश सरकार के रुख ने, भविष्य पर जोर देने और वर्तमान को योंही छोड़ देने की नीति ने उन्हें हतोत्साह कर दिया था। वर्तमान में होनेवाले परिणामों के आधार पर ही वह नीतियों के गुण-दोष को परखने के आदी थे। यदि ब्रिटेन ने भारत के स्वतंत्र होने के अधिकार को वास्तव में स्वीकार कर लिया था, या यदि गांधीजी की ही भाषा में कहें कि उसका हृदय-परिवर्तन हो गया था तो उसके संकेत वह रोजमर्रा के प्रशासन में भी देखना चाहते थे, न कि केवल सरकारी दस्तावेजों में। लेकिन उन्हें इस तरह का कोई संकेत नहीं दिखाई दे रहा था।

: ३७ :

भारत छोड़ो

क्रिप्स-योजना में गांधीजी ने कोई खास रुचि नहीं दिखाई थी, लेकिन फिर भी उसकी असफलता से उन्हें बड़ी निराशा हुई। स्टैफर्ड क्रिप्स-जैसा भारत का मित्र भी कांग्रेस की स्थिति को गलत समझ सकता है और उसकी गलत व्याख्या कर सकता है, इससे अधिक बड़ा आघात और क्या हो सकता था! अब तो बिल्कुल साफ दिखाई दे रहा था कि युद्ध-काल में कोई समझौता नहीं हो सकेगा। सरकार युद्ध-जन्य परिस्थितियों से निपटने में लगी थी। भारतीय सेना का काफी विस्तार कर दिया गया था। ब्रिटिश और अमरीकी शस्त्र-सरंजामों से उसे लैस करने के साथ-ही-साथ सैनिकों तथा दस्तों की संख्या भी बहुत बढ़ा दी गई थी।

एक लम्बे-चौड़े विशाल देश में सीमाओं से बहुत दूर अंदरूनी हिस्सों से सामना करने का क्या अर्थ होता है, इसे जापान ने चीन में और जर्मनी ने

[१] 'ए पोस्टडेटेड चेक ग्रान ए क्रैशिंग बैंक'

रूस में भारी कीमत चुकाकर खूब अच्छी तरह समझ लिया था। भारत-जैसे विशाल देश पर शीघ्रता से अधिकार कर लेना सरल काम नहीं था। लेकिन भारत में चीन और रूस से एक बुनियादी अंतर यह था कि यहां युद्ध साधारण जनता की देशभक्ति को जगा नहीं सका था। यहां की सरकार और जनता में उद्देश्यों और विचारों की कोई एकता नहीं थी। अंग्रेजों पर लोगों का ज़रा भी विश्वास नहीं रह गया था। सरकार का संपर्क सिर्फ युद्ध के ठेकों और मुनाफों पर मुटानेवाले मुट्ठी-भर लोगों से ही था, जबकि गांधीजी का हाथ जनता की नब्ज पर था। वह जानते थे कि देश संकट को चुनौती देने की स्थिति में नहीं है। देश की जनता डरी हुई, निराश और असहाय थी। भारत को बर्मा और मलाया की-सी स्थिति से बचाने के लिए तुरंत कुछ-न-कुछ करने की आवश्यकता थी। गांधीजी का विश्वास था कि यदि ब्रिटिश सरकार अब भी भारत की स्वाधीनता की फौरन घोषणा कर दे तो लोगों को देश-रक्षा के लिए संगठित किया जा सकता था।

लार्ड हार्डिंग ने एक बार गोखले से पूछा था कि मान लीजिये मैं आपको यह बता सकूं कि सारे ब्रिटिश अधिकारी और सैनिक दस्ते एक ही महीने में भारत छोड़कर चले जायंगे तो आपको कैसा लगेगा? "मुझे बहुत खुशी होगी," गोखले ने कहा था, "लेकिन आप लोगों के अदन पहुंचने के पहले ही हमें आप लोगों को वापस लौट आने का तार करना होगा।" तबसे अब-तक जनता के विचारों में बहुत प्रगति हो गई थी, फिर भी विश्व-व्यापी युद्ध के दौरान सारे अंग्रेजों को भारत से हटा देने की बात तो अब भी नहीं सोची जा सकती थी और न गांधीजी की यह मांग ही थी। वह तो केवल इतना चाहते थे कि राजनैतिक सत्ता भारतीयों को सौंप दी जाय। जो यह कहते थे कि यह समय इस काम के लिए उपयुक्त नहीं है, उन्हें गांधीजी का यह जवाब था, "भारत की स्वाधीनता को मान लेने का मनोवैज्ञानिक क्षण तो यही है। तभी और केवल तभी, जापानी आक्रमण के प्रतिरोध में जनता को खड़ा किया जा सकता है।"

गांधीजी को यह कहते हुए बीस बरस से भी ज्यादा समय हो गया था कि हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना भारत को स्वतंत्रता नहीं मिल सकती।

लेकिन सांप्रदायिकता अपना घिनौना सिर बार-बार उठाती रही और अन्त में वह इस नतीजे पर पहुंचे कि स्वतंत्रता के वातावरण में ही विभिन्न जातियों और संप्रदायों के परस्पर विरोधी दावों को सही ढंग से निपटाया जा सकता है। इस तरह गांधीजी का 'भारत छोड़ो'-आंदोलन एक साथ दो खतरों का हल था—जापानी आक्रमण से देश की रक्षा और आंतरिक फूट को मिटाकर स्थायी एकता स्थापित करना। जो 'भारत छोड़ो' को निराशा, पराजय और जापानियों के स्वागत-सत्कार की नीति कहते हैं, उनके बारे में यही कहना होगा कि उन्होंने गांधीजी के विचारों को सही रूप में समझने की ज़रा भी कोशिश नहीं की। फरवरी, १९४२ में जब जापान सुदूर पूर्व में विद्युत् वेग से बढ़ रहा था तो यह आशंका प्रकट की जाने लगी थी कि निकट भविष्य में ही इंग्लैंड का पतन हो जायगा। गांधीजी ने सार्वजनिक रूप से ऐसी आशंकाओं की भर्त्सना करते हुए लिखा था कि ब्रिटेन को पहले भी अनेक युद्धों में पीछे हटना पड़ा है। लेकिन संकट का सामना करने और हर बाधा को सफलता की सीढ़ी बना लेने की उसमें अद्भुत क्षमता है। शासकों और स्वामियों की अदला-बदली के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा था, "ब्रिटिश राज्य को किसी भी दूसरे परदेशी शासन से बदलने के लिए मैं ज़रा भी तैयार नहीं हूं। जिस दुश्मन को मैं नहीं जानता उससे तो वही दुश्मन अच्छा, जिसे मैं कम-से-कम जानता तो हूं। धुरी राष्ट्रों के मित्रता के दावों की असलियत मैं जानता हूं और इसीलिए मैंने उन्हें कभी महत्व नहीं दिया।"

भारत में धुरी राष्ट्रों के महत्वपूर्ण सहयोगी या समर्थक कभी रहे भी हों तो उनमें गांधीजी तो कदापि नहीं थे। कुछ विदेशी संवाददाताओं ने इस तथ्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया था कि यदि भारत से सारी ब्रिटिश सेनाएं एकबारगी हटा ली गईं तो भारत पर जापानी आक्रमण का मार्ग एकदम खुल जायगा और चीन की सुरक्षा भी काफी हद तक खतरे में पड़ जायगी। उन्होंने स्वीकार किया था कि "जापानियों को रोकने का कोई सुस्पष्ट तरीका मेरे पास नहीं है।" उसके बाद जवाहरलालजी से काफी विचार-विनिमय करने के बाद अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की ठोस वास्तविकताओं के अनुरूप अंग्रेजों को भारत से हटाने का प्रस्ताव उन्होंने तैयार किया

था। उन्होंने युद्ध-काल में मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं को भारत में रखने की बात स्वीकार कर ली थी और कहा था कि धुरी राष्ट्रों के खिलाफ रक्षात्मक कार्रवाइयों के लिए संयुक्त राष्ट्र से संधि करना भारत की राष्ट्रीय सरकार का पहला काम होगा।

सितम्बर १९३९ की 'विदेशी आक्रमण के अहिंसात्मक प्रतिरोध' की स्थिति से गांधीजी काफी दूर निकल आये थे। अहिंसात्मक प्रतिरोध के प्रश्न पर वह दो बार कांग्रेस से अलग भी हो चुके थे। अहिंसा उनका मूल मंत्र था, इसलिए यदि इस बार वह कांग्रेस से सहमत हो गये और प्राणों से भी प्यारे सिद्धांत से थोड़ा दूर हट गये तो यही मानना होगा कि युद्ध-जन्य संकट की उस घड़ी में देश को स्वतंत्र करने की आकांक्षा एकदम दुर्दमनीय हो उठी थी।

१४ जुलाई, १९४२ की वर्धा की अपनी बठक के बाद कांग्रेस कार्य-समिति ने घोषणा की कि "भारत से ब्रिटिश राज्य का तुरत अंत होना चाहिए।" समिति की राय में क्रिप्स मिशन की असफलता के परिणाम-स्वरूप अंग्रेजों के प्रति दुर्भावना और जापान की सैनिक सफलताओं के प्रति सद्भावना और संतोप में निरंतर वृद्धि होती जा रही थी। अंत में "भारत का संयुक्त प्रयत्न में बराबरी का हिस्सेदार बनाने के लिए देश को स्वतंत्र करने" की मांग करते हुए समिति ने घोषणा की थी, यदि ब्रिटिश राज्य को भारत से तुरंत हटा लेने के उसके अनुरोध पर ध्यान नहीं दिया गया तो गांधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर दिया जायगा। इस महत्वपूर्ण मसले पर अंतिम फैसला कांग्रेस की महासमिति ने बबई की अपनी ७ अगस्त की ऐतिहासिक बैठक में किया।

१९४२ के अगस्त महीने में सरकार और कांग्रेस दोनों के मिजाज एक-से बिगड़े हुए थे। लार्ड लिनलिथगो, अपने विचारों के अनुसार, पूरे तीन साल तक काफी धीरज और शांति से काम लेते रहे थे। १९४१ के दिसंबर में सभी सत्याग्रही बंदियों को रिहा करके उन्होंने अपनी सद्भावना का परिचय भी दिया था, लेकिन कांग्रेस का सहयोग उन्हें फिर भी न मिला। 'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव ने देश के राजनैतिक वातावरण को एकदम गरम कर दिया था। यदि सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू कर ही दिया गया तो

सामान्य शासन ठप्प होने के साथ-साथ सारे युद्ध-प्रयत्न भी खतरे में पड़ जाएंगे। वाइसराय ने कड़े हाथ से काम लेने का फैसला किया। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के समर्थन का उन्हें पूरा और पक्का विश्वास था।

गांधीजी, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आज़ाद[1] आदि कांग्रेसी नेताओं को ९ अगस्त को बड़े सवेरे ही गिरफ्तार कर लिया गया। इन गिरफ्तारियों की देश में बड़ी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई, खास तौर पर बंगाल, बिहार, संयुक्त प्रांत और बंबई में जनता ने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ बगावत का झंडा खड़ा कर दिया। डाकघर, थाने, अदालतें, रेल के स्टेशन आदि ब्रिटिश राज्य से संबंधित सभी संस्थाओं को जलाया जाने लगा। रेल की पटरियां उखाड़ दी गईं और डिब्बों को तोड़ा-फोड़ा गया। टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काट दिये गए। महासमिति के समक्ष दिये गए अपने अंतिम भाषण में गांधीजी ने शुरू की जानेवाली लड़ाई के अहिंसात्मक रूप पर काफी जोर दिया था, लेकिन सरकार के घनघोर दमन से विक्षिप्त और क्रुद्ध जनता ने इस सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया। यह सच है कि अंग्रेज अफसरों ने १८५७ के विद्रोह की याद ताजा कर दी थी, लेकिन यह भी मानना होगा कि १९४२ की घटनाएं स्वयं-स्फूर्त और आत्मघाती हिंसा का परिणाम भी थीं। सरकार ने आंदोलन पर पूरी शक्ति से वार किया। भीड़ को बिखेरने के लिए गोलीबारी ही नहीं की जाती थी, हवाई जहाजों से मशीनगनें भी चलाई जाती थीं।

चर्चिल ने हाउस आव कामन्स में कहा कि "कांग्रेस ने अब अहिंसा की उस नीति को, जिसे गांधीजी एक सिद्धांत के रूप में अपनाने पर इतने दिनों से जोर देते आ रहे थे, त्याग दिया है और क्रांतिकारी आंदोलन का रास्ता अपना लिया है।" देश और विदेशों में यह धुंआधार प्रचार किया जाने लगा कि यह सारी तोड़-फोड़, हिंसा और आगजनी कांग्रेसी नेताओं द्वारा तैयार किये हुए षड़यंत्र का ही परिणाम है। गिरफ्तारी के एक सप्ताह बाद गांधीजी ने आगाखां-महल से, जहां उन्हें बंद किया गया था, वाइसराय को पत्र लिखकर शिकायत की कि तोड़-फोड़ की घटनाओं के बारे में सरकारी वक्तव्य "सत्य की हत्या" ही है। उन्होंने कहा कि यदि मुझे गिरफ्तार न कर

[1] मौलाना साहब उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे।

लिया जाता तो सरकार से समझौता करने की कोई कोशिश बाकी नहीं छोड़ता। आंदोलन में हिंसा को प्रोत्साहन देने और किसी षड़यंत्र में उनका या उनके सहयोगियों का हाथ होने के आरोप को उन्होंने बिलकुल ही गलत बताया और नेताओं की अंधाधुंध गिरफ्तारी के द्वारा संकट को गहरा करने के लिए उलटे सरकार को ही जिम्मेदार ठहराया। गांधीजी अभी महा-समिति को अपनी पूरी योजना समझा भी नहीं पाये थे कि सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। स्वतंत्रता की तीव्र उत्कंठा और युद्धकाल में सरकार को परेशान न करने की अभिलाषा में संतुलन बनाये रखने की वह सतत कोशिश करते रहे थे। यदि वह गिरफ्तार न कर लिये जाते तो आंदोलन का रूप कुछ दूसरा ही होता—उसमें सरकार को युद्धकाल में परेशान न करने-वाली बात ही अधिक होती। यदि आंदोलन हिंसात्मक हो ही जाता तो वह उसे रोकने में अपनी पूरी शक्ति, यहांतक कि प्राणों की बाजी भी, लगा देते। उत्तेजित जन-समुदाय को वस में करने का रामबाण उपाय—उपवास तो उनके हाथ में था ही।

'१९४२ के उपद्रवों' की जिम्मेदारी के संबंध में आगाखां-जेल से गांधीजी और वाइसराय तथा उनकी सलाहकार परिषद् के बीच काफी लंबा और कुछ उग्र पत्र-व्यवहार होता रहा। लार्ड लिनलिथगो ने (जिन्हें गांधीजी अपना मित्र समझते थे) जब अहिंसा में उनकी आस्था और उनकी ईमानदारी में ही संदेह प्रकट कर दिया तो महात्माजी से बर्दाश्त न हो सका। इस घोर आत्मिक कष्ट से शांति पाने के लिए उन्होंने १० फरवरी-१९४३ से इक्कीस दिन का उपवास आरंभ किया। भारत सरकार जिस उपवास से डर रही थी वह आखिर शुरू हो ही गया। जेल में गांधीजी की मृत्यु की जोखिम उठाने को वह कभी तैयार नहीं हुई थी, लेकिन इस बार उसका रुख़ इतना कड़ा था कि वह यह खतरा और इसके परिणामों के लिए भी तैयार हो गई। गांधीजी के उपवास शुरू करते ही सारे देश में उथल-पुथल मच गई। डाक्टरी बुलेटनों के शोकजनक समाचारों से सारा देश शोकाकुल और उद्विग्न होने लगा। वाइसराय की कार्यकारी परिषद् के तीन सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया। विभिन्न पार्टियों और दलों के नेता एक होकर गांधीजी की रिहाई और उनकी प्राण-रक्षा के लिए वाइसराय से

अपीलें करने लगे। लेकिन ब्रिटिश मंत्रिमंडल की शह पाकर वाइसराय और अकड़ गये, वह टस-से-मस न हुए, उलटे उन्होंने गांधीजी के उपवास को 'राजनैतिक धौंस'[१] कहकर लांछित किया। महात्माजी को इस तरह लांछित कर वाइसराय को जो भी संतोष मिला हो, वही जानें, लेकिन उनके प्रति देश की नाराज़ी तो और बढ़ी ही।

"यह उनकी गलती नहीं, हमारा सौभाग्य ही था कि गांधीजी और उनके साथियों को बड़ी होशियारी से रखे हुए पलीते में निर्धारित समय के पहले आग लगाने को विवश होना पड़ा।" १९४२ के उपद्रवों के संबंध में यह दोषारोपण किया था वाइसराय की कार्यकारी कौंसिल के अंग्रेज गृह सदस्य सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने और यह उस सरकारी प्रचार का एक अंश था, जिसके द्वारा गांधीजी और कांग्रेस को जापान के खिलाफ मित्र-राष्ट्रों की लड़ाई में बाधक और तोड़फोड़ करनेवाला बतलाकर दुनिया की निगाह में बदनाम किया जा रहा था। इस भ्रामक प्रचार का कुछ असर तो जरूर हुआ, लेकिन वह ज्यादा दिन टिक न सका। नवंबर, १९४२ में फील्ड मार्शल स्मट्स ने लंदन की एक प्रेस-कांफ्रेंस में इस प्रचार की बखिया उधेड़कर रख दी। उन्होंने कहा—"महात्मा गांधी को पंचमांगी कहना निरी बकवास है। वह महान हैं। दुनिया के महापुरुषों में से एक हैं।" अखबारों में चित्र छापने और नाम का उल्लेख करने पर भी रोक लगाकर गांधीजी के राजनैतिक अस्तित्व को समाप्त करने की कोशिश में भी सरकार कामयाब न हो सकी। जिस साहस से उन्होंने सरकार का सामना किया, जिस अदम्य विश्वास से उन्होंने अहिंसा का ऐसे समय, जबकि चारों ओर हिंसा विजयी हो रही थी, पक्ष प्रबल किया, जिस दृढ़ता से उन्होंने १९४२ के उपद्रवों के बारे में सरकारी भ्रमजाल को छिन्न-भिन्न किया, उसने करोड़ों भारतवासियों की दृष्टि में उनके स्थान और सम्मान को बहुत ऊंचा कर दिया। वह रक्त-रंजित परंतु अपराजेय राष्ट्र-प्रेम के प्रतीक हो गये।

आज इतने वर्षों के बाद १९४२ की घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में ज्यादा अच्छी तरह देखा और समझा जा सकता है। १९३४ से ही

---

[१] पोलिटिकल ब्लैकमेल—अपनी मांग मंजूर करवाने के लिए बदनाम करने की धमकी देना।

गांधीजी जनता को अहिंसा व्रत में दीक्षित करने पर जितना जोर देते रहे थे, युद्ध से पहले के वर्षों में अनुशासनहीनता और हिंसा की चतुर्दिक वृद्धि से जो चिंता उन्हें होती रही थी और १९४०-४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह को उन्होंने जितना सीमित और नियंत्रित रखा था उस सबको देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि उस समय के उत्तेजनापूर्ण वातावरण में उन्होंने उतना खतरनाक कदम उठाने की इजाजत कैसे दे दी ! विश्वव्यापी युद्ध के समय जब जापान भारत की सीमाओं पर ताक लगाये खड़ा था, जन-आंदोलन के संभावित खतरों से वह अनभिज्ञ रहे हों, यह तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन जनता की घोर निराशा-जनित निष्क्रियता और उसके जापानी आक्रमण-कारी की शरण में चले जाने की संभावना से भी वह अपरिचित नहीं थे। देश की जनता को घृणा अथवा हिंसा का सहारा लिये बिना अपने राष्ट्रीय गौरव की स्थापना के लिए उद्यत करना चमत्कार कर दिखाना था। लेकिन ऐसे चमत्कार वह पहले भी कर चुके थे। १९३० में कुछ ही महीनों में गांधी-जी ने देश में राजनैतिक जागृति की बिजली भर दी थी और जातीय कटुता एवं हिंसा को ज़रा भी पनपने न दिया था। लेकिन बारह बरस बाद हालत बहुत बदल चुकी थी। सरकार भरी बैठी थी और जनता भी। युद्ध का भविष्य इतना अस्थिर था कि आगे की घटनाओं तक प्रतीक्षा करने का धैर्य सरकार में रह नहीं गया था और जनता तो असंतोष से उबल ही रही थी। १९४२ में देश की राजनैतिक स्थिति १९३० की अपेक्षा १९१९ के समय की स्थिति से ज्यादा अनुरूप थी। १९१९ की ही भांति १९४२ में भी गांधीजी ने जनता की नब्ज को बिलकुल ठीक पहचाना था, लेकिन उन्हें विश्वास था कि वह सत्याग्रह-आंदोलन के द्वारा उसे घृणा और हिंसा भावना से मुक्त करने में सफल हो जायंगे। परंतु कांग्रेसी नेताओं के गिरफ्तार होते ही जनता की ओर से तोड़-फोड़, आगजनी और विध्वंस एवं सरकार की ओर से क्रूर दमन और लोमहर्षक आतंक का जो दौर चला, उसमें सत्याग्रह के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई थी।

गांधीजी को यह आशा करने का कोई अधिकार नहीं था कि सरकार उनके निर्धारित रास्ते पर चलेगी और सरकार को भी यह अधिकार नहीं था कि वह अपनी नीति और अपने कृत्यों के परिणाम का दोष गांधीजी पर लगाये।

लार्ड लिनलिथगो ने अनुभवी ब्रिटिश प्रशासकों की गांधीजी के आंदोलन को आरंभिक अवस्था में ही कुचल देने की नीति का अनुसरण किया। लार्ड विलिंगडन की सफलता का कारण भी यही नीति समझी गई थी। लेकिन ऐसी नीति के परिणाम सदैव क्षणस्थायी होते हैं। दमन के परिणामस्वरूप जो कटुता पैदा होती है, वह दमन-कर्त्ताओं को ही ले बैठती है। १९३२ में लार्ड विलिंगडन ने समझा था कि उन्होंने कांग्रेस को कुचल दिया, लेकिन पांच साल बाद इंडिया एक्ट, १९३५ के अंतर्गत पहले चुनाव में वही कांग्रेस प्रबल बहुमत से विजयी हुई। १९४२ में लार्ड लिनलिथगो का भी कुछ ऐसा ही खयाल था, अपनी समझ में उन्होंने भी कांग्रेस को पूरी मात दे दी थी, लेकिन १९४७ में ब्रिटिश राज्य का सदा के लिए अंत हो गया और उसके स्थान पर कांग्रेस ही पदारूढ़ हुई। इसे इतिहास की विडंबना ही कहना होगा कि भारत के राष्ट्रीय आंदोलन पर प्रबलतम प्रहार करनेवाले दो वाइसराय लार्ड लिनलिथगो और लार्ड विलिंगडन अनचाहे और अनजाने ही भारतीय स्वाधीनता के उत्प्रेरक तत्त्वों का काम करते रहे।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से १९४२ की घटनाएं एक दुःखदायी विरासत ही साबित हुईं। देश-प्रेम की सर्वथा मिथ्या धारण के वशीभूत पहली बार इतने बड़े पैमाने पर तोड़-फोड़ और आगजनी की कार्रवाइयां की गई थीं। इससे सामूहिक आचरण का स्तर तो गिरा ही, १९४६-४७ में जब उत्तेजित जनता पर देश-भक्ति की जगह सांप्रदायिकता हावी हो गई तो १९४२ के उत्पातों को आदर्श मानकर अशोभनीय भीषण लोमहर्षक कांड किये गए।

: ३८ :

अपराजेय आत्मा

आगाखां-महल में नजरबंद किये जाने के एक सप्ताह के अंदर ही गांधीजी को अपने निजी सचिव और सहायक महादेव देसाई से सदा के लिए बिछुड़ जाना पड़ा। सुयोग्य, परिश्रमरत, विनयशील और सदा मुस्कराते रहनेवाले 'म० दे०' पिछले पच्चीस वर्षों से छाया की तरह गांधीजी

के साथ रहे थे। बंबई विश्वविद्यालय से वकालत पास करके और थोड़े दिनों इधर-उधर काम करने के बाद महादेवभाई १९१७ में गांधीजी के सहकारी बने, सो जीवन के अंतिम दिन तक उनकी सेवा और सहायता करते रहे। गांधीजी ने एक बार उनके संबंध में कहा था, "महादेव मेरा बेटा, सचिव और मुझपर जान देनेवाला है।" सुंदर लिखावट, सतर्कता फुर्ती और अटल भक्ति—सुयोग्य सचिव के ये आवश्यक गुण महादेवभाई में कूट कूटकर भरे थे। महात्मा गांधी के निजी सचिव का काम निरी मुंशीगिरी तो हो नहीं सकती थी। उसके लिए कुछ और भी होना आवश्यक था। प्रथम असहयोग-आंदोलन से पूर्व, जब गांधीजी इतने प्रख्यात नहीं हुए थे, उनके देशव्यापी दौरों में महादेवभाई ही अकेले साथी हुआ करते थे और उनकी सुख-सुविधाओं का पूरा खयाल रखते थे, सचिव का काम करने के अतिरिक्त वह उनका बिस्तर लगाते और समेटते, खाना पकाते और कपड़े भी धोते थे। जैसे-जैसे गांधीजी का सार्वजनिक काम बढ़ता गया, महादेवभाई के काम का बोझ भी उसी अनुपात में अधिक होता गया। वह गांधीजी के नाम आनेवाली सैकड़ों चिट्ठियों को पढ़ते और उनका जवाब देते थे, अतिथियों-आगंतुकों का स्वागत-सत्कार करते थे, इस बात का ध्यान रखते कि अनचाहे आगंतुक गांधीजी का मूल्यवान समय नष्ट न करें, पाई-पैसे तक का पूरा हिसाब रखते, यात्राओं का कार्यक्रम बनाने के लिए नक्शों और निर्देशिकाओं पर झुके रहते, गांधीजी के भाषणों और वार्तालापों को लिपिबद्ध करते और साप्ताहिकों का संपादन भी करते थे। लिखने का अधिकांश काम चलती रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में ही करना पड़ता था, इसलिए वह हमेशा मोमबत्ती साथ रखते थे कि यदि कहीं रेल की बिजली बत्ती गुल हो जाय तो भी प्रेस में समय पर 'कापी' पहुंचाई जा सके।

महादेवभाई अकेले हाथों पूरे सचिवालय का काम करते थे—महात्माजी के आदेशों और सूचनाओं को कार्यान्वित करने के साथ-साथ दूसरों के लिए उनकी व्याख्या भी करते थे। सैकड़ों कार्यकर्ताओं से सपर्क बनाये रखते और गांधीजी का समय और श्रम बचाने के लिए यथासंभव जो भी बनता, करते थे। हमेशा जी-तोड़ परिश्रम करते रहे। अगस्त, १९४२ में उनकी आकस्मिक मृत्यु का कारण 'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव के बाद की उथल-पुथल और उससे पैदा

मानसिक तनाव ही नहीं, यह व्याकुलता भी थी कि कहीं महात्माजी जेल में आमरण अनशन शुरू न कर दें।

आगाखां-महल में गांधीजी पर दूसरा वज्रपात हुआ कस्तूरबा की मृत्यु के कारण। वह पिछले कुछ दिनों से बीमार चली आती थीं। हालत बिगड़ती ही गई। डॉ० गिल्डर, डॉ० झिनशा, डॉ० सुशीला नय्यर आदि पारिवारिक चिकित्सकों ने इलाज किया, फिर पंजाब के प्रसिद्ध वैद्य शिव शर्मा ने भी दवा-दारू की, लेकिन वह बच न सकीं। २२ फरवरी, १६४४ को उन्होंने बापू की गोद में प्राण त्याग दिये। अंत समय उन्होंने कहा, "हमने कई सुख-दुःख साथ देखे, साथ भोगे; अब मैं जा रही हूं।" उनकी अंतिम अभिलाषा यह थी कि उनका दाह-संस्कार बापू के काते हुए सूत की साड़ी में किया जाय।[1]

लार्ड वेवल के समवेदना-सूचक पत्र के जवाब में गांधीजी ने उन्हें लिखा था—"हम सामान्य दंपती से भिन्न थे।" उन दोनों का बासठ वर्ष का विवाहित जीवन सतत विकासशील जीवन था। दोनों के बौद्धिक विकास में गहरा अंतर होते हुए भी गांधीजी कस्तूरबा की राय की कद्र करते थे और उनके स्वतंत्र निर्णय की मर्यादा-रक्षा भी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के अंतिम चरण में वह अपनी इच्छा से जेल गई थीं। भारत में कई बार सत्याग्रह-आंदोलनों के सिलसिले में जेल गईं और जेल में ही उनकी मृत्यु हुई।

राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने कोई बड़ा काम और नाम नहीं किया था। उनका सच्चा क्षेत्र तो घर और परिवार था। बापू के विशाल शिष्य-संप्रदाय और सहयोगियों-साथियों की वह 'बा' अर्थात् सच्ची मां थीं। यही उनका परिवार और आश्रम उनका घर था। बापू के भोजन के समय बैठकर पंखा झलना या वह लेटे हों तो पांव दबाना—ये उनके जीवन के सबसे सुखी क्षण हुआ करते थे। वह गुजराती लिख-पढ़ लेती थीं और दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अंग्रेजी बोलने का काम-चलाऊ अभ्यास कर लिया था।

---

[1] बा की मृत्यु पर गांधीजी ने कहा था, "बा के बिना जीवन की मैं कल्पना नहीं कर सकता।...उसकी मृत्यु से जो स्थान खाली हुआ है, वह कभी नहीं भरेगा।...हम दोनों बासठ वर्ष तक साथ रहे...और वह मेरी गोद में मरी, इससे अच्छा क्या हो सकता है!"

एक वार जव वंदीगृहों के यूरोपियन अधीक्षक ने यह शिकायत कस्तूरबा से की कि कम खाकर कमजोर होने के लिए गांधीजी खुद ही जिम्मेदार हैं तो उन्होंने अंग्रेजी में जवाव दिया था "आई नो माई हसबैंड. ही ऑलवेज़ मिसचिफ्स।"[१] आगाखां-महल में गांधीजी ने उनकी शिक्षा की कमी को दूर करने के प्रयत्न फिर से प्रारंभ कर दिये थे। चौहत्तर वर्ष की वा जेल के अपने कमरे में घूम-घूमकर भूगोल और सामान्य ज्ञान की वातें रटा करती थीं। लेकिन जव पाठ सुनाने का वक्त आता तो सव भूल-भाल जाती थीं। लाहौर को वह कलकत्ते की राजधानी वता देतीं।

अपने दो प्रियजन, सचिव और पत्नी की मृत्यु के वाद आगाखां-महल की नज़रवंदी गांधीजी को विषण्ण और उद्विग्न ही करती रही। उनका स्वास्थ्य खराव हो गया, जिससे १९४४ के आरंभ में तो सरकार भी चिंतित हो गई। मलेरिया हो गया था और तेज बुखार रहने लगा था। इस बीच युद्ध का पासा पलट चुका था और मित्र-राष्ट्रों की जीत-पर-जीत होती जा रही थी। अब सरकार के लिए उनकी रिहाई उनके जेल में मर जाने से कम परेशानी का कारण होती। लेकिन गांधीजी को अपनी रिहाई (६ मई १९४४) से कोई खुशी नहीं हुई। जेल में बीमार पड़ने के लिए वह शर्मिंदा ही थे। उन्हें बंबई के निकट जुहू के समुद्र-तट पर स्वास्थ्य-लाभ के लिए रखा गया। पता चला कि वह मलेरिया के बाद की अलामातों से ही नहीं, उदर में कृमि-कष्ट और रक्तातिसार से भी पीड़ित थे। अपने समस्त रोगों का कारण उन्होंने ईश्वर पर विश्वास की कमी को ही माना। उस 'महा चिकित्सक' पर आस्था और दवाई-मात्र से वैर के कारण उनका इलाज काफी मुश्किल हो गया। लेकिन धीरे-धीरे देश के कामों में ध्यान देने लायक शक्ति उनमें आती गई।

अधिकारियों में उनकी वह पहले-जैसी प्रतिष्ठा नहीं रह गई थी, स्वयं उनकी और कांग्रेस की ईमानदारी में संदेह किया जाता था। चर्चिल के प्रधान मंत्री-पद पर रहते हालत में सुधार होने की कोई सभावना दिखाई नहीं देती थी। इन सब बातों को जानते हुए भी गांधीजी ने सरकार और कांग्रेस के बीच पैदा हो गये राजनैतिक गतिरोध को तोड़ने की दिशा में

१ "मैं अपने पति को जानती हूं। वह हमेशा शैतानी किया करते हैं।"

स्वयं ही पहल की। १७ जून, १९४४ को उन्होंने लार्ड वेवल को पत्र लिखकर कार्य-समिति के सदस्यों से भेंट करने की इजाजत मांगी।[१] वाइसराय ने गांधीजी की इस प्रार्थना को ठुकरा दिया, क्योंकि "दोनों के दृष्टिकोण में जो उग्र मतभेद हैं, उसे देखते हुए अभी हमारे मिलने से कोई लाभ न होगा।" गांधीजी ने फिर एक प्रयत्न किया। 'न्यूज़ क्रॉनीकल' के प्रतिनिधि स्टुअर्ट गेल्डर को उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित करने के लिए नहीं, वाइसराय तक पहुंचाने के लिए दिया। उस वक्तव्य का सार यह था कि केंद्रीय विधान-मंडल के निर्वाचित सदस्यों की राय से केंद्र में राष्ट्रीय सरकार की, (जिसका ग़ैर-सैनिक शासन-प्रबंध पर पूरा नियंत्रण रहे) स्थापना के सुझाव पर विचार किया जाना चाहिए। लार्ड वेवल ने यह प्रस्ताव भी "सम्राट की सरकार को बिलकुल ही स्वीकार नहीं हो सकता।" कहकर ठुकरा दिया।

राजनैतिक गतिरोध को तोड़ने में असफल होने के बाद गांधीजी ने जिन्नासाहब से समझौते के प्रयत्न प्रारंभ किये। दो राष्ट्रों के सिद्धांत में उनका विश्वास नहीं था, लेकिन जिस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग ने इस सिद्धांत को अपनाया था उसे वह अवश्य स्वीकार करते थे। गांधी-जिन्ना-भेंट का आधार श्री राजगोपालाचार्य का निम्न सुझाव था, जो इतिहास में 'राजाजी फार्मूला' के नाम से प्रसिद्ध है—मुस्लिम लीग कांग्रेस की भारतीय स्वाधीनता और युद्ध-काल में अस्थायी सरकार स्थापित किये जाने की मांग का समर्थन करे और भारत के उत्तर-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व में एक दूसरे से जुड़े मुस्लिम बहुमतवाले ज़िलों के सीमांकन और वहां के समस्त बालिग निवासियों के मतसंग्रह के द्वारा उन प्रदेशों की स्वतंत्र संयुक्त भारत में रहने या अपना अलग राज्य बनाने-संबंधी राय को मालूम करने की मुस्लिम लीग की मांग का कांग्रेस समर्थन करे; और यदि अंत में देश का बंटवारा ही तय पाया जाय तो दोनों राज्य रक्षा, संचार,

---

[१] उस समय गांधीजी पूना के नेचर क्योर क्लिनिक में थे और यह पत्र वहां से लिखा गया था। कार्य-समिति के सभी सदस्य जेलों में बंद थे। गांधीजी ने कार्य-समिति के सदस्यों से मिलने से पूर्व वाइसराय से भी मिल लेने की इच्छा अपने उस पत्र में प्रकट की थी।—अनुवादक

वैदेशिक संबंध आदि महत्वपूर्ण मामलों में पारस्परिक समझौते करें।

गांधी-जिन्ना-वार्ता ९ सितंबर, १९४४ को आरंभ होकर २७ सितंबर को समाप्त हुई। उस समय देशव्यापी उत्साह और आशा की लहर इसलिए नहीं थी कि लोगों को दोनों नेताओं में समझौता हो जाने का विश्वास था: असल में जनता राजनैतिक गतिरोध से थक गई थी और वह चाहती थी कि जैसे भी हो कांग्रेस-लीग में समझौता हो जाय। पहले दिन भेंट करने के बाद गांधीजी से पूछा गया कि आपको जिन्नासाहब से क्या मिला, तो उन्होंने कहा था—"फूल।" बाद की मुलाकातों के भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकले। सबसे पहले तो जिन्ना ने यह जानना चाहा कि महात्माजी किसकी ओर से और किस अधिकार से चर्चा के लिए आये हैं। गांधीजी ने १९३४ में कांग्रेस छोड़ दी थी और तबसे उसके साधारण सदस्य भी नहीं थे, लेकिन जिन्नासाहब इस बात को भी बहुत अच्छी तरह जानते थे कि कांग्रेस के सदस्य अथवा पदाधिकारी न होते हुए भी गांधीजी का उस संगठन में कितना महत्व और वजन है। जिन्नासाहब का रुख बड़ा ही अव्यावहारिक था। वह चाहते थे कि गांधीजी मुस्लिम लीग को भारत के समस्त मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था स्वीकार कर लें। वह यह भी चाहते थे कि पाकिस्तान के सिद्धांत को पहले मान लिया जाय, उसकी भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण और अन्य विवरणों पर बाद में चर्चा होती रहेगी। मुस्लिम बहुमतवाले प्रांतों के गैर-मुस्लिमों को अपने भाग्य निर्णायक मत-संग्रह में भाग लेने का अधिकार देने को भी वह तैयार नहीं थे। उन क्षेत्रों में आत्मनिर्णय के अधिकार का उपयोग केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखना चाहते थे।

गांधीजी का सुझाव था कि सीमांकन और मत-संग्रह को सैद्धांतिक रूप से भले ही पहले तय कर लिया जाय, लेकिन यदि बंटवारा होता ही है तो वह हस्तांतरण के बाद ही होना चाहिए। उनको आशा थी कि अंग्रेजों के भारत से चले जाने के बाद स्वतंत्रता के वातावरण में दोनों संप्रदाय मिल-जुलकर रहना सीख लेंगे और बंटवारे की जरूरत ही नहीं पड़ेगी और जिस बात की गांधीजी को आशा थी, उसीसे जिन्नासाहब को डर लगता था। वह कोई खतरा नहीं उठाना चाहते थे, इसलिए देश की आजादी

से पहले वंटवारे की वात पर अड़ गये। दोनों स्वतंत्र राज्यों में सुरक्षा, संचार, वैदेशिक संवंध आदि मामलों में पारस्परिक समझौतों और संयुक्त संधियों के प्रस्ताव को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। गांधीजी को धर्म के आधार पर दो अलग-अलग राज्यों के निर्माण की संभावना से इसलिए घवराहट होती थी कि "उनमें सिवा शत्रुता के और कुछ हो ही नहीं सकता था।" सांस्कृतिक और आर्थिक स्वाधीनता की वात तो उचित थी, लेकिन दोनों राज्यों में हथियारवंदी की दौड़ और सशस्त्र संघर्ष की रोक-थाम के लिए कोई व्यवस्था कर लेना आवश्यक था।

गांधीजी के लिए ये चर्चाएं शिक्षात्मक थीं, जिन्नासाहव के लिए उनकी राजनैतिक शक्ति और स्थिति को दृढ़ करनेवाली। अकेली इसी वात से कि गांधीजी उनसे मिलने गये, जिन्नासाहव की प्रतिष्ठा में वहुत वृद्धि हो गई। पिछले चार वर्षों में वह मार्च, १९४० की अपनी स्थिति से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हुए थे। अपनी वात पर जमे रहने का आज उन्हें फल मिल रहा था। राजाजी-फार्मूला जिन्नासाहव की सव मांगों से सहमत नहीं था, लेकिन उसने देश के वंटवारे की संभावना को तो कम-से-कम स्वीकार कर ही लिया था। जो गांधीजी बंटवारे को पाप कहा करते थे, वह आत्म-निर्णय के अधिकार को कार्यान्वित करने के तरीके पर चर्चा करने की हद तक उतर आये थे, यह क्या जिन्नासाहव की कम जीत थी। देखा जाय तो पाकिस्तान वनाने की दिशा में गांधी-जिन्ना-वार्ता, अगस्त १९४० की लार्ड लिनलिथगो की घोषणा और मार्च, १९४२ के क्रिप्स-प्रस्ताव से आगे ले जानेवाला महत्वपूर्ण कदम था।

भारतीय नेताओं के परामर्श से अपनी कार्यकारी कौंसिल का पुनर्गठन करने के प्रश्न पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए लार्ड वेवल इंग्लैंड गये हुए थे। १९४५ की गर्मियों में वह स्वीकृति प्राप्त करके लौट आये और अपने प्रस्ताव पर चर्चा करने के लिए उन्होंने भारतीय नेताओं का सम्मेलन[1] शिमला में आयोजित किया। गांधीजी उसमें प्रतिनिधि की हैसियत से तो सम्मिलित नहीं हुए, परंतु वाइसराय और कांग्रेस

[1] १४ जून, १९४५ के अपने रेडियो भाषण के वाद लार्ड वेवल ने कार्य-समिति के सदस्यों की रिहाई के आदेश दिये और २५ जून को देश के प्रमुख नेताओं को परा-

कार्य-समिति दोनों ने उनसे सलाह-मशविरा किया। लार्ड वेवल का सुझाव वाइसराय की कार्यकारी कौंसिल में सवर्ण हिंदुओं और मुस्लिम-सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर रखने का था, लेकिन सम्मेलन के समाप्त होते-होते जिन्नासाहब ने अपनी मांग बढ़ाकर यह दावा पेश कर दिया कि मुसलमान सदस्यों की संख्या शेष सभी संप्रदायों की सम्मिलित सदस्य-संख्या के बराबर होनी चाहिए। उसके बाद जिन्नासाहब इस बात पर अड़ गये कि कौंसिल के सभी मुस्लिम सदस्यों को नामजद करने का एकमात्र अधिकार मुस्लिम लीग को ही होना चाहिए। उनकी इस जिद पर सम्मेलन भंग कर देना पड़ा। कांग्रेस अपने राष्ट्रीय स्वरूप और दृष्टिकोण के कारण इस अनुचित मांग को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती थी। जिन्नासाहब की जिद से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें समझौते की कोई चिंता नहीं थी और जब वह सरकार से ज्यादा पा सकते थे तो कांग्रेस से समझौता करने को राजी भी क्यों होते !

युद्ध का अंत समीप दिखाई देने लगा था, इसलिए भारतीय गतिरोध को भंग करने की आवश्यकता इंग्लैंड में नये सिरे से महसूस की गई और शिमला-सम्मेलन उसीका परिणाम था। मई में यूरोप में युद्ध समाप्त हुआ और अगस्त में जापान ने भी हथियार डाल दिये। जुलाई में इंग्लैंड में युद्धोत्तर चुनाव हुए, जिसमें टोरियों को हराकर मजदूर-दल (लेबर पार्टी) विजयी हुआ। १० जुलाई को मजदूर सरकार की स्थापना हुई। लार्ड वेवल को फिर लंदन बुलाया गया। वह २५ अगस्त को लंदन पहुंचे। उनकी वापसी से पहले ही भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय कौंसिलों के आम चुनावों की घोषणा की गई। १८ सितंबर को लंदन से लौटकर वाइसराय ने अपने भाषण में कहा कि "सम्राट का इरादा क्रिप्स-प्रस्तावों के अनुसार यथा-शीघ्र एक विधान-निर्मात्री परिषद का आयोजन करने का है।" लेकिन नई मजदूर सरकार के प्रस्ताव इतने अपर्याप्त, अस्पष्ट और असंतोषजनक थे कि देश ने उसमें कोई उत्साह नहीं दिखाया। इसपर नये भारत-मंत्री लार्ड पेथिक लारेंस ने २३ सितंबर को ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों का

मर्श के लिए शिमला बुलाया। गांधीजी प्रतिनिधि के रूप में तो नहीं, लेकिन परामर्श के लिए शिमला आमंत्रित किये गए थे।—अनुवादक

स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि "हमारा आदर्श तो यह है कि भारत और ब्रिटेन बरावरी के पद द्वारा साझेदारी की भावना से बंध जायं।" और मज़-दूर मंत्रिमंडल ने पार्लमिंट का एक सर्वदलीय शिष्ट-मंडल भारत की स्थिति का अध्ययन करने और भारतीयों को यह विश्वास दिलाने को कि उनकी आजादी अब दूर नहीं है, भेजने का निश्चय किया।

: ३९ :

स्वाधीनता का आगमन

जनवरी १९४६ की बात है। गांधीजी सुप्रसिद्ध नरमदली नेता श्रीनिवास शास्त्री को, जो मरणासन्न अवस्था में बिस्तरे पर पड़े थे, देखने के लिए गये हुए थे। बातचीत में ब्रिटिश पार्लमिंट के शिष्टमंडल का जिक्र आ गया, जो उन दिनों भारत का दौरा कर रहा था। शास्त्रीजी ने कहा, "कुछ होना-हवाना तो है नहीं। भारत के सवाल पर, टोरी हों या मजदूर, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।" जब सत्ता के हस्तांतरण की बातें जोरों पर हों, अंग्रेज़ों के दोस्त समझे जानेवाले एक बुजुर्ग नेता का अंग्रेज़ों के इरादों के बारे में ऐसा मंतव्य केवल यही साबित करता है कि ब्रिटिश राज्य के भारत के शीघ्र विदा होने के आसार लोगों को दिखाई नहीं दे रहे थे।

ऊपर-ऊपर से देखने पर तो दूसरे महायुद्ध के बाद भारत में अंग्रेज़ों की स्थिति काफी मजबूत ही दिखाई देती थी। भारत में उस समय ब्रिटिश सेनाएं भी इतनी संख्या में पड़ी हुई थीं जितनी अंग्रेज़ों के पूरे शासनकाल में पहले कभी नहीं रही थीं। कांग्रेस गैर-कानूनी कर दी गई थी और एक गांधीजी को छोड़, शेष सारे राष्ट्रीय नेता जेलों में बंद थे। मुस्लिम लीग पाकिस्तान का आंदोलन कर रही थी, जो ब्रिटिश सरकार के उतना नहीं, जितना कांग्रेस के खिलाफ था। छः प्रांतों में कोई प्रतिनिधि सरकार नहीं थी। शेष प्रांतों में अंग्रेज़ों के मित्र या समर्थक मंत्री सत्तारूढ़ थे। छः बरस तक मेज पर कलम-घिसाई करते-करते अंग्रेज़ अफसर तंग आ गये थे। १९४२ के उपद्रवों को दबाने में जौहर दिखाने का मौका मिला तो उन्होंने

छुटकारे की सांस ली और पिल पड़े। बड़ा मेहनती होता था अंग्रेज साहब बहादुर और अपनी समझ के माफिक ड्यूटी अंजाम देता था। लेकिन जैसा कि गोखले ने १९०५ में कहा था—"उनकी समझ बड़ी ओछी होती है और वर्तमान शासन-प्रणाली के कारण केवल मामूली-सी कार्य-कुशलता संभव हो पाती है और उस स्तर तक भी अभी हाल में ही पहुंचा जा सका है।" गोखले के बाद चालीस साल में तो दुनिया बदल गई थी। राष्ट्रीय जागरण और आर्थिक परिवर्तनों ने क्रांति ही कर दी थी। इन बदले हुए संयोगों में कार्य-कुशलता का स्तर और गिर गया था। जो अपनेको बहुत होशियार अफसर समझते थे, उन अंग्रेज अधिकारियों को भी १९४५ में यह पता नहीं था कि उनकी प्रिय, परिचित और उनके हाथों निर्मित पुरानी शासन-प्रणाली में घुन लग गया था और वह धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही थी।

युद्ध ने क्षय की इस प्रक्रिया को और तेज कर दिया। कुछ तो युद्ध के के कारण मालामाल हो गये, लेकिन लाखों-करोड़ों की तबाही आ गई—चीज़ों की कमी और महंगाई ने सामान्य भारतवासी की कमर ही तोड़ दी। भारत में युद्ध महंगाई और अभाव का पर्यायवाची बन गया। भीषण अकाल ने सारे बंगाल को श्मशान-भूमि बना दिया। वह अकाल प्रकृति-प्रकोप के साथ-साथ मुनाफाखोरों के लोभ का भी संहारक रूप था। बंगाल प्रांतीय सरकार मंत्रिमंडल की घोर लापरवाही और भ्रष्टाचार एवं केंद्रीय सरकार की निष्क्रियता और उपेक्षावृत्ति ही अकाल की उस भीषणता के लिए जिम्मेदार थी, लेकिन सरकार से जवाब-तलब करनेवाला कोई नहीं था। अन्न और वस्त्र की सारे देश में कमी हो गई थी। वितरण की दिशा में कंट्रोल और राशन से उपभोक्ताओं के कष्ट तो कुछ खास कम न हुए, उलटे जमाखोरी और भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा मिला। युद्ध के कारण लोगों का नैतिक स्तर भी बहुत गिर गया था। चार दिनों की युद्धजन्य तेजी में जिसे देखो, मुनाफा बटोरने के लिए दौड़ पड़ा था।

फिर युद्ध के बाद आनेवाली समस्याएं भी कुछ कम गंभीर नहीं थीं। सेना की संख्या ही १,८९,००० से बढ़ते-बढ़ते २२,५०,००० हो गई थी। इन साढ़े बाईस लाख सैनिकों का विसैन्यीकरण ही अपने-आपमें खासा बड़ा और मुश्किल काम था और समय भी चाहता था। अब मोर्चे से

लौटा हुआ भारतीय सैनिक बहुत बदल चुका था। वह पहलेवाला गांव का डरा हुआ भोला रंगरूट नहीं था। मलाया, बर्मा, मध्यपूर्व और इटली के मोर्चे मारा हुआ निडर सैनिक था, जिसने साम्राज्यों को ध्वंस होते देखा था और जो बड़े बेढब सवाल करना भी सीख गया था।

लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन सारी कठिनाइयों के बावजूद भारत-स्थित अधिकांश ब्रिटिश अफसरों का मनोबल बहुत दृढ़ था और यहां अभी कई बरसों तक राज्य करने की अपनी योग्यता में उनका विश्वास डिगा नहीं था। इसलिए युद्ध की समाप्ति पर यदि एक ही वर्ष के अंदर भारत स्वाधीनता की अपनी मंजिल पर काफी आगे बढ़ आया तो उसका कारण 'सम्राट्' के प्रतिनिधियों की कमजोरी नहीं, भारतीयों से समझौता करने का एटली सरकार का पक्का इरादा और इंग्लैंड का बदला हुआ राजनैतिक वातावरण भी था।

अंग्रेज इतिहासकार १९४७ की घटनाओं को अगस्त १९१७ की घोषणा में निर्धारित नीति का ही अवश्यंभावी परिणाम मानने के पक्ष में रहे हैं। उस घोषणा के समय लार्ड चेम्सफोर्ड ने, भारत के वाइसराय की हैसियत से, कहा भी था कि "इसे दूरवर्ती लक्ष्य ही समझा जाय।" भारत को तुरंत स्वराज्य देने के पक्ष में ब्रिटेन की कोई सरकार कभी थी ही नहीं। मार्ले ने गोखले के वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था—"भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य की अपनी अभिलाषा उन्होंने साफ शब्दों में व्यक्त की तो मैंने भी अपना यह विश्वास स्पष्ट शब्दों में कह-सुनाया कि हमारे जीवन-काल के बाद भी अनेक वर्षों तक यह निरा सपना ही रहेगा।" लायड जार्ज और मांटेगू, मैकडोनल्ड और बेन, बाल्डविन और होर, चर्चिल और एमरी कोई भी अपने जीते-जी भारत को स्वतंत्र करने के लिए तैयार न था। सभीका यही कहना था कि "मेरे जीवन में नहीं।" इंग्लैंड में ही पार्लमेंट और गणतंत्र की स्थापना में काफी समय लग गया था और कड़े संघर्ष करने पड़े थे। कनाडा और आस्ट्रेलिया-जैसे गोरे उपनिवेशों को भी राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में बरसों लग गये थे। इसलिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की दृष्टि में भारत-जैसे नाना धर्मों और संस्कृतियों के एशियाई देश में और भी अधिक समय लगना एक स्वयंसिद्ध तथ्य ही था।

१९१७ के बाद से इंग्लैंड की सभी सरकारों की नीति भारत को 'किस्तों में स्वराज्य' देने की रही। लेकिन इस नीति का सबसे बड़ा दोष यह था कि स्वराज्य की किस्त दी जाने से पहले ही पुरानी हो जाती थी। १९१९ में जो सुधार किये गए वे १९०९ के भारत की राजनैतिक स्थिति के उपयुक्त थे, १९३५ के सुधारों का भारतीय जनता संभवतः १९१९ में स्वागत कर सकती थी और क्रिप्स-योजना १९४२ के बदले १९४० में प्रस्तुत की जाती तो भारत-ब्रिटेन-संबंधों का नया अध्याय शुरू हो सकता था और तब न कांग्रेस तथा सरकार के और न हिंदू-मुसलमानों के पारस्परिक संबंधों में उतना बिगाड़ हो पाता।

१९२० में गांधीजी का "एक साल में स्वराज्य" का नारा किस्तवारी स्वराज्य की ब्रिटिश नीति के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। उनका यह नारा दिखावा या मनबहलाव नहीं, वस्तुगत परिस्थितियों की ठोस वास्तविकता था। दासता उनके निकट सबसे पहले मन की एक अवस्था थी। स्वतंत्र होने के संकल्प के साथ ही राष्ट्र की स्वाधीनता की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती थी। सत्याग्रह ने अंग्रेज सरकार को खासी मुसीबत में डाल दिया था। उपेक्षा करने से आंदोलन जोर पकड़ता था। दबाने से देश-विदेश की सहानुभूति और समर्थन उसे प्राप्त हो जाता था। दमन का एक तो स्थायी परिणाम नहीं होता था और दूसरे वह इंग्लैंड की जनवादी विचारधारा के अनुकूल भी नहीं था। भारत के मामलों में यों तो ब्रिटिश जनता कभी छठे-छमाहे ही दिलचस्पी लेती थी, लेकिन चालीस करोड़ भारतवासियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन करना आम तौर पर इंग्लैंड की उदारवादी परंपराओं के प्रतिकूल समझा जाता था। हर सत्याग्रह-आंदोलन ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारत के राष्ट्रीय विरोध की शक्ति का पैमाना हुआ करता था, जिससे उसे मुट्ठी-भर लोगों का गलत असंतोष कहने के सरकारी प्रचार की कलई खुल जाती थी।

दूसरे महायुद्ध ने दुनिया का नकशा और शक्तियों का संतुलन ही नहीं, आदमी के मन और मस्तिष्क को भी बदल दिया था। भारत के प्रश्न पर ब्रिटिश जनमत में भी युद्ध के बाद जबर्दस्त परिवर्तन हुआ। जिन बौद्धिक बलों और वैचारिक क्रांति ने १९४५ में मजदूर-दल को पदारूढ़ किया,

उसी जन-शक्ति ने भारत के संबंध में परंपरागत टोरी-नीति को ठुकराने में भी सहायता की। मजदूर सरकार नई नीति को अपनाने के लिए उद्यत थी ही, भारत की विस्फोटक परिस्थिति ने उसे और भी शीघ्रता करने के लिए विवश कर दिया। १९४५ के नवंबर और दिसंबर में, भारत की स्थिति के संबंध में हाउस आव कामन्स में, ६ मार्च, १९४७ को भाषण करते हुए, इंग्लैंड के मजदूर मंत्रिमंडल के सदस्य और भारत में सत्ता के हस्तांतरण से घनिष्ठ रूप से संबंधित मि० अलेक्जेंडर ने कहा था, "उस समय भारत सरकार बारूद के ढेर पर बैठी हुई थी, जो युद्ध के बाद की परिस्थितियों के कारण किसी भी क्षण भभक सकता था।"

१९४६ के शुरू महीनों की घटनाओं को देखने से मि० अलेक्जेंडर के मूल्यांकन की सत्यता असंदिग्ध हो जाती है। लोगों में इतना गुस्सा और असंतोष घर कर गया था कि हिंसात्मक उपद्रव के लिए ज़रा-सा बहाना काफी होता था और कई बार तो बिना किसी बहाने के ही तोड़-फोड़ की कार्रवाइयां शुरू हो जाती थीं। फरवरी, १९४६ में आजाद हिंद फौज के एक मुसलमान अफसर को दी गई कोर्ट-मार्शल की सजा के खिलाफ कलकत्ते में मुसलमानों के जलूस ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कई दुकानें लूटी गईं और बसें तथा ट्राम गाड़ियां जला दी गईं। वायु-सेना में अनुशासनहीनता और हुक्म-उदूली की कई घटनाएं सामने आईं और बंबई में नाविकों ने बगावत कर दी, यहांतक कि पुलिस के सिपाहियों में भी असंतोष बढ़ने लगा था और हड़ताल एवं जलूसों के द्वारा वे उसे व्यक्त करने लगे थे। सेना और पुलिस के जिस मुख्य आधार पर ब्रिटिश शासन भारत में टिका हुआ था, वही चरमराने लग गया था।

ऐसे समय प्रशासन-तंत्र को अधिक शक्तिशाली और सक्षम करने की आवश्यकता थी, लेकिन युद्ध के जमाने में जहां काम और महकमे बहुत बढ़ गये थे, विश्वस्त और उच्चपदस्थ अंग्रेजों की संख्या निरंतर कम होती गई थी। लड़ाई के सारे जमाने में आई० सी० एस० और भारतीय पुलिस सेवा में कोई भी आला अंग्रेज अफसर भर्ती नहीं किया जा सका था और जो थोड़े-बहुत यूरोपियन काम कर रहे थे, उनमें से अधिकांश की सेवा-निवृत्ति का समय समीप आ गया था।

समस्या के व्यावहारिक पक्ष पर जोर देने के ब्रिटिश स्वभाव के ही कारण इंग्लैंड के मत्रिमडल ने प्रशासन की दुर्बलता और अक्षमता का बार-बार इतना अधिक उल्लेख किया, लेकिन विश्व-इतिहास में ब्रिटेन द्वारा भारत को सत्ता हस्तांतरित किये जाने का महत्व केवल व्यावहारिक और राजनैतिक आवश्यकता को स्वीकार कर लेने की दृष्टि से ही नहीं है, असल में इस दृष्टि से तो उसका कोई महत्व है भी नहीं। वास्तव में प्रधान मंत्री एटली ने १९४६-४७ में जिस नीति का अनुसरण किया, वह केवल घटनाचक्र की वाध्यता का ही परिणाम न थी, उसके मूल में एक आदर्शवादी वैचारिक दृष्टिकोण भी था। सत्ता का हस्तांतरण मूलतः ब्रिटेन और भारत के पारस्परिक संबंधों को सुधारने की ब्रिटिश सरकार की अभिलाषा से ही प्रेरित हुआ था और यह गांधीजी की वहुत वड़ी जीत थी। पूरे तीस बरस से वह दोनों देशों के पारस्परिक संबंधों को सुधारने का ही प्रयत्न करते रहे थे। ह्यूम और वेडरवर्न, सी० एफ० एंडरूज और होरेस अलेक्जेंडर, ब्रेलसफोर्ड और ब्राकवे, लास्की और कार्ल हीथ, म्यूरियल लीस्टर और आगाथा हैरीसन आदि अनेक ब्रिटिश पुरुष और महिलाएं भी दोनों के पारस्परिक संवंधों को सुधारने की जोरदार सिफारिशें करते आये थे। भारतीयों की स्वतंत्र होने की आकांक्षा के प्रति सदैव सहानुभूतिशील ये अंग्रेज महानुभाव अपने समय में इंग्लैंड के नगण्य अल्पमत को ही प्रभावित और अभिव्यक्त कर सके थे, लेकिन कालांतर में उचित अवसर आने पर उनके विचारों के ही अनुरूप उनके देश की राष्ट्रीय नीति निर्मित हुई।

ब्रिटिश नीति में परिवर्तन के जो भी कारण रहे हों, मार्च १९४६ में, जो केब्रिनेट मिशन भारत आया, उसने यहां के लोगों को ब्रिटिश सरकार की सद्भावना और तत्परता का विश्वास दिलाने में कोई प्रयत्न बाकी न छोड़ा। केबिनेट मिशन के तीन मंत्रियों में लार्ड पैथिक लारेंस और सर स्टैफर्ड क्रिप्स से गांधीजी वहुत अच्छी तरह परिचित थे। 'मिशन' ने, जब-तक वह भारत में रहा, गांधीजी से औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही तरह से अनेक बार सलाह-मशविरा किया। उन्होंने सब मिलाकर ४७२ 'नेताओं' से भेंट की, यद्यपि राजनैतिक दलों के रूप में निर्णयात्मक महत्व

केवल कांग्रेस और लीग का था, और मुख्य प्रश्न भी भारत की एकता अथवा विभाजन से ही संबंधित था। कांग्रेस विभाजन के पक्ष में नहीं थी, अधिक-से-अधिक सांस्कृतिक, आर्थिक और प्रादेशिक स्वायत्तता (स्वशासन) को स्वीकार कर सकती थी। परिणाम यह हुआ कि शिमला-सम्मेलन में भी कांग्रेस और लीग के आपसी मतभेदों को मिटाया न जा सका। तब १६ मई को केबिनेट मिशन ने अपनी समझौता-योजना पेश की। सार-रूप में उस योजना के मुख्य अंश ये थे—भारत का स्वतंत्र राज्य-विधान सघ के ढंग का होगा, जिसमें रियासतें भी सम्मिलित होंगी। संघ-सरकार विदेशी मामलों को, सुरक्षा और यातायात आदि को संभालेगी। सारे अवशिष्ट अधिकार प्रांतों और रियासतों के हाथ में होंगे। एक-जैसे प्रांतीय विषयों के संबंध में प्रांत चाहें तो अपने समूह अथवा गुट बना सकेंगे। प्रांतों और रियासतों के प्रतिनिधियों से निर्मित विधान-परिषद प्रारंभिक कार्रवाई के बाद तीन समूहों में बंट जायगी। पहले समूह में मदरास, बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा, दूसरे समूह में पंजाब, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और तीसरे समूह में बंगाल और आसाम रहेंगे। ये समूह अपने-अपने प्रांतों का गुट बनाने का और यदि गुट बनाया गया तो उसकी कार्यपालिका और विधान मंडल को सौंपे जानेवाले विषयों का फैसला भी करेंगे।[1]

केबिनेट मिशन की विदाई के बाद देश की अस्थिर और उलझी हुई

---

[1] इसके बाद सब समूह फिर एकत्र होकर रियासतों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर भारतीय संघ का विधान तैयार करते। विधान परिषद् में ३८९ प्रतिनिधि रखे गये थे। पहले समूह में १६७ आम और २० मुस्लिम, दूसरे समूह में ९ आम, ४ सिख और २२ मुस्लिम, तीसरे समूह में ३४ आम और ३६ मुस्लिम, रियासतों के ९३ और दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग और ब्रिटिश बिलोचिस्तान का १-१, इस प्रकार सदस्य थे। इस योजना में रियासतों की सार्वभौकिता स्वीकार की गई थी और नया विधान लागू होने पर प्रांतों को समूह से पृथक हो जाने का अधिकार भी दिया गया था। नया विधान बनने और प्रचलित होने तक देश के विभिन्न दलों की अंतरिम सरकार बनाने का अधिकार वाइसराय को दिया गया था। —अनुवादक

राजनैतिक परिस्थिति को समझने के लिए सत्ता के हस्तांतरण के प्रति ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस और लीग के रुखों को बहुत थोड़े में समझ लेना आवश्यक है। ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली शासन सौंपने का काम अपनी पहल को बनाये रखकर शीघ्र और शांतिपूर्वक करना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार के निकट यह एक राजनैतिक समस्या थी, जो समझौते और विचार-विनिमय से हल की जा सकती थी। इसलिए किसी एक ही हल पर उसका कोई आग्रह नहीं था। कांग्रेस और लीग आपस में मिलकर जो भी व्यावहारिक हल पेश करतीं, उसे वह स्वीकार करने को तैयार थी।

गांधीजी का दृष्टिकोण भिन्न था। वह सत्ता के हस्तांतरण को जल्दी-जल्दी जोड़-तोड़ करके निपटाया जानेवाला प्रश्न नहीं, न्याय और नैतिक समाधान का प्रश्न मानते थे। वह यह तो अवश्य चाहते थे कि अल्पसंख्यकों की आशंकाओं को निर्मूल किया जाय. लेकिन बंटवारे की धमकी उन्हें किसी भी शर्त पर स्वीकार नहीं थी, क्योंकि आगे चलकर इससे उन्हें भारत और हिंदू-मुसलमानों का अहित ही होता दिखाई देता था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जिन्नासाहब को नाराज न करने की बात उनकी समझ में आती तो थी, परन्तु साथ ही उससे चिंता भी होती थी। वह इस पक्ष में नहीं थे कि कांग्रेस जल्दबाजी में ऐसी कोई तजवीज स्वीकार कर ले, जिसके लिए बाद में पछताना पड़े। कांग्रेस-जनों पर सरकार के कोप को वह इससे लाख गुना अच्छा समझते थे। लेकिन कांग्रेसी नेताओं को उनकी यह सलाह बिल्कुल पसंद नहीं थी। ब्रिटिश सरकार की ही तरह उनके लिए भी यह एक राजनैतिक समस्था थी, जिसके समाधान में देर या हिचकिचाहट से देश में गृह-युद्ध छिड़ जाने की आशंका थी।

गांधीजी को ऐसा लगता था कि ब्रिटिश सरकार की घोषणा के बावजूद अधिकांश भारतीयों को यह विश्वास नहीं हो रहा था कि अंग्रेज सचमुच ही चले जायंगे। ब्रिटिश सेनाओं को भारत से तत्काल हटा लेने या रियासतों को दिये गए संरक्षण तुरत समाप्त कर देने-जैसी किसी बड़ी घटना से ही विभिन्न राजनैतिक दलों और सर्वसाधारण जनता को अंग्रेजों के जाने का विश्वास हो सकता था। जबसे गांधीजी को अंग्रेजों के भारत छोड़ने का विश्वास हुआ था, यह प्रश्न उनकी चिंता का विषय बन बैठा

था कि सदियों की गुलामी के वाद देशवासी आजादी के धक्के को सह भी पायेंगे या नहीं ? अप्रैल, १९४६ में ब्रिटिश पत्रकार ब्रेल्सफोर्ड से उन्होंने कहा भी था, "मुझे विश्वास है कि इस बार अंग्रेज सच ही कह रहे हैं। लेकिन क्या भारत आजादी के इस आकस्मिक धक्के को सह पायगा ? मेरी हालत जहाज के उस यात्री-जैसी हो रही है, जो तूफान के समय डेक पर रखी बांस की कुर्सी पर वैठे रहने के वाद उठकर चलने में गिर-गिर पड़ता है और प्रयत्न करके भी संभल नहीं पाता।"

कुछ तो १९४२ के उत्पातों के प्रभाव के कारण और कुछ युद्धोत्तर-काल के नैतिक स्खलन के परिणामस्वरूप लोग दिनों-दिन अनुशासनहीन और उच्छृंखल होते जा रहे थे, जिससे गांधीजी की चिंता वहुत बढ़ गई थी। फरवरी १९४६ में 'हरिजन' के संपादकीय में उन्होंने लिखा भी था, "चारों ओर घृणा छा गई है और अगर हिंसा से आजादी को समीप लाया जा सके तो उतावले देशभक्त खुशी-खुशी घृणा से फायदा उठाने को तैयार हो जायंगे।" घृणा और हिंसा के खतरे गांधीजी को स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, जिनकी अभिव्यक्ति लोगों की ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं अथवा सांप्रदायिक दंगों के रूप में हो रही थी। वड़े शहरों में दंगे वार-वार होने लगे थे और हिंदू मुसलमानों को और मुसलमानों हिंदुओं को और दोनों मिलकर गुंडों को इसके लिए दोषी ठहराते थे। "लेकिन गुंडे हैं कौन ?" गांधीजी ने पूछा और फिर स्वयं ही जवाव दिया था—"हमीं तो उन्हें बनाते हैं।" जव पढ़े-लिखे शरीफ लोग जहर उगलते और उत्तेजना फैलाते थे तभी तो गुंडों को खुल खेलने का मौका मिलता था। १९३८-३९ की तरह शांति दल वनाने पर वह फिर ज़ोर देने लगे। ऐसे अहिंसाव्रतियों को आगे आना चाहिए, जो प्राणों पर खेलकर दंगाग्रस्त क्षेत्रों में जायं और शांति स्थापना करें और जरूरत पड़ने पर हँसते-हँसते मौत को भी गले लगायें। साथ ही, उन्होंने लोगों को बोलने और लिखने में समझ से काम लेने की सलाह दी, जिससे सत्ता के हस्तांतरण का महान अनुष्ठान शांतिपूर्वक संपन्न किया जा सके।

लेकिन यह देश का दुर्भाग्य ही था कि जिन कारणों से गांधीजी और कांग्रेस राजनैतिक तापमान को गिराना चाहते थे, जिन्ना और लीग

के लिए तो, 'चूके तो गए' वाली बात थी। केबिनट मिशन से लंबी चर्चाओं के दौरान यह बिलकुल साफ हो गया था कि कांग्रेस ही नहीं, मजदूर सरकार भी पाकिस्तान के विरुद्ध थी। अब तो गृह-युद्ध या उसकी धमकी देकर ही कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार को बंटवारे के लिए मजबूर किया जा सकता था। केबिनेट मिशन के सदस्य अभी इंग्लैंड पहुंच भी न पाये थे कि प्रांतों के समूह बनाने और अंतरिम सरकार के स्वरूप को लेकर मामला फिर गरमा-गरमी पर पहुंच गया।

२७ जुलाई, १९४६ को मुस्लिम लीग की केन्द्रीय समिति ने केबिनेट मिशन की योजना का अपना समर्थन वापस ले लिया, विधान-परिषद के बहिष्कार का निर्णय किया और पाकिस्तान बनाने के लिए 'सीधी कार्रवाई' की घोषणा कर दी। जिन्नासाहब ने कहा कि अब मुसलमानों ने वैधानिक उपायों को छोड़ दिया है। "हमने पिस्तौल गढ़ ली है और उसका इस्तेमाल करना भी जानते हैं।" जब उनसे पूछा गया कि आपका आंदोलन हिंसात्मक होगा अथवा अहिंसात्मक, तो उन्होंने 'नीतिशास्त्र' पर बहस करने से इनकार कर दिया। लीग के कुछ नेता तो उनसे भी बढ़कर निकले। उन्होंने साफ-साफ कह दिया और जिस गुस्से और बेसब्री से 'सीधी कार्रवाई' की बात कही और तैयारियां की गई थीं, उससे तो उसके शांतिपूर्ण होने की कल्पना सपने में भी नहीं की जा सकती थी।

जब तनाव बढ़ रहा हो तो केंद्र में मजबूत और ताकतवर सरकार का होना बहुत जरूरी था। केबिनेट मिशन अंतरिम राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने में सफल नहीं हुआ था। अब जुलाई में वाइसराय लार्ड केवल ने पुनः इस दिशा में प्रयत्न आरंभ किये और पं० जवाहरलाल नेहरू को केंद्र में अंतरिम सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। नेहरूजी ने जिन्नासाहब को भी अंतरिम सरकार में सम्मिलित करना चाहा, परंतु उन्होंने सहयोग देने से इनकार ही नहीं किया, जहर भी उगला, "सवर्ण हिंदुओं की फासिस्ट कांग्रेस और उसके पिट्ठू अंग्रेजी संगीनों की मदद से मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों पर हावी होकर उन्हें दबाना और उनपर हुकूमत करना चाहते हैं।"

देश को संकट में से सही-सलामत निकाल ले जाने के लिए अब पूरे

संयम से काम लेने की आवश्यकता हो, इस तरह की कटुता और विष-वमन कितना अनिष्टकारी हो सकता है ! १६ अगस्त को मुस्लिम लीग ने जो 'सीधी कार्रवाई दिवस' मनाया, उससे एक के बाद एक बारूद की ढेरियां इस तरह सुलगती चली गईं कि साल-भर तक देश में धमाके-पर-धमाके और जन-धन को अपार हानि होती रही।

: ४० :

ज्वालाओं का शमन

मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त, १९४६ को 'सीधी कार्रवाई दिवस' मनाया। उस दिन कलकत्ता में ऐसा भीषण दंगा, खून-खच्चर और मारकाट हुई, जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है। चार दिन तक शहर पर गुंडों का आतंक छाया रहा। शातिर गुंडों की टोलियां बल्लम, भालों, फरसों, तलवारों, लाठियों और बंदूक-पिस्तौलों तक से लैस शहर-भर में मार-धाड़ और लूट-खसोट करती रहीं। 'स्टेट्समेन' अखबार ने उन चार दिनों के उत्पातों को 'कलकत्ता की जबर्दस्त खूरेजी' कहा था। उस नरमेध में पांच हजार व्यक्ति मारे गए और पंद्रह हजार से भी अधिक घायल हुए थे।

उस समय बंगाल में लीगी मंत्रिमंडल का शासन था और एच० एस० सुहरावर्दी प्रधान मंत्री थे। स्टेट्समेन का कहना है कि "दंगे के पहले लीग के रवैये से यही नतीजा निकाला जायगा—और सो भी केवल उसके विपक्षियों के द्वारा ही नहीं—कि दंगा न करने के संबंध में उसके सदस्यों में मतैक्य नहीं था।" और लीगी मंत्रिमंडल पर तो खुल्लमखुल्ला यह आरोप लगाया गया कि उत्पात हो सकते हैं, यह मालूम होते हुए भी उसने पहले से रोक-थाम की कोई कोशिश नहीं की। और जब दंगा शुरू हो गया तो सुहरावर्दी ने पुलिस को तत्परता और निष्पक्षता से अपना काम करने से जान-बूझकर रोका।

पाकिस्तान के प्रति मुसलमानों की प्रबल भावना को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से लीग ने जो दंगा करवाया था, वह दुधारी तलवार सिद्ध हुआ।

शुरू में तो कलकत्ता की गैर-मुस्लिम आबादी पिट गई, लेकिन अपने संख्या-बल के कारण संभलकर उसने और भी निर्ममता से जवाबी हमला कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बंगाल में लीगी मंत्रिमंडल के बावजूद कलकत्ता के शक्ति-परीक्षण में बाजी हिंदुओं के ही हाथ रही। इसका बदला पूर्वी बंगाल के एक मुस्लिम-प्रधान जिले नौआखाली में चुकाया गया। सभ्यता के केंद्र से बहुत दूर होने के कारण यहां उपयुक्त संचार-सुविधाएं भी नहीं थीं। धर्मांध मौलवियों और मौका-परस्त नेताओं ने ऐसी आग भड़काई कि गुंडों को खुल खेलने का मौका मिल गया। फिर तो सारे जिले में विनाश की तांडवलीला ही शुरू हो गई। हिंदुओं के घर जला दिये गए, उनकी फसलें लूट ली गईं, मंदिर भ्रष्ट और तहस-नहस कर डाले गए, हजारों की संख्या में हिन्दू औरतें उड़ाई गईं और कइयों को जबर्दस्ती मुसलबनाया गया। हिंदू अपने पुश्तैनी घर और गांव छोड़-छोड़कर भागने लगे। उच्छृंखलता और अराजकता के उस दोर-दौरे में जो-कुछ कलकत्ते में हुआ था, उससे कहीं भीषण कांड नौआखाली में हुए। धर्म के नाम पर और राजनैतिक उद्देश्य के लिए कितनी जघन्यता और पशुता की जा सकती है, यह संसार के सामने आ गया।

गांधीजी उस समय दिल्ली में थे। स्त्रियों पर किये गए अत्याचारों के सम्वादों ने उन्हें और भी व्यथित कर दिया। अपने सारे कार्यक्रम रद्द करके उन्होंने पूर्वी बंगाल जाने का फैसला किया। मित्रों ने उन्हें रोकने की कोशिश की। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। बहुत-से महत्वपूर्ण राजनैतिक मामलों में उनकी सलाह की जरूरत पड़ सकती थी। लेकिन उन्होंने एक न सुनी। "मैं नहीं जानता कि वहां जाकर क्या कर पाऊंगा।" उन्होंने कहा, "लेकिन वहां गये बगैर मुझे शांति न मिलेगी।"

अगस्त के दंगों से क्षत-विक्षत कलकत्ता की हालत देखकर "मनुष्य को पशु बना देनेवाले पागलपन के विचार से" उनकी छाती बैठने लगी थी। पूर्वी बंगाल में भय, घृणा और हिंसा का बोलबाला था। गांधीजी ने अपने-आपको वहां, जैसा कि उन्होंने एक वक्तव्य में कहा था, "झूठ और अतिशयोक्तियों" के बीच पाया। "मैं सचाई का पता नहीं लगा सकता। पारस्परिक अविश्वास की कोई सीमा नहीं है। पुराने रिश्ते और दोस्तियां सब

खत्म हो गई। साठ वर्ष तक मेरे जीवन के आधार बने रहनेवाले सत्य और अहिंसा की जैसे आज समाप्ति ही हो गई। सत्य और अहिंसा से अधिक अपनी परीक्षा के लिए मैं श्रीरामपुर गांव जा रहा हूं..."

नौआखाली जिले के श्रीरामपुर गांव के दो सौ हिंदू परिवारों में से दंगों के बाद सिर्फ तीन बचे थे। गांधीजी ने अपने दल के सदस्यों को आस-पास के गांवों में भेज दिया। प्यारेलाल, सुशीला नैयर, आभा, कनु गांधी और सुचेता कृपलानी अलग-अलग एक-एक गांव में जा बसे। श्रीरामपुर में गांधीजी के साथ रह गये उनका स्टेनोग्राफर परशुराम, दुभाषिया का काम करनेवाले बंगाली प्रोफेसर निर्मलकुमार बोस और मनु गांधी। अगले छः सप्ताह तक चटाई बिछा लकड़ी का तख्त दिन में उनके कार्यालय का और रात में बिस्तरे का काम देता रहा। वह रोज सोलह-सोलह और कभी-कभी तो चौबीस घंटे काम करते थे। न उन्हें खाने की सुध थी, न सोने की। थोड़ा-बहुत पेट में डाल लेते और बहुत थोड़ी-सी देर के लिए सो लेते थे। अपने सारे काम स्वयं करते, खुद अपने कपड़ों की मरम्मत करते, अपने हाथ से खाना पकाते और अकेले हाथों भारी-भरकम डाक से निपटते थे। लोगों से मिलना-जुलना और गांव के मुसलमानों के घर मिलने जाना आदि तो लगा ही हुआ था। लीगी अखबार पिछले कई वर्षों से उन्हें मुसलमानों का सबसे बड़ा दुश्मन करार देते रहे थे। वे अपने बारे में श्री-रामपुर के मुसलमानों को खुद फैसला कर लेने देना चाहते थे।

दोनों संप्रदायों में पारस्परिक विश्वास फिर से पैदा करना बड़ा ही मुश्किल और देर से होनेवाला काम था। फिर भी नौआखाली में उनकी उपस्थिति ने पूर्वी बंगाल के गांवों को ढाढस देने और हिम्मत बंधाने का काम किया। लोगों का गुस्सा और तनाव कम होने लगा और दिलों में नरमी आती गई। यदि लीगी अखबार उनके खिलाफ धुआंधार विषैला प्रचार न कर रहे होते और उनके 'शांति-प्रयत्नों की' 'राजनैतिक' चाल कहकर निंदा न की गई होती तो उन्हें और भी अधिक सफलता मिलती। स्थानीय लीगी नेताओं और शायद लीगी हाईकमांड के भी दबाव के कारण मुख्य मंत्री सुहरावर्दी बंगाल में उनकी उपस्थिति के प्रति सशंक हो उठे और उनके तत्काल बंगाल छोड़ जाने का समर्थन करने लगे। गांधीजी को लीगियों के

इस चतुर्दिक विरोध से ज़रा भी विस्मय न हुआ। लीगी नेताओं के इस अविश्वास के लिए उन्होंने अपने-आपको ही दोषी माना ! लगभग आत्म-दंड की सीमा तक उन्होंने आत्म-परीक्षण किया। २ जनवरी, १९४७ को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—"रात दो बजे से जाग रहा हूं। ईश्वर की कृपा ही मुझे थामे हुए है। जरूर मेरे अंदर ही कोई खामी है, जिसकी वजह से यह सब हो रहा है। मेरे चारों तरफ गहरा अंधेरा है। ईश्वर कब मुझे इस अंधेरे से उबारकर अपनी शरण में लेगा ?"[1]

उसी दिन वह श्रीरामपुर के आस-पास के गांवों का दौरा करने के लिए चल पड़े। चंडीपुर गांव पहुंचकर उन्होंने चप्पलें भी उतार दीं, धर्म-प्राण तीर्थ-यात्रियों की भांति वहां से नंगे पांव आगे बढ़े। गांव के ऊबड़-खाबड़ रास्ते फिसलन-भरे होते और कोई दुष्ट उनपर कांटे और कांच के टुकड़े तक बिछा जाता। नदी-नालों की चरमराती संकरी-सी बेस-पुलिया बोझ-तले टूटने-उलटने को हो जाती। मार्ग में मिलतीं टूटी दीवारें, खंडहर मकान, ढही छतें, जलते शहतीर, दहकते मलबे, नंगी ठठरियां और विकृत लाशें—धर्मोन्माद का हस्तलाघव था वह सब और आंखों में आंसू भरे, हृदय में हाहाकार लिये वह संत उस विनाश-लीला के बीच अकेला, सर्वथा एकाकी, चला जा रहा था। महाकवि रवींद्र का गीत 'एकला चलो रे' उसकी एकाकी यात्रा को नहीं, उसकी गहन मनोव्यथा को भी सही-सही अभिव्यक्त करता था। शायद इसीलिए यह गीत गांधीजी को उन दिनों इतना प्रिय हो गया था :

यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे।
एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे ॥
यदि केउ कथा ना काय, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि सबाई थाके मुख फिराये सबाई करे भय—
तबे परान खुले
ओ तुई मुख फुटे तोर मनेर कथा एकला बोलो रे ॥
यदि सबाई फिरे जाय, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि गहन पथे जाबार काले केउ फिरे ना जाय—

[1] प्यारेलाल : 'महात्मा गांधी, दि लास्ट फ़ेज़', जिल्द १, पृष्ठ ४७०

तबे पथेर कांटा
ओ, तुई रक्त माखा चरण तले एकला दलो रे ।।
यदि आलो ना धरे, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि झड़ बादले आंधार राते दुआर देय धरे—
तबे वज्रानले
आपन बुकेर पांजर ज्वालिये निये एकला ज्वलो रे ।[1]

२ मार्च १९४७ को गांधीजी बिहार के लिए रवाना हुए। वहां के हिंदू किसानों ने नौआखाली का बदला लेने के लिए अपने यहां के मुस्लिम अल्पसंख्यकों के साथ वही किया जो पूर्वी बंगाल में वहां के मुसलमान हिंदुओं के साथ कर चुके थे। बिहार के दंगों की खबर गांधीजी को सबसे पहले उस समय मिली थी, जब वह अक्तूबर १९४६ के अंतिम सप्ताह में नौआखाली की ओर जा रहे थे। उन्होंने उसी समय घोषणा करदी कि यदि तुरन्त शांति स्थापित न हुई तो आमरण अनशन कर देंगे। गांधीजी की घोषणा तो थी ही, बिहार सरकार ने भी सख्ती से काम लिया और जवाहरलालजी ने दंगा-ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया, जिससे बिहार में तुरंत शांति स्थापित हो गई।

---

१ यदि तेरी पुकार सुन कोई न आये तो अकेला चल।
अकेला चल, अकेला चल, अकेला ही चल ।।
यदि कोई बात न करे, अरे ओरे अभागे,
यदि सब रहें मुंह फिराये, सभी करें भय—
तब साहस से
ओरे, तू मुंह खोल अपने मन की बात कह अकेला ही ।।
यदि सब लौट जाय, अरे ओ रे अभागे,
यदि दुर्गम पथ पर जाते, कोई फिरकर न ताके—
तब पथ के कांटे
ओ रे तू रक्तरंजित चरणतले रौंद अकेला ही ।।
यदि दीप जलाए न जले, अरे ओ रे अभागे,
यदि झड़ी बरसती अंध रात में, द्वार मुंदे हों घर के
तब वज्रानल से
अपनी छातीपंजर ज्वलित कर तू जल अकेला ही ।।

बंगाल की तरह बिहार में भी गांधीजी ने वही बात कही —बहुसंख्यकों को अपने कृत्यों के लिए पश्चात्ताप कर अपनी भूल सुधारनी चाहिए, अल्पसंख्यकों को चाहिए कि वे माफ कर दें, मन में कीना न रखें और अपने घरों को लौट जायं। जो भी हुआ था, उसके लिए वह कोई बहाना सुनने को तैयार न थे। जिन लोगों ने बिहार की घटनाओं को पश्चिम बंगाल का बदला कहकर उचित ठहराने की कोशिश की, उन्हें गांधीजी ने बुरी तरह फटकारा। उनका कहना था कि सभ्यता का व्यवहार हर व्यक्ति और समुदाय का फर्ज है और उसके पालन में यह नहीं देखा जाता कि दूसरे ने कब, कहां और क्या किया। बिहार की हालत सुधरने लगी और यदि १९४६-४७ का सांप्रदायिक तनाव उस समय की अस्थिर और विद्वेषपूर्ण राजनीति की प्रतिक्रिया न होता तो निश्चय ही बिहार में बहुत शीघ्र स्थिति काबू में आ जाती।

गांधीजी उधर बंगाल और बिहार के गांवों में लगे रहे और इधर देश के राजनैतिक वातावरण में बहुत तेजी से काफी चिंताजनक परिवर्तन हो गये। लीग के 'सीधी कार्रवाई-दिवस' के बाद सारे देश में सांप्रदायिक दंगों की आग भड़क उठी। लार्ड वेवल इस देशव्यापी अराजकता से बुरी तरह घबरा गये और स्थिति पर काबू पाने की दृष्टि से उन्होंने लीग को भी अंतरिम सरकार में सम्मिलित कर लिया। केंद्र में लीग-कांग्रेस का संयुक्त मंत्रिमंडल देश की सभी राजनैतिक व्याधियों की रामबाण औषधि समझा जाता था। पिछले सात बरस से बराबर इसीपर जोर दिया जा रहा था, लेकिन कांग्रेस-लीग का संयुक्त मंत्रिमंडल भी राजनैतिक विवाद को हल न कर सका, उलटे वह और भी उग्र होता चला गया। ९ दिसंबर से विधान-परिषद् की बैठकें होनेवाली थीं। मुस्लिम लीग ने यह घोषणा करदी कि उसके प्रतिनिधि उसमें भाग नहीं लेंगे। वैधानिक संकट इतना गहरा हो गया कि नवंबर १९४६ के अंतिम सप्ताह में ब्रिटिश सरकार ने वाइसराय, नेहरूजी, जिन्नासाहब, लियाकत अली ख़ां और सरदार बलदेवसिंह को विचार-विमर्श के लिए लंदन बुला भेजा। वहां भी आपसी चर्चाओं का कोई परिणाम नहीं निकला और समझौते का प्रयत्न एक बार फिर विफल हुआ। तब ब्रिटिश सरकार ने प्रांतों के समूह बनाने-संबंधी केबिनट-मिशन-योजना की विवादास्पद धारा का स्पष्टीकरण करते हुए ३ दिसंबर, १९४६ को एक

वक्तव्य दिया। इस स्पष्टीकरण से लीग की बहुत-सी आपत्तियों का निराकरण हो गया, लेकिन फिर भी वह विधान-परिषद् में भाग लेने को राजी न हुई।

१९४७ के आरंभ में देश का राजनैतिक भविष्य पूर्णतः तिमिराच्छन्न था। सारा भारत, यहांतक कि हर नगर और हर गांव, गृहयुद्ध की-सी स्थिति में था। केंद्रीय सरकार ऊपर से लेकर नीचे तक स्वयं इस तरह बंटी हुई थी कि वह प्रांतीय सरकारों को दृढ़ता और संश्लिष्ट रूप से काम करने को प्रेरित नहीं कर सकती थी। कभी कांग्रेस और कभी लीग के दबाव के कारण लार्ड वेवल का कोई बस चल नहीं पाता था। प्रयत्न करके भी वह स्थिति को सुलझाने या उसपर काबू पाने में असमर्थ ही रहे थे। अराजकता को रात के अंधेरे की तरह बढ़ते देख वह इतना घबरा गये कि क्रमशः एक-एक प्रांत से अंग्रेजों को हटाने का सुझाव तक कर बैठे। ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली ने समझ लिया कि नई नीति और नया वाइसराय ही भारत में हालत को और अधिक बिगड़ने से रोक सकेगा। २० फरवरी, १९४७ को उन्होंने हाउस आव कामन्स में घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का जून १९४८ में भारत छोड़ने का इरादा बिलकुल पक्का है और यदि उस समय तक भारतीय राजनैतिक दल अखिल भारतीय विधान के संबंध में एकमत न हो सके तो "ब्रिटिश भारत में किसी भी तरह की केंद्रीय सरकार को या कुछ क्षेत्रों की तत्कालीन प्रांतीय सरकारों को या भारतीय जनता के हित में जो भी उचित और उपयुक्त प्रतीत होगा, उस तरह सत्ता हस्तांतरित कर दी जायगी।" उसके साथ ही लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउंटबेटन को भारत का वाइसराय नियुक्त किये जाने की घोषणा की गई थी।

ब्रिटिश प्रधान मंत्री के २० फरवरी के वक्तव्य को नेहरूजी ने "समझदारी और साहसपूर्ण" कहा था। जिन्नासाहब उस ऐतिहासिक वक्तव्य में निहित अतुलित आस्था और साहस से तो प्रभावित नहीं हुए, लेकिन तत्कालीन प्रांतीय सरकारों को "जून १९४८ में सत्ता हस्तांतरित किये जाने की संभावना से उन्हें अवश्य प्रसन्नता हुई। लीग यही चाहती भी थी। विधान-परिषद् में सम्मिलित हुए बिना और अखिल भारतीय विधान को खटाई में डालकर उसे पूर्व और पश्चिम के प्रांतों में जहां वह पाकिस्तान बनाना

चाहती थी, सत्ता मिली जा रही थी। पूर्व और पश्चिम के उन प्रांतों में बंगाल और सिंध में तो लीगी मंत्रिमंडल थे ही, मुस्लिम जनसंख्या-प्रधान विलोचिस्तान केंद्र-प्रशासित प्रदेश था। आसाम और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे और पंजाब में कांग्रेस, अकाली दल और यूनियनिस्टों की संयुक्त सरकार थी। लीग ने आसाम, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत और पंजाब के मंत्रिमंडलों को अपदस्थ कर वहां लीगी मंत्रिमंडल वनाने का फैसला कर लिया। तुरन्त इन तीनों प्रांतों में सीधी कार्रवाई जोर-शोर से शुरू कर दी गई। इसका परिणाम खास तौर पर पंजाब के लिए बड़ा ही भयानक हुआ। पश्चिमी पंजाब के हिंदू और सिख अल्पसंख्यकों को वही कष्ट भुगतने पड़े, जो पूर्वी बंगाल के हिंदू अल्पसंख्यकों एवं विहार के मुस्लिम अल्पसंख्यक भुगत चुके थे।

पंजाब के उपद्रवों के समाचार गांधीजी को बिहार में मिले। अक्तूबर १९४६ से वह हिंसा की आग को बुझाने की व्यर्थ कोशिश में एक प्रांत से दूसरे प्रांत में भटकते रहे थे। एक प्रांत का काम संभल भी न पाता था कि दूसरे प्रांत में आग धधक उठती थी। कुछ लोग तो निरुपाय होकर यहांतक कहने लगे थे कि अंग्रेज ही थे, जो हिंदू-मुसलमानों को एक-दूसरे का गला काटने से रोके रहे। उनके जाते ही दोनों की आपस में ठन गई !

१९४६-४७ की हिंसात्मक कार्रवाइयों ने गांधीजी को कड़े आघात पहुंचाने के साथ-साथ बुरी तरह व्यथित भी कर दिया था। विश्व के समक्ष भारत की अहिंसा का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वह जीवन-भर परिश्रम करते रहे थे। लेकिन अपनी आंतरिक अभिलाषा और आंखों के सामने प्रत्यक्ष दिखनेवाली वास्तविकता ने उन्हें पूर्णत: निराश कर दिया था। उन्हें ऐसा लग रहा था, मानो जीवन के सारे प्रयत्न ही विफल हो गये। इस सबके लिए उन्होंने अपनेको ही दोषी माना। कहीं मेरी कार्य-शैली ही तो गलत नहीं ? क्या मैंने असतर्कता, लापरवाही, अन्यमनस्कता और जल्द-बाजी से तो काम नहीं लिया ? अंग्रेजों से अहिंसात्मक लड़ाई लड़नेवालों के मन में दबी-छिपी हिंसा को देख पाने में मैं कहीं असफल तो नहीं हुआ ? सांप्रदायिक हिंसा अहिंसा का जबानी समर्थन करनेवालों के मन में धधकती हिंसा का ही व्यक्त रूप तो नहीं है ?

अपने सिद्धांतों और विचारों की रोशनी में एवं अपने दृष्टांत से चालित भारत के स्वाधीनता-संग्राम में इस व्यापक बुराई की जड़ें खोजने का उनका प्रयत्न स्वाभाविक ही था। सारी परिस्थिति का सिंहावलोन करने के बाद तो यही लगता है कि अहिंसा की असफलता के लिए सारा दोष अपने सिर लेना उनकी ज्यादती ही थी। अकेला एक नेता, वह कितना ही महान क्यों न हो, चाहे तीस बरस की अवधि में ही सही, एक विशाल देश के चालीस करोड़ निवासियों को घृणा और हिंसा की भावना से मुक्त कर सकेगा, यह आशा निरी दुराशा ही कही जायगी। यही क्या कम महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय है कि उनके द्वारा संचालित देशव्यापी सामूहिक सत्याग्रहों में हिंसा की मात्रा लगभग नगण्य रही और देश के राष्ट्रीय जागरण में नवजागृत राष्ट्रवाद के साथ अन्यथा जुड़ी रहनेवाली हिंसा का लेश भी न आने पाया।

हो सकता है कि अगस्त १९४२ में कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देश की जनता अपना आपा खोकर जो उच्छृंखल हुई तो फिर सत्याग्रह का अनुशासन न अपना सकी। लेकिन १९४६-४७ की हिंसात्मक कार्रवाइयों का मुख्य कारण वह नहीं, वास्तव में पाकिस्तान के पक्ष-विपक्ष में किये जानेवाले प्रचार और आंदोलन से पैदा हुई उत्तेजना और तनाव ही थे। इस सारे आंदोलन की बुनियाद ही इस गलत और विद्वेषपूर्ण धारणा पर रखी गई थी कि हिंदू और मुसलमानों में न कभी एकता थी, न आज है और न आगे कभी हो सकेगी। देश की काफी बड़ी जनसंख्या झूठी आशाओं से प्रतारित और झूठे भयों से व्यथित होती रही थी। कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता था कि भारत एक और अखंड रहेगा या दो अथवा अधिक राज्यों में विभाजित हो जायगा, पंजाब और बंगाल एक रहेंगे अथवा उनका अंग-भंग हो जायगा, रियासतें स्वतंत्र भारत का अविभाज्य अंग होंगी अथवा स्वाधीन राज्य बन जायंगी? आसाम की नागा जाति और मध्य-भारत (सेंट्रल इंडिया) के आदिवासियों ने कभी स्वतंत्रता की मांग नहीं की थी, लेकिन अब उनके भी स्वतंत्र राज्यों के दावेदार खड़े हो गये थे। दक्षिण में द्राविड़स्थान बनाने और पाकिस्तान के पूरब-पश्चिम के हिस्सों को जोड़नेवाले हजार मील लंबे गलियारे की अफवाहें भी गरम थीं। बलकान राष्ट्रों की भांति भारत को छोटे-छोटे हिस्सों में बांटने की जो बात

कभी अमंगलसूचक समझी जाती थी, वह एक वास्तविक खतरा बन गई थी। लोग व्यग्र होकर तरह-तरह की और मन-उपजाई बातें सोचने लगे थे। उपद्रवकारी तत्व यह सोच-सोचकर खुश हो रहे थे कि सत्ता के हस्तांतरित होते ही देश की ठीक वही हालत हो जायगी जो १८ वीं शताब्दी में मुग़ल साम्राज्य के पराभव के समय थी और तब उन्हें खुल खेलने की मुंह-मांगी मुराद मिलेगी।

ऐसी नाजुक घड़ी में सरकार और प्रशासन-तंत्र का हाल और भी बुरा था। केंद्रीय सरकार के मंत्रियों में न विचारों की एकता थी, न कार्य की। सभी दलों के प्रतिनिधि अपनी ढपली पर अपना राग अलाप रहे थे। प्रांतीय सरकारों का लगभग अध:पतन हो चुका था। निकट भविष्य में ही अपनी सेवाओं की समाप्ति के विचार से कुछ अंग्रेज अफसरों के दिल खट्टे हो रहे थे और फिर चारों ओर धधकती सांप्रदायिकता की आग को बुझाने की उनमें न इच्छा थी और न सामर्थ्य ही। अधिकांश भारतीय अफसर सांप्रदायिक विष से अछूते न रह सके थे और जो थोड़े-बहुत रहे भी थे, वे अपने मातहतों को विजातियों पर अत्याचार करने से रोक नहीं पाते थे। कई राजनैतिक दलों ने अपने-अपने सैनिक संगठन बना लिये थे। मुस्लिम लीग का नेशनल गार्ड था। हिंदुओं का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ था। और भी कई थे। ऐसा लगता था जैसे कानून और व्यवस्था में जनता का कोई विश्वास ही न रह गया हो।

देश की इस विस्फोटक स्थिति को गांधीजी से अधिक अच्छी तरह और कौन समझ सकता था! लीग के 'सीधी कार्रवाई दिवस' के कलकत्ता उपद्रवों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा था, "अभी गृहयुद्ध तो नहीं छिड़ा है, लेकिन उसमें देर भी नहीं है।" अक्तूबर १९४६ में जब वह दिल्ली से नौआखाली के लिए रवाना हुए तबसे धार्मिक उन्माद का शमन ही उनका खास काम हो गया था। वह जानते थे कि यदि राजनैतिक दलों में समझौता हो गया तो स्थिति काफी हदतक सामान्य हो जायगी, लेकिन समझौते की कोई संभावना दिखाई नहीं दे रही थी और उन्हें तो यह आशंका भी थी कि कहीं हिंसा राजनैतिक समझौते पर हावी न हो जाय। उनका कहना था कि यदि नेता समझौता नहीं कर सकते तो क्यों

न जनता को उसके लिए राजी किया जाय, लेकिन वह नहीं जानते थे कि जनता राजी हो भी जायगी अथवा नहीं। बंगाल और बिहार के अपने दौरों में उन्होंने लोगों को काफी समझाया-बुझाया था, लेकिन अब मुस्लिम मध्यम वर्ग पर उनका वह असर नहीं रह गया था, जो पहले कभी हुआ करता था। हिंदू भी बहुत बेचैन थे और उनकी नीति को 'एकपक्षीय निरस्त्रीकरण' की नीति कहकर उसमें संदेह प्रकट करने लगे थे। यदि जिन्नासाहब पूर्वी बंगाल अथवा पश्चिमी पंजाब का दौरा करते तो उससे दंगों की रोक-थाम में काफी मदद मिल जाती। लेकिन उपवास और पद-यात्राओं को घृणा की दृष्टि से देखनेवाले जिन्नासाहब ऐसे किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए राजी ही क्यों होते ! यह सब उनकी राजनैतिक शान और रुतबे के खिलाफ जो था।

जिन्नासाहब वकील और विधान-शास्त्री थे, इसलिए सहसा विश्वास नहीं होता कि वह हिंसा का समर्थन करते रहे हों। लेकिन यह तो निर्विवाद है कि हिंसात्मक कार्रवाइयों की धमकी देना उन्हें खूब आता था और शायद इसमें उनका विश्वास भी था। 'कलकत्ते की जबर्दस्त खूंरेजी' और बंगाल एवं बिहार के उपद्रवों के बाद पाकिस्तान के पक्ष में सांप्रदायिक उत्पात ही उनका सबसे सबल तर्क था। वह कहने लगे थे कि यदि भारत का विभाजन नहीं किया गया तो जो हो चुकी हैं उनसे भी भीषण घटनाएं होंगी। वेवल और माउंटबेटन का अनुरोध स्वीकार कर वह शांति की अपीलों पर अपने हस्ताक्षर तो कर देते थे, परंतु आग उगलनेवाले अपने सहयोगियों को रोकने की कोई कोशिश नहीं करते थे। खुद उनके वक्तव्य उपद्रवों और उत्पातों की भर्त्सना करने के बदले लीपा-पोती के प्रयत्न होते थे।

: ४१ :

पराजित की विजय

मि० एटली को भारत के संबंध में सबसे अधिक डर गृहयुद्ध का था। अपने संस्मरणों में उन्होंने कहा भी है कि भारत में सत्ता के शांतिपूर्ण

हस्तांतरण की संभावनाएं अधिक तो नहीं थी; पर एक व्यक्ति था, जो "शायद गाड़ी को खींच ले जाता।" वह व्यक्ति रियर-एडमिरल लार्ड माउंटबेटन थे, जो मार्च १९४७ में लार्ड वेवल के बाद भारत के वाइसराय बने।

नये वाइसराय का सबसे पहला काम था गांधीजी को चर्चा के लिए आमंत्रित करना। गांधीजी उस समय बिहार में शांति-स्थापना के सिलसिले में पद-यात्रा कर रहे थे। वाइसराय का तार मिलते ही उन्होंने अगले सारे कार्यक्रम रद्द कर दिये और ट्रेन से दिल्ली पहुंचे। उन्होंने लार्ड माउंटबेटन को, कांग्रेस-लीग की संयुक्त सरकार भंग कर उसके स्थान पर जिन्ना साहब को नई सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने की सलाह दी। इसके द्वारा गांधीजी कांग्रेस और हिंदुओं के बारे में जिन्नासाहब के संदेहों को एकबारगी मिटा देना चाहते थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार को यह सुझाव उपयुक्त नहीं लगा। कांग्रेसी नेता भी सारे सूत्र लीग के हाथ में सौंपने को तैयार नहीं थे। अंतरिम सरकार में वे अपने लीगी साथियों के रुख और रवैये से खूब परिचित हो चुके थे। फिर सद्भावना-संकेतों का जमाना भी अब नहीं रह गया था। जब जिन्नासाहब ने लार्ड माउंटबेटन से भेंट की तो बंटवारे की अपनी उसी पुरानी मांग पर उन्होंने फिर जोर दिया।

अब कांग्रेस ने भी बंटवारे के प्रश्न पर अपनी नीति और दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन किया, जिससे वाइसराय का काम बहुत सरल हो गया। अभी तक कांग्रेस इस बात पर अड़ी हुई थी कि यदि बंटवारा होना ही है तो वह स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हो, पहले नहीं जैसा कि मौलाना आज़ाद ने उस समय कहा था, "शादी पहले, तलाक उसके बाद।" लेकिन अंतरिम सरकार में कुछ महीने लीगियों के साथ काम करके कांग्रेसी नेता इस नतीजे पर पहुंचे थे कि एकता मुश्किल ही है। १९४७ के फरवरी-मार्च महीने में तो हालत यह हो गई कि या तो विभाजन स्वीकार करें या देश को अराजकता के भंवर में फंस जाने दें। कांग्रेसी नेताओं ने देश के तीन-चौथाई भाग को अंधाधुंधी की गिरफ्त से बचाने के लिए विभाजन को आज़ादी से पहले ही मंजूर कर लेना ठीक समझा।

इस प्रकार ३ जून, १९४७ की योजना सामने आई, जिसके अनुसार १५ अगस्त, १९४७ को ब्रिटेन द्वारा दो उत्तराधिकारी राज्यों को सत्ता

सौंपने की वात तय रही। इस योजना पर कांग्रेस और लीग की सम्मिलित स्वीकृति प्राप्त करने के लिए समझौता-वार्ताओं में वाइसराय को पूरे दस हफ्ते और अपना समस्त बुद्धि-कौशल लगा देना पड़ा था। यह योजना कांग्रेस और लीग के बीच समझौते का ऐसा लघुतम अंश थी, जिसपर दोनों पक्ष सहमत हो सके थे, यद्यपि अंतिम फैसला तो जनवादी तरीके से अर्थात प्रांतीय कौंसिलों के सदस्यों के मतदान अथवा मत-संग्रह के द्वारा ही किया जाना था, लेकिन भारत और पंजाव एवं बंगाल के बंटवारे की बात पक्की हो गई थी।

गांधीजी को जिसका डर था, अब वही वात होने जा रही थी। भारत के बंटवारे की वात पक्की हो गई थी, लेकिन विभाजन ऊपर से लादा नहीं जा रहा था। पं० जवहारलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों के बहुमत ने उसे स्वीकार किया था। इस बार की वार्ताओं में गांधीजी ने भाग नहीं लिया था, लेकिन विभाजन के विरुद्ध वह थे, इसे सभी जानते थे। कारण भी वही थे, जिन्हें वह पहले अनेक बार बता चुके थे—"अंग्रेज़ों के भारत पर शासन करते हुए हम मिल-जुलकर, संश्लिष्ट रूप से कभी कुछ सोच ही नहीं सकते। फिर भारत का नकशा वदलना ब्रिटिश सरकार का काम नहीं है। उसका काम तो है वादा की हुई तिथि को या उसके पहले 'भारत से हट जाना और देश को व्यवस्थित अथवा उथल-पुथल में, जैसी भी स्थिति हो, छोड़ जाना।" जिन उत्पातों के डर के कारण कांग्रेसी नेताओं और ब्रिटिश सरकार के निकट विभाजन नितांत आवश्यक हो गया था, उन्हीं उत्पातों और हिंसा के कारण गांधीजी विभाजन का विरोध कर रहे थे। देश में गृह-युद्ध के खतरे की वजह से विभाजन स्वीकार करने का अर्थ होगा "इस बात को मान लेना कि काफी तादाद में हिंसा और उत्पातों का सहारा लिया जाय तो हर चीज़ हासिल की जा सकती है।"

विभाजन के बारे में इतना कड़ा रुख होने से यह खयाल किया जाता था कि शायद गांधीजी माउंटबेटन-योजना का विरोध करेंगे। खुद वाइस-राय को भी यही आशंका थी। लेकिन जिस समझौते को कांग्रेस और लीगी नेताओं एवं ब्रिटिश सरकार ने मंज़ूर कर लिया था, उसमें अड़ंगा डालने

का गांधीजी का कोई इरादा नहीं था। कांग्रेस की महासमिति जब माउंट-बेटन-योजना पर विचार करने बैठी तो गांधीजी ने विभाजन के विपक्ष में अपनी राय साफ-साफ बता दी, लेकिन पूरा जोर लगाया योजना को मंजूर कर लेने के पक्ष में। अपनी स्वतंत्र राय को अक्षुण्ण रखते हुए भी इस आत्म-त्याग के द्वारा गांधीजी ने उस समय कांग्रेस को फूट से बचा लिया।

पाकिस्तान बनने का अंतिम रूप से फैसला हो जाने पर गांधीजी ने उसके बुरे नतीजों की रोकथाम की कोशिशें शुरू कर दीं। पाकिस्तान के हिंदू अल्पसंख्यकों को बराबरी के अधिकार और सुविधाएं देने के जिन्ना-साहब के वादे का उन्होंने स्वागत किया और होनेवाले भारतीय संघ से अनुरोध किया कि 'बड़ा' होने के नाते उसे अपने यहां अल्पसंख्यकों के साथ न केवल न्यायोचित अपितु उदारता का व्यवहार करके अपने पड़ोसी के लिए एक उदाहरण पेश करना चाहिए।

१५ अगस्त, १९४७ को सत्ता के हस्तांतरण का उत्सव राजसी ठाठ-बाट से मनाने का फैसला किया गया था, लेकिन गांधीजी गाजे-बाजे के ज़रा भी पक्ष में नहीं थे। जिस दिन के लिए वह जीवन-भर परिश्रम करते रहे थे, उसके आगमन पर उनके मन में कोई उनंग नहीं थी। एक तो आज़ादी के लिए देश की एकता की बलि चढ़ानी पड़ी थी और फिर काफी बड़े क्षेत्रों की जनता अपने भविष्य को लेकर चिंतित और व्यग्र थी। अगस्त के आरंभ में कश्मीर जाते हुए पश्चिमी पंजाब में दंगों से बर्बादी के चिह्न उन्होंने देखे और फिर उन्हें तुरंत पूर्वी बंगाल चले जाना पड़ा, जहां पाकिस्तान बन जाने के कारण नोआखाली के हिंदुओं के लिए सांप्रदायिक उपद्रवों का खतरा फिर बढ़ गया था।

कलकत्ता पहुंचे तो वहां की हालत बहुत बिगड़ी हुई थी। सांप्रदायिक उप-द्रव अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुका था। पिछले पूरे एक साल से कल-कत्ता शहर ऐसी ही तबाही से गुजर रहा था। अब लीगी मंत्रिमंडल के सत्ता छोड़ देने और अधिकांश मुस्लिम अफसरों एवं पुलिस अधिकारियों के पाकिस्तान चले जाने के कारण हिंदू उपद्रवकारियों की बन आई थी। लगता था कि कलकत्ता के हिंदू वहां के मुसलमानों से पिछली सारी बातों का बदला लेकर ही रहेंगे। सुहरावर्दी अब मुख्य मंत्री नहीं थे, शायद इस-

लिए उनके दृष्टिकोण में भी कुछ परिवर्तन हो गया था। वह गांधीजी से मिले और अनुरोध किया कि नौआखाली जाने से पहले कलकत्ता में शांति स्थापित करते जायं। गांधीजी इस शर्त पर राजी हो गये कि सुहरावर्दी भी उनके साथ कलकत्ते के एक ही मकान में रहें और हिंदू अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए पूर्वी बंगाल के मुस्लिम जनमत को प्रभावित करने में उनकी सहायता करें। गांधीजी ने अपने रहने के लिए बेलीघाटा में एक मुसलमान मजदूर का घर चुना। यह मुहल्ला उन दिनों मुसलमानों के लिए असुरक्षित समझा जाता था। १३ अगस्त को गांधीजी उस घर में रहने के लिए पहुंचे ही थे कि कुछ हिंदू युवक उनके शांति-प्रयत्नों के खिलाफ प्रदर्शन करने को आ धमके। गांधीजी ने बड़ी शांति से उन्हें अपने शांति-प्रयत्नों का अभिप्राय समझाया और बताया कि भाई-भाई की इस लड़ाई को रोकना क्यों आवश्यक है और यह भी कहा कि हिंसा और तोड़-फोड़ से तो किसी को भी लाभ न होगा, उलटे हिंदुओं का ही नुकसान होगा। उनकी मधुर, करुण, प्रेमभरी वाणी ने युवकों के रोष और उत्तेजना को पानी-पानी कर दिया। वही हाल हुआ जो वर्षा की फुहारों से बैशाख-जेठ की तप्त भूमि का होता है। बंगाली युवक बदले हुए मन-मस्तिष्क लेकर अपने घरों को लौट गये। यह एक चमत्कार था। महात्माजी के इस जादू से कलकत्ते की हालत में रातोंरात परिवर्तन हो गया। दंगा रुक गया। आजादी की अगवानी का दिन १४ अगस्त, दोनों कौमों ने संयुक्त रूप से साथ मिलकर मनाया। हिंदू और मुसलमान, एक-दूसरे से निर्भय, सड़कों पर निकल आये, गले मिले और साथ नाच-गाकर आजादी का उत्सव मनाने लगे। अगस्त १९४६ से नगर पर छाये हुए सांप्रदायिकता के घनघोर बादल छंट गये थे। ईद के दिन हिंदुओं ने अपने मुसलमान भाइयों को गले लगाया और मुबारकबाद दी। लगता था, जैसे १९२०-२२ के खिलाफत आंदोलनवाले दिन लौट आये हों। तीन-तीन, चार-चार लाख आदमी गांधीजी की प्रार्थना-सभाओं में शामिल होने लगे और उन सभाओं में भारत तथा पाकिस्तान के झंडे साथ लगाये जाते। गांधीजी अपने प्रयत्नों के परिणाम से बड़े ही संतुष्ट और प्रसन्न दिखाई देते थे। उन्होंने कहा भी था—"हमने घृणा का विष पिया, इसलिए भाई-चारे का यह अमृत और भी मीठा लगता है।"

लेकिन यह मैत्री भाव मुश्किल से पंद्रह दिन निभ पाया होगा कि पंजाब के हत्याकांडों और वहां से हिंदुओं के भागने के समाचारों ने फिर आग लगादी। ३१ अगस्त की रात को हिंदुओं की एक भीड़ गांधीजी के बेलीघाटावाले मकान पर चढ़ दौड़ी। क्रुद्ध, हिंस्र और उत्तेजित भीड़ ने घर के खिड़की-दरवाजे तोड़ डाले और लोग अंदर घुस गये। महात्माजी के समझाने और शांत करने का कोई असर उन लोगों पर न हुआ। भीड़ में से किसीने उनपर पत्थर फेंका, किसीने लाठी खींचकर मारी, लेकिन दोनों ही बार वह बाल-बाल बच गये। उसके बाद कलकत्ता फिर दंगे की गिरफ्त में आ गया।

गांधीजी के शांति-प्रयत्नों को इससे गहरा धक्का लगा। उन्होंने पहली सितंबर से अनशन शुरू करने की घोषणा करदी—जबतक कलकत्ते में शांति स्थापित न होगी, वह अपना उपवास नहीं तोड़ेंगे। "जो मेरे कहने से न हुआ, वह शायद मेरे उपवास से हो जाय।" उपवास की घोषणा ने सारे कलकत्ते को हिला दिया, मानो बिजली ही छू गई हो। मुसलमान विचलित हो उठे और हिंदू लज्जा से नतमस्तक, यहांतक कि कलकत्ता के गुंडों की भी हिम्मत गांधीजी का खून अपने हाथों पर लेने की न हुई। उपद्रवकारियों ने खुद होकर कई ट्रक गैर-कानूनी हथियार अधिकारियों के पास जमा करवा दिये। दोनों कौमों के नेताओं ने आपस में शांति बनाये रखने की प्रतिज्ञा की और गांधीजी से प्रार्थना की कि वह अपना अनशन समाप्त करदें। गांधीजी ने इस शर्त के साथ उपवास तोड़ा कि यदि फिर शांति भंग हुई तो वह आमरण अनशन कर देंगे।

कलकत्ते के उपवास ने जादू का-सा काम किया। 'लंदन टाइम्स' के संवाददाता ने कहा था कि जो काम सेना के कई डिविज़नों से न हो पाता, उसे एक उपवास ने कर दिखाया। उसके बाद कलकत्ता और बंगाल में कोई गड़बड़ी न हुई। कम-से-कम वहां से तो सांप्रदायिकता का भूत उतर चुका था।

अब गांधीजी ने अपना ध्यान पंजाब की ओर लगाया। १९४७ के मध्य अगस्त में पंजाब में जो दंगे हुए, वास्तव में वे मार्च १९४७ के दंगों का ही एक सिलसिला था। पंजाब के शहर और गांव आशा, निराशा और आशंका

में झकझोरे खाते और साथ ही लड़ाई की तैयारियां भी करते रहे थे। सांप्रदायिक आधार पर सरकारी कर्मचारियों की अदला-बदली के कारण प्रशासन-तंत्र एकदम निकम्मा और कमजोर हो गया था। अगस्त महीने के अंत तक पुलिस और फौज पर सांप्रदायिक तत्त्वों के पूरी तरह हावी हो जाने के कारण हिंदुओं का पश्चिमी पंजाब में और मुसलमानों का पूर्वी पंजाब में रहना असंभव हो गया।

पचास लाख हिंदू और सिखों की पश्चिमी पंजाब से पूर्वी पंजाब की ओर एवं लगभग इतने ही मुसलमानों की पूर्वी पंजाब से पश्चिमी की ओर भगदड़ ने मानवी कष्टों और तबाही का जो दृश्य उपस्थित किया, समसामयिक इतिहास में उसका उदाहरण मिलना मुश्किल है और सबसे बड़ा खतरा तो यह था कि जब शरणार्थियों के काफले मंजिल पर पहुंचकर आपबीती के दुःखभरे किस्से सुनाते तो वहां भी हिंसा और उत्तेजना फैल जाती थी। सितंबर के पहले सप्ताह में दिल्ली में ठीक हुआ भी यही। जब गांधीजी दिल्ली पहुंचे तो भीषण सांप्रदायिक उपद्रवों के कारण वहां का सारा काम-काज ठप्प हो गया था। दिल्ली को सांप्रदायिक आग की लपटों में जलता छोड़ पंजाब जाने का कोई तुक गांधीजी की समझ में न आई। सरकार ने स्थिति को संभालने में काफी मुस्तैदी दिखाई थी। लेकिन पुलिस और सेना के जोर से थोपी हुई शांति से गांधीजी भला कैसे संतुष्ट हो सकते थे ! लोगों के दिलों से ही हिंसा और घृणा को मिटाना होगा। काम बहुत ही कठिन था। राजधानी में कई शरणार्थी कैंप थे। कुछ में पश्चिमी पाकिस्तान से भागकर आये हुए हिंदू और सिख शरणार्थी भरे हुए थे और कुछ में दिल्ली से भागनेवाले मुसलमान सीमा के पार जाने के इंतजार में पड़े थे।

हिंदू और सिख शरणार्थियों के मिजाज का पारा बहुत चढ़ा हुआ था। घर, जमीन और रोजी-रोजगार से उखड़े हुए इन लोगों में से बहुत-से पहली बार असहनीय गरीबी का दुःख भोग रहे थे, कइयों को दंगों में अपने प्रियजनों से हाथ धोने पड़े थे और गुस्सा तो सभीके दिलों में था। सभी दिल्ली में अपने लिए जगह बनाना और रोजगार पाना चाहते थे। सबकी आंखें मुसलमानों द्वारा छोड़े हुए मकानों और दुकानों पर लगी हुई

थीं। पाकिस्तान में छोड़ी हुई अपनी जायदाद के बदले मुसलमानों की भारत-स्थित जायदाद को पाना वे अपना हक समझते थे। महात्माजी की 'भूल जाने और क्षमा करने' की सलाह उनकी समझ में नहीं आती थी। वे कहते कि जिनके हाथों अपार कष्ट सहने पड़े, उनके लिए दिलों में घृणा क्यों न होगी ? बंटवारे के लिए भी वे गांधीजी को ही जिम्मेदार ठहराते थे। महात्माजी की अहिंसा से पाकिस्तानियों की हिंसा बहुत तगड़ी साबित हुई थी। गांधीजी के यह कहने पर कि आप लोग एक दिन लौटकर पाकिस्तान में अपने घरों को जा सकेंगे, वे अविश्वास से सिर हिलाकर रह जाते थे। उनका कहना था कि जो हमने देखा और सहा वह गांधीजी को भुगतना नहीं पड़ा, इसलिए ऐसी बातें कहते हैं ! इधर गांधीजी लोगों को समझाने-बुझाने और आश्वासन देने में दिन-रात एक किये दे रहे थे। दिल्ली में बैठकर वह लोगों की शिकायतें सुनते, मुसीबतों के हल निकालते, रोज के अनगिनत मुलाकातियों में किसीकी पीठ ठोकते तो किसीको झिड़कते, शरणार्थी कैंपों का चक्कर लगाते और स्थानीय अधिकारियों से भी मिलते-जुलते रहते थे। यह सारा काम बुरी तरह थका देने और दिल तोड़नेवाला था।

गांधीजी कभी गंभीरता से और कभी मजाक में कहा करते थे कि वह सवा सौ वर्ष की उम्र तक जीवित रहना चाहते हैं। उनके विचारों के अनुसार दीर्घ जीवन का यही भारतीय आदर्श था। लेकिन 'कलकत्ता की जबर्दस्त खूंरेजी' के बाद के दंगों के कारण वह इतने त्रस्त और दुःखी हो गये थे कि अक्सर कहा करते, "भाई-भाई की इस सत्यानाशी लड़ाई को देखते हुए जीवित रहने की अब जरा भी इच्छा नहीं होती।" उस बार अपने जन्म-दिवस पर बधाई देनेवालों से उन्होंने कहा था, "बधाई कैसी, मातमपुर्सी ही करनी चाहिए।"

क्या उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का आभास मिल गया था, या यह उनकी उस समय की आत्म-पीड़ा और मनोव्यथा की प्रतिध्वनि ही थी, कौन जाने ? 'जीवन और मृत्यु' को वे "एक ही सिक्के के दो बाजू" मानते थे। मृत्यु तो उनके निकट 'अनुपम मित्र' थी और जीवन में ऐसे भी कई अवसर आये जब मौत से उनका साक्षात्कार हुआ। सत्ताईस वर्ष की उम्र

में डरवन की सड़कों पर गोरों की उत्तेजित भीड़ ने उन्हें मार ही दिया होता। ग्यारह साल बाद जोहान्सबर्ग में एक अक्खड़ पठान ने भी उनकी जान ले ही ली थी; १९३४ में पूना के म्युनिसिपल हॉल की ओर जाते हुए बम के वार से वह बाल-बाल बचे थे। उपवासों में तो हमेशा ही उनकी बाजी अपने प्राणों से लगी होती थी और दो लंबे उपवासों में उनका जीवित रह जाना एक चमत्कार ही था। अहिंसा के सैनिक के रूप में उन्होंने जितनी बार अपनी जान और जीवन को खतरे में डाला था वैसे तो किसी भी जनरल या कर्नल ने लड़ाई के मैदान में खतरे का सामना न किया होगा।

१३ जनवरी, १९४८ को उन्होंने उपवास आरंभ किया था। इसके संबंध में उन्होंने मीराबहन को लिखा था, "मेरा सबसे बड़ा उपवास!" यह उनका अंतिम उपवास भी था। जबतक दिल्ली में पूरी तरह शांति स्थापित नहीं हो जाती, वह उपवास नहीं तोड़ेंगे। राजधानी में ऊपर से शांति हो गई। सरकार की कड़ी कार्रवाई के कारण हत्या और लूटमार की वारदातें बंद हो गई थीं। लेकिन गांधीजी पिछले साढ़े चार महीने से जिस शांति के लिए प्रयत्न कर रहे थे वह 'शमशान की शांति' नहीं, दिलों को मिलानेवाली शांति थी। उस सच्ची शांति का दिल्ली में कहीं पता नहीं था। मुसलमान निडर और स्वतंत्रतापूर्वक राजधानी की सड़कों और गलियों में निकल नहीं सकते थे। गांधीजी को यह भी पता चला कि पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले हिंदू शरणार्थी मुसलमानों को अपने घर से और दुकानों से निकालने के लिए बुरे-से-बुरे उपायों का अवलंबन कर रहे थे। इसके लिए यह दलील कि सारे पश्चिमी पाकिस्तान में वहां के हिंदुओं और सिखों के साथ यही बर्ताव किया जा रहा है, गांधीजी को बिलकुल ही स्वीकार नहीं थी।

गांधीजी के इस उपवास का पाकिस्तान पर कुल मिलाकर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। पिछले दस वर्षों से लीग और उसके अखबार बराबर यही प्रचार करते चले आ रहे थे कि गांधी इस्लाम का दुश्मन है। इस उपवास से उस सारे प्रचार का भंडाफोड़ हो गया। भारत को भी उनके इस उपवास ने झकझोर दिया। जिस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी उसपर नये सिरे से सोचने के लिए लोग बाध्य हुए। तत्काल कुछ करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जिससे उनके

प्राणों को वचाया जा सके। उनकी प्रेरणा से और सद्भावना-स्वरूप भारत सरकार ने पाकिस्तान को वह पचपन करोड़ रुपया चुका दिया, जो संयुक्त भारत की परिसंपद(असेट्स) में उसका हिस्सा था, लेकिन काश्मीर-विवाद के कारण रोक लिया गया था। १८ जनवरी, १९४८ को विभिन्न संप्रदायों और दलों के नेताओं ने गांधीजी के समक्ष दिल्ली में शांति वनाये रखने का जिम्मा लेते हुए एक संयुक्त प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये।

इस उपवास के बाद सांप्रदायिक उपद्रवों का जोर वरावर घटता गया। इससे छुट्टी पाकर गांधीजी ने अपना ध्यान दूसरी समस्याओं की ओर लगाया। पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले शरणार्थियों को उन्होंने आश्वासन दिया था कि जवतक एक-एक परिवार को अपने जन्म के गांव अथवा शहर में फिर से न वसा देंगे, वह चैन न लेंगे, लेकिन पाकिस्तान सरकार की अनुमति के विना अव वह उस देश में प्रवेश नहीं कर सकते थे। फिर उनका विचार शीघ्र-से-शीघ्र सेवाग्राम लौट जाने का भी था। इधर कई महीनों से उनकी पूरी शक्ति सांप्रदायिक समस्या को हल करने में लगी हुई थी। वहुत जटिल होते हुए भी हाल ही हुए स्वतंत्र देश की प्रगति और उन्नति में वह एक अवांतर प्रसंग ही था। भारत की वास्तविक समस्याएं थीं, यहां के देशवासियों की सामाजिक और आर्थिक उन्नति और यही गांधीजी का असली कार्यक्षेत्र था। संविधान वनाने का काम पूरा हो ही चला था। स्वतंत्र भारत की सरकार अथवा सक्रिय राजनीति में प्रवेश करने का गांधीजी का कोई विचार नहीं था। वह नई परिस्थितियों में कुछ नये रचनात्मक काम करना चाहते थे। इसीलिए रचनात्मक काम में लगे हुए सव संगठनों को एकतावद्ध करने की संभावनाओं पर उन्होंने चर्चाएं कीं, जिससे अहिंसात्मक समाज-रचना का कार्य ज्यादा सुचारु रूप और सूक्ष्म ढंग से किया जा सके।

राजनैतिक स्वाधीनता के बाद मुख्य काम सामाजिक और आर्थिक सुधारों का ही था और इन्हें कार्यान्वित करने के लिए गांधीजी अपनी अहिंसात्मक शैली को नये ढंग से संभालना चाहते थे।

लेकिन न तो उनका पाकिस्तान जाना वदा था और न रचनात्मक कार्यों को हाथ में लेना ही। उनकी मृत्यु का पहला संकेत उस समय मिला जब २० जनवरी की शाम को वह विड़ला-भवन में अपनी प्रार्थना-सभा को

संबोधित कर रहे थे। एक बम उनपर फेंका गया, जिसका उनसे कुछ ही फुट के फासले पर विस्फोट हुआ। उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया और शांतिपूर्वक भाषण देते रहे। दूसरे दिन जब उन्हें विस्फोट के समय निराकुल और निरुद्वेग रहने के उपलक्ष में बधाइयां दी गईं तो उन्होंने कहा, "सच्ची बधाई के योग्य तो मैं तब हूंगा जब विस्फोट का शिकार होकर भी मुस्कराता रहूं और हमला करनेवाले के प्रति मेरे मन में ज़रा-सा भी विद्वेष न हो।" बम फेंकनेवाले को उन्होंने 'गुमराह जवान' कहा और पुलिस से आग्रह किया कि उसे 'कष्ट' न दिया जाय, प्रेम और धीरज से समझाकर सही मार्ग पर लाने की कोशिश की जाय। जो व्यक्ति पकड़ा गया वह मदनलाल नाम का एक पंजाबी शरणार्थी युवक और गांधीजी की हत्या के षड़यंत्रकारी दल का बाकायदा सदस्य था। इन उत्तेजित जवानों का ऐसा खयाल था कि हिंदू धर्म के लिए इस्लाम बाहरी और गांधी भीतरी खतरा था। जब मदनलाल चूक गया तो दल का दूसरा षड़यंत्रकारी एक युवक नाथूराम गोडसे पूना से दिल्ली आया। जेब में भरी पिस्तौल डाले वह बिड़ला-भवन के आस-पास, जहां गांधीजी की प्रार्थना-सभाएं होती थीं, मौके की ताक में मंडराता रहा।

अधिकारियों को कुछ शक तो जरूर हो गया था, इसलिए उन्होंने निगरानी थोड़ी कड़ी कर दी। लेकिन गांधीजी इस बात के लिए राजी न हुए कि उनकी प्रार्थना-सभा में आनेवालों की पुलिस द्वारा तलाशी ली जाय। उन्होंने पुलिस-अधिकारियों से साफ-साफ कह दिया: "अगर मरना ही बदा है तो मुझे प्रार्थना-सभा में ही मरने दो। और यह खयाल बिलकुल गलत है कि आप लोग मेरी रक्षा कर सकते हैं। मेरा रक्षक तो ईश्वर है।" ३० जनवरी की शाम को वह बिड़ला-भवन के अपने कमरे से प्रार्थना-सभा की ओर रवाना हुए। कुल जमा दो मिनट का रास्ता था, लेकिन उस दिन सरदार पटेल के साथ चर्चा में उन्हें कुछ देर हो गई थी। अपनी दो पोतियों आभा और मनु के कंधों पर, जिन्हें वे अपनी लकड़ियां कहा करते थे, हाथ रखे हुए वह तेजी से चल रहे थे। उनको आते देख प्रार्थना-सभा में आये हुए कोई पांचसौ लोग उन्हें रास्ता देने के लिए इधर-उधर हो गये। कुछ उठ खड़े हुए और कुछ ने झुककर उन्हें प्रणाम किया। गांधीजी ने देर हो जाने के लिए खेद प्रकट किया और हाथ जोड़कर नमस्कार किया। ठीक उसी

समय गोडसे भीड़ को धकियाता हुआ आगे आया, वह झुका मानो महात्माजी के चरण छू रहा हो और पिस्तौल निकालकर तावड़-तोड़ तीन फैर किये। गांधीजी 'हे राम' कहते हुए वहीं गिर पड़े।

इसे भाग्य की विडंबना ही कहेंगे कि अहिंसा के पुजारी की ऐसी हिंसक मृत्यु हुई। लगा, जैसे घृणा की अंध शक्तियां जीत गई हों, लेकिन वह केवल क्षणिक विजय थी। गांधीजी के हृदय को भेदनेवाली उन गोलियों ने करोड़ों के हृदय भेद दिये। उस घोर अपराध के दुष्कर्म ने निमिष-भर में सांप्रदायिक उन्माद की मूर्खता और व्यर्थता को उजागर कर दिया। ३१ जनवरी, १९४८ की शाम को यमुना के किनारे जिन ज्वालाओं ने गांधीजी के भौतिक शरीर भस्मीभूत किया, वे भारत और पाकिस्तान में अगस्त १९४६ से धधक रही सांप्रदायिक वैमनस्य की सत्यानाशी आग की अंतिम ज्वालाएं थीं। जबतक जिये, गांधीजी उस आग से बराबर लड़ते रहे। अंत में उनकी मृत्यु से ही वह आग शांत हुई।

: ४२ :

उपसंहार

दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पांच वर्ष के अंदर ही गांधीजी भारत के सार्वजनिक जीवन पर पूरी तरह छा गये। १९२० तक अधिकांश प्रमुख राजनैतिक उनके झंडे तले आ गये थे और बाकी किसी गिनती में ही नहीं थे। ऐसी महान और परिपूर्ण राजनैतिज्ञ विजय दुर्लभ ही है। इसे गांधीजी का राजनैतिक चक्रवर्तीत्व ही कहना चाहिए। अगले तीस बरसों में ऐसे भी कई अवसर आये जब गांधीजी को राजनीति से संन्यास लेते अथवा कांग्रेस से पृथक् होते देख उनके विरोधियों ने उन्हें खारिज मान लिया, लेकिन ये उनक मनोरथ ही थे, जो कभी पूरे न हुए। गांधीजी को जब-जब उचित लगा, वह उसी दम-खम से राजनीति में पुनः अवतीर्ण हुए और उनका प्रभाव कम होने के बदले बढ़ता गया।

उनके राजनैतिक उत्कर्ष और चिरस्थायी प्रभाव का एक कारण जन-

साधारण पर उनके महात्मापन की छाप भी थी। इस महात्मापन के कारण उनके कष्टों का पार भी न था, खासकर यात्राओंके समय बड़ी असुविधा होती थी, लेकिन एक बड़ा लाभ यह था कि उनके द्वारा संचालित आंदोलनों की सफलता-असफलता के बावजूद उनकी प्रतिष्ठा, प्रभाव और यश अक्षुण्ण बने रहते थे।

इस उत्कर्ष के कुछ अन्य कारण भी थे। दक्षिणी अफ्रीका के संघर्ष ने उन्हें विकसित और जन-आंदोलन की दृष्टि से प्रौढ़ कर दिया था। इंग्लैंड में अध्ययन करते समय और भारत में नई-नई वकालत जमाते वक्त उनमें जो झिझक और शर्मीलापन था, उससे वह मुक्ति पा चुके थे और प्रचड आत्मविश्वास को निरापद शालीनताएं एवं अत्यधिक विनम्रता से अभिव्यक्त करने की कला सीख चुके थे। उनसे प्रभावित होकर भिन्न रुचि के जिन प्रतिभावान नर-नारियों अपनी जीवन-धारा को बदल डाला था, उनमें सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू जैसे दिग्गज वकील और महान धारासभाशास्त्री प० मदनमोहन मालवीय और देशरत्न बाबू राजेंद्रप्रसाद जैसे महापुरुष, सरदार वल्लभभाई पटेल और सी० राजगोपालाचार्य-जैसे घोर यथार्थवादी तो पं० जवाहरलाल नेहरू और जयप्रकाश नारायण-जैसे आदर्शवादी भी थे। उन लोगों ने मन-प्राण से अनुभव किया कि उस काल की भाषणबाजी और बमबाजी के बीच हिचकोले खाती हुई भारतीय राजनीति को स्थिरता प्रदान करनेवाला सक्षम और व्यावहारिक विकल्प गांधीजी का अहिंसात्मक तरीका ही था। सुख-चैन की जिंदगी और व्यावसायिक महत्वाकांक्षाओं से नाता तोड़ वे महात्माजी के साथ हो लिये और अपने-अपने जीवन का बड़ा भाग उन्होंने रेल या जेल में बिताया। वे गांधीजी के समस्त राजनैतिक और आर्थिक विचारों से सहमत नहीं थे, उनकी धार्मिक दृष्टि का तो शायद ही किसीने समर्थन किया हो, लेकिन फिर भी सब-के-सब उनकी स्नेह-डोर में बंधे हुए थे—मस्तिष्क से अधिक उनके हृदय गांधीजी से जुड़े हुए थे। गांधीजी उनके नेता ही नहीं, बापू थे—श्रद्धास्पद प्रिय पिता। जनता से प्रगाढ़ प्यार और कांग्रेसी नेताओं से स्नेह-संबंध के कारण गांधीजी भारतीय राष्ट्र की एकता के प्रतीक ही बन गये थे और चौथाई शताब्दी तक राष्ट्रीय आंदोलन को फूट और विच्छेद के

घातक मार्ग पर भटक जाने से रोके रहे। दूसरे राजनैतिक दलों और विरोधी व्यक्तियों में वह समानता और संधि के तत्व खोजा करते थे, विरोध और संघर्ष के नहीं। मतभेद रखनेवालों की भर्त्सना या उपहास कभी उनका अभीष्ट नहीं रहा। तीन प्रमुख नरमदली नेता तेजबहादुर सप्रू, एम० आर० जयकर और श्रीनिवास शास्त्री से वह पत्र-व्यवहार, विचार-विनिमय और परामर्श भी करते रहे। इन लोगों की राय की वड़ी कद्र करते थे। श्रीनिवास शास्त्री को उन्होंने लिखा भी था—"आपके सहयोग की अपेक्षा आपकी सचाई का मेरे लिए अधिक महत्व है।" लीगी नेताओं से ऐसे संवंध न वन पाने का कारण गांधीजी की ओर से प्रयत्नों का अभाव नहीं था।

गांधीजी की दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का वास्तविक महत्व उसके अहिंसात्मक स्वरूप में निहित था। यदि कांग्रेस ने अहिंसा को नीति और सत्याग्रह को आचरण के रूप में न अपनाया होता तो गांधीजी की स्वाधीनता-आंदोलन में कोई रुचि भी न होती। वह हिंसा का विरोध केवल इसलिए नहीं करते थे कि सशस्त्र क्रांति में निहत्थी जनता के सफल होने की संभावनाएं वहुत कम थीं, वल्कि एक बड़ा कारण यह भी था कि हिंसा के उपयोग से और भी कई जटिल समस्याएं उठ खड़ी होतीं और पारस्परिक घृणा तथा कटुता इतनी अधिक बढ़ जाती, जिसके कारण दिलों का सच्चा मिलन कभी हो ही नहीं पाता।

अहिंसा पर गांधीजी का यह आग्रह उनके अंग्रेज और भारतीय दोनों ही आलोचकों को समान रूप से खलता था, यद्यपि दोनों के भिन्न-भिन्न कारण थे। अंग्रेज उनकी अहिंसा को धोखा और छल समझते थे, भारतीय आलोचक उसे निरी भावुकता। अंग्रेज भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को यूरोपीय इतिहास की दृष्टि से देखने के अभ्यस्त थे, इसलिए उन्हें अहिंसा की बात सच नहीं लगती थी और इसलिए आंदोलन की छिटपुट हिंसात्मक कार्रवाइयां तो तुरंत उनके ध्यान में आ जाती थीं, परंतु उसका वास्तविक शांत स्वरूप वे देख नहीं पाते थे। भारत के उग्र राजनीतिज्ञ फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों के एवं इतालवी और आयरी स्वाधीनता-संग्रामों के इतिहासों को घोटे बैठे थे; उन इतिहासों का कहना था कि हिंसा का मुका-

बला हिंसा से ही किया जा सकता है, कांटे को कांटे से ही निकाला जा सकता है, और हाथ आये राजनैतिक अवसर को नैतिक कारणों से छोड़ देना उनके मत से निरी मूर्खता ही थी।

मुश्किल यह थी कि गांधीजी के आलोचक उनके अहिंसात्मक आंदोलनों को हिंसात्मक संघर्षों की कसौटी पर कसकर गुण-दोषों को परखा करते थे, जबकि सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी को 'कुचलना' अथवा किसी खास मामले में 'जीत हासिल' करना नहीं, केवल हृदय-परिवर्तन करनेवाली शक्तियों को सक्रिय कर देना होता था। ऐसे रणकौशल से लड़नेवाला हर मोर्चे पर मात खाता हुआ भी युद्ध में विजयी हो सकता था और गांधीजी होते भी रहे थे। सत्याग्रह-आंदोलन के उद्देश्य को उसकी सफलता-विफलता या उसमें होनेवाली हार-जीत से नापना उचित भी नहीं है, वहां तो दोनों पक्षों के लिए एकमात्र सम्मानपूर्ण समझौते का ही महत्व है।

वास्तव में गांधीजी के नेतृत्व में लड़ी जानेवाली भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई नैतिक, या कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिक, आधार पर ही लड़ी गई थी। जनवरी १९२० में महात्माजी ने लिखा था—"अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में भी दूसरों की अपेक्षा अंग्रेजों को समझा-बुझाकर सही काम करने के लिए राजी कर लेना मैंने हमेशा आसान पाया।" और अंग्रेजों का ही नहीं, भारतीयों का भी हृदय-परिवर्तन आवश्यक था। भारत में ब्रिटिश राज्य के बारे में गांधीजी ने बहुत कड़ी बातें कही थीं, लेकिन भारत को विभाजित और खोखला करनेवाली कुरीतियों के बारे में तो उन्होंने और भी कड़ी बातें कहीं।

१९४७ में सत्ता के हस्तांतरण के कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कारण थे—देश और दुनिया के अगणित बलों ने अपना काम किया था; लेकिन अंग्रेजों के हटने का जो समय और तरीका था, उसपर गांधीजी के पिछले पच्चीस वर्षों के कार्यों और विचारों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। थोड़ी गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि तीनों देश-व्यापी सत्याग्रह-आंदोलनों में—१९२०-२२, १९३०-३२ और १९४०-४२ दस-दस वर्ष का अंतर रखकर गांधीजी ने हर बार अंग्रेजों को सोचने का और हृदय-परिवर्तन का काफी अवसर दिया था, और यही उनका मुख्य

प्रयोजन भी था। परिणाम यह हुआ कि १९४७ में जहां भारतीयों ने छुटकारे की सांस ली, वहीं भारत-स्थित अंग्रेजों ने भी पहली वार सही अर्थों में स्वतंत्रता का अनुभव किया।

यों तो विश्व के सम्मुख उनका प्रमुख रूप भारत के राजनैतिक मुक्तिदाता और उद्धारक का ही है, लेकिन वास्तव में देखा जाय तो गांधीजी का मुख्य क्षेत्र राजनीति नहीं, धर्म ही था। अपनी 'आत्मकथा' की प्रस्तावना में उन्होंने कहा भी है—"मेरा कर्तव्य तो, जिसके लिए मैं तीस वर्ष से झीख रहा हूं, आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी क्रियाएं इसी दृष्टि से होती हैं। मेरा सारा लेखन इसी दृष्टि से है और मेरा राजनैतिक क्षेत्र में आना भी इसी वस्तु के अधीन है।" धर्म और अध्यात्म ही उनका मुख्य प्रयोजन था। एक राजनैतिक शिष्टमंडल में उन्हें देखकर तत्कालीन भारत-मंत्री मांटेगू ने कहा था, "आप, एक समाज-सुधारक, इन लोगों के साथ कैसे?"

तब गांधीजी ने स्पष्टीकरण किया था कि उनकी राजनैतिक गतिविधि उनके सामाजिक कार्यों का ही विस्तारित रूप है—"सारी मानव-जाति से अभिन्नता ही मेरा धर्म है और मेरी राजनैतिक गति-विधि उस धर्म पर आचरण करने का तरीका। मनुष्य की गति-विधियों के क्षेत्र को आज विभाजित नहीं किया जा सकता और न उसके सामाजिक, आर्थिक एवं शुद्ध धार्मिक कार्यों को एक दूसरे से विभक्त करनेवाली स्पष्ट सीमा-रेखाएं ही खींची जा सकती हैं।" मानवी क्रिया-कलापों के अतिरिक्त किसी धर्म को वह जानते नहीं थे। उनका कहना था कि धर्म और अध्यात्म का कोई सर्वथा निराला क्षेत्र नहीं होता, जीवन के सामान्य कार्यों के ही द्वारा उनकी निरंतर अभिव्यक्ति होती रहती है। सच्चे धर्म का पालन करने के लिए किसी को न तो हिमालय में जाने की जरूरत है, न संन्यास लेने की, न आश्रम में रहने की और न किसी संप्रदाय-विशेष को अपनाने की।

लेकिन राजनीति और धर्म का, सदाचार और नीति का कुछ इस तरह पृथक्करण कर दिया गया है कि दोनों को मिलाना अधिकांश लोगों को सह्य नहीं होता। सत्य, दया और प्रेम आदि सद्गुण केवल पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रों में ही आचरण के उपयुक्त समझे जाते हैं। राजनीति

में केवल उपयुक्तता और वांछनीयता को ही प्रयोजनीय माना जाता है। गांधीजी का संपूर्ण कृतित्व इस द्वैध आचरण के प्रति जीवंत विद्रोह था। उन्होंने धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष को कभी एक-दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया। राजनीति से उनका लगाव सिर्फ इसलिए था, क्योंकि वह सत्याग्रह के द्वारा उसमें धर्म का समावेश धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा करना चाहते थे। पश्चिमी विद्वानों ने अनेक बार जानना चाहा था कि गांधीजी संत हैं अथवा राजनीतिज्ञ ? वह संत ही थे—ऐसे महात्मा, जिसके महात्मापन को राजनीति में आने से कोई क्षति नहीं पहुंचती थी।

स्वयं गांधीजी संत-महात्मा आदि शब्दों को बड़ा ऊंचा और पवित्र मानते थे और अपनेको उस पद के उपयुक्त नहीं समझते थे। वह तो 'सत्य के विनम्र शोधक' थे, जिसे 'महान ज्योति की एक मामूली-सी किरण' ही मिल पाई थी। उनके कथनानुसार वह जीवन के शाश्वत सत्यों का प्रयोग कर रहे थे, लेकिन फिर भी समाजशास्त्री और वैज्ञानिक होने का दावा नहीं कर सकते थे, क्योंकि न तो वह अपने तरीकों की वैज्ञानिकता के संबंध में कोई ठोस और स्थायी प्रमाण ही प्रस्तुत कर सकते थे और न आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों की तरह के कोई निश्चित ठोस परिणाम ही। भूल और गलती न करने का उनका कोई दावा नहीं था, यहांतक कि अपनी भूलें दुनिया से छिपाते भी नहीं थे। जब कभी वह यह कहते कि "ईश्वर ने मुझे यह करने या वह करने का आदेश दिया है" तो उनका यह अभिप्राय कदापि न होता था कि ईश्वर ने अपने संदेश के माध्यम के रूप में केवल उन्हींका विशेष रूप से चुनाव किया है। उनका कहना था कि "मेरा तो ऐसा दृढ़ विश्वास है कि वह सभीको संदेश देता है, हमीं अंतरात्मा की उस क्षीण आवाज़ को नहीं सुनते, कान बहरे कर लेते हैं।" जब किसीने उन्हें भगवान कृष्ण का अवतार बताया तो वह अत्यंत व्यथित हो गये और बोले, "इससे बड़े पाप और धर्मद्रोह की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।" जब उनके भक्तगण प्रशंसा में औचित्य का सीमोल्लंघन करने लगते तो वह तुरंत उन्हें वहीं-का-वहीं रोक दिया करते थे और बुरी तरह फटकारते भी थे। एक बार यात्रा करते हुए किसी गांव में पहुंचे तो ग्रामीणों ने कहा कि आपके शुभागमन का कैसा पुण्य फला कि हमारा सूखा कुआं लबालब भर गया। गांधी-

जी ने उन्हें फटकारा, "यह मूर्खता ही है न। चमत्कार-वमत्कार कुछ नहीं, निरा संयोग ही समझना चाहिए। भगवान तक मेरी भी उतनी ही पहुंच है जितनी तुम्हारी। मान लो कि ताड़ का पेड़ गिरने ही वाला हो और कौआ उसपर बैठ जाय तो क्या तुम यह कहोगे कि उसके बोझ से पेड़ गिर गया ?"

विनम्रता उनका सहज-स्वाभाविक गुण था—आत्मसंयम के लिए बाल्यकाल से मृत्युपर्यन्त उनके सतत संघर्ष का नैसर्गिक प्रतिफलन, केवल दिखावे के लिए ऊपर से ओढ़ी हुई व्यवहार-कुशलता नहीं। महादेवभाई ने एक बार लिखा भी था—"बाह्य विरोधी की अपेक्षा अपने अंतर के विरोधी से उनका संघर्ष कहीं कड़ा और निर्मम होता है।' उन्होंने अपने-आपको हमेशा औसत से भी कम योग्यता का अति साधारण व्यक्ति ही माना। उन्होंने कहा भी था—"मैं मंजूर करता हूं कि मेरी बुद्धि बहुत कुशाग्र नहीं है, लेकिन मैं इसकी चिंता नहीं करता। बुद्धि के विकास की तो सीमा है, परंतु दिल के विकास की कोई सीमा नहीं होती।" बुद्धि पर हृदय की श्रेष्ठता की बात कहकर और अपने-आपको औसत से भी कम बुद्धि का व्यक्ति बतलाकर गांधीजी केवल अपनी बौद्धिक प्रखरता से इनकार ही कर रहे थे। किताबी पढ़ाई को वह अधिक महत्व नहीं देते थे, लेकिन अपनी बार-बार की जेल-यात्राओं में उन्होंने सब मिलाकर बहुत-सी किताबें पढ़ीं और उस पढ़ाई का सदुपयोग भी किया। उनकी 'आत्मकथा' और 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' उनकी तीव्र स्मरण-शक्ति के प्रमाण हैं और उनके सहयोगी और विरोधी दोनों ही उनकी बौद्धिक प्रखरता के गवाह। लेकिन यह भी सच है कि एक सीमा के बाद वह बुद्धि के नियंत्रण की अपेक्षा हृदय के नियंत्रण को ही शुभ और श्रेष्ठ मानते थे। गांधीजी जिस सत्य की शोध में लगे हुए थे वह स्थिर, गतिहीन सत्य नहीं, सतत गतिशील और प्राणवान सत्य था, जो अपने अनेकविधि रूपों को निरंतर उदघाटित करता रहता था। विसंगतियों का आरोप लगानेवालों को उनका यह करारा जवाब हुआ करता था कि मेरी संगति सत्य के साथ है, भूत काल के साथ नहीं। नये प्रयोगों के अनुरूप वह अपने विचारों में परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन करते रहते थे, यहांतक कि उनकी दैनिक प्रार्थनाएं भी सतत विकासमान थीं। दक्षिण अफ्रीका में उनकी दैनिक प्रार्थ-

नाएं हिंदू और ईसाई धर्म-ग्रंथों के पाठ से आरंभ हुई थीं, धीरे-धीरे उनमें जिदअवेस्ता, कुरान, बौद्ध और जापानी धर्म-ग्रंथों के उपदेशों और भजनों का समावेश होता चला गया। नौआखाली यात्रा के समय उन्होंने बंगाली भाषा सीखना शुरू किया था, जिससे दंगा-पीड़ित बंगालियों की ज्यादा अच्छी सेवा कर सकें और अपनी मृत्यु के कुछ ही घंटे पहले बंगाली का अपना अंतिम पाठ लिखकर पूरा किया था। वह जीवन-भर विद्यार्थियों की विनम्रता और लगन को बनाये रहे।

हर विषय पर वह अपने विचारों को निरंतर विकसित और परिष्कृत करते थे, इसलिए जाति, मशीनें, खादी आदि पर उनकी पहले कही हुई बातों में विसंगतियां और विरोधाभास ढूंढ़ निकालना बहुत आसान था। आज के प्रचार-युग में उनका हर शब्द और संकेत जन-सामान्य की संपत्ति हो जाया करता था, लेकिन इस तथ्य को जानते हुए भी, वह कोई बात, यहांतक कि सपने में उदित हुआ विचार भी, अपने ही तक नहीं रखते थे, सब-कुछ जग-जाहिर कर दिया करते थे। टाल्स्टाय के बारे में उन्होंने इस संबंध में जो कुछ लिखा था, वह स्वयं उनके अपने लिए भी उतना ही था। "टाल्स्टाय के विचारों की कथित विसंगतियां उनके सतत विकास और सत्य की शोध के संबंध में उनकी तीव्र उत्कंठा का ही संकेत थीं। सतत विकासशील विचार-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उनकी पुरानी मान्यताएं पिछड़ जाती थीं और वर्तमान की स्थापनाओं से असंगत प्रतीत होने लगती थीं। उनकी विफलताओं को सारी दुनिया जान जाती थी, वह जग-जाहिर होती थीं। उनके संघर्ष और सफलताएं सिर्फ उन्हींतक रहती थीं, उनकी अपनी होती थीं।"

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक अवसर पर गांधीजी के बारे में कहा था और ठीक ही कहा था कि "वह विचारों से नहीं, मनुष्यों से प्रेम करते" हैं। गांधीजी हर समस्या को नैतिक परिप्रेक्ष्य में देखना पसंद करते थे, परन्तु अपने विचार उन्होंने कभी किसीपर थोपे नहीं। उन्होंने तो लोगों को यहांतक सचेत कर दिया था कि "कहनेवाला महात्मा ही क्यों न हो, किसी भी बात को ध्रुव सत्य मत समझो।" 'हिंद स्वराज्य' में उन्होंने आधुनिक सभ्यता और उसकी उपज स्कूल, रेलवे, अस्पताल आदि की

कड़ी निंदा की, लेकिन इन विचारों को अपने अनुयायियों पर थोपने की कभी ज़रा-सी भी कोशिश नहीं की। स्वयं घुटनों तक की लुंगी पहनते थे, परन्तु यह आग्रह कभी नहीं रहा कि सभी वैसी ही लुंगी पहने। आगाथा हैरीसन को रोज चाय की बुराइयां बताते थे, लेकिन जब भी वह उनके साथ यात्रा में होतीं, दुपहर ढले ठीक चार बजे बिलानागा उनको चाय पिलाई जाती थी। दुनिया-भर के कामों में फंसे रहने के बावजूद देश और विदेश के हजारों लोगों को, जो उनसे मिलने आते या पत्र-व्यवहार करते थे, अपना स्नेह और सौजन्य देने में उन्होंने कभी कोताही नहीं की। लघुतमों, विपन्नों और दीन-हीनों से तादात्म्य ही उनकी एकमात्र महत्वाकांक्षा रही। नहाते, समय वह साबुन की जगह पत्थर से अपना शरीर मलते थे, चिंदियों और पुर्जों पर पत्र लिखते थे, पेंसिल के इतने छोटे टुकड़ों का इस्तेमाल करते जिन्हें अंगुलियों में थामना भी मुश्किल होता था, देशी उस्तरे से खुद हजामत बनाते और टीन या लकड़ी के कटोरे में लकड़ी की चम्मच से खाना खाते थे। यह फकीरी उनकी अन्तःवृत्ति के अनुरूप तो थी ही, उन्हें देश के उन करोड़ों गरीबों के समकक्ष भी बनाती थी, जिनकी गरीबी और तबाही एक क्षण के भी लिए उन्हें चैन न लेने देती थी। स्वेच्छा से अपनाई हुई यह गरीबी ही उनके समस्त राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाकलापों की प्रेरक शक्ति थी। गरीबी के इस बाने के ही कारण भारतीय जनता पर उनका इतना प्रभाव और शहर के बुद्धिजीवियों से कभी-कभी इतना बिलगाव और पार्थक्य हो जाया करता था।

स्वेच्छा से अपनाई हुई गरीबी और त्याग ने गांधीजी को गुरु-गंभीर बना दिया हो, या उनकी स्वभावगत विनोदशीलता को मार दिया हो, सो बात भी नहीं। उनमें बच्चों-जैसी ही प्रफुल्लता और विनोदशीलता थी। जो भी मिलने जाता, उससे हंसी-मजाक की दो-एक बातें वह अवश्य करते थे। एक बार मिलने के लिए आई हुई किसी महिला ने उनसे पूछा था—"आप खीझते-झुझलाते तो नहीं ?" "यह तो आप श्रीमती गांधी से पूछिये।" उन्होंने तपाक से उत्तर दिया था, "वह यही कहेंगी कि उनके अलावा मैं सारी दुनिया से बहुत अच्छी तरह पेश आता हूं।" "मेरे पति तो मुझसे बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं।" उस महिला ने कहा था। इस नहले पर

गांधीजी ने फौरन दहला मारा, "ओह, मैं समझ गया, उन्होंने आपको जरूर तगड़ी रिश्वत दी है।" यह पूछे जाने पर कि आप शराब पीनेवालों पर इतने अनुदार क्यों हैं, उन्होंने जवाब दिया था, "क्योंकि मैं इस पाप का परिणाम भुगतनेवालों के प्रति उदार (दयावान) हूं।" एक मल्लाह से गांधीजी ने पूछा था, "आपके कितने बच्चे हैं ?" "जी साहब, आठ—चार बेटे और चार बेटियां।" इसपर गांधीजी ने कहा था—"मेरे चार बेटे हैं, इस नाते आपसे बराबरी का तो नहीं पर आधा मुकाबला अवश्य कर सकता हूं।" बुरी-से-बुरी स्थिति में भी वह हँसी-मजाक की कोई-न-कोई बात खोज ही लिया करते थे। सितंबर, १९३२ में जब हिंदू नेता उनके आमरण अनशन के समय यरवदा-जेल में मिलने के लिए गये तो सबके बीच में बैठते हुए उन्होंने किलककर कहा था, "मैं अध्यक्षता करता हूं।"

मानवी संबंधों में अहिंसा को नियोजित करने और उसे परिपूर्णता देने में गांधीजी ने अपना सारा जीवन खपा दिया था। अमरीका और यूरोप की यात्राओं के निमंत्रण उन्होंने कई बार इसीलिए अस्वीकार कर दिये कि जबतक भारत में सफल उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर दिया जाता, विदेशों में जाकर अहिंसा का उपदेश देना अनुपयुक्त ही होता। लेकिन जब भारत और इंग्लैंड के संबंधों को, गांधीजी की ही उत्प्रेरणा के अनुरूप, समान स्तर पर प्रस्थापित करने का समय आया और देश में रक्तहीन क्रांति होने को ही थी तो भारत सांप्रदायिक उन्माद और खून-खच्चर के दुष्चक्र में फंस गया। राष्ट्रीय एकता के जिस महल का उन्होंने इतने परिश्रम से निर्माण किया था और प्राणपण से जिसकी रक्षा की थी, उसे अपनी आंखों के सामने ढहकर टूटते हुए भी देखा। हिंसा के उन्माद को शांति की निर्मल धाराओं में प्रवाहित करने का प्रयत्न और संघर्ष तो उन्होंने किया, परंतु साथ ही जीवन-कार्य के विफल हो जाने की व्यथा से व्याकुल भी होते रहे। उनकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता में कोई कमी नहीं हुई। स्वतंत्रता के उपरांत वह 'राष्ट्रपिता' के विरुद से विभूषित किये गए। शासन-सूत्र संभालनेवाले नेताओं ने उन्हें सम्मानांजलि समर्पित की। उनकी सभाओं में अब भी हजारों की संख्या में जनता जुटकर 'महात्मा गांधी की जय' के नारे लगाती थी। अपनी जय बोले जाने से पीड़ा तो उन्हें हमेशा ही होती रही थी, अब तो

जैसे दिल पर छुरियां ही चलने लगीं। जब भारत के कई हिस्सों में हिंसा और भय व्याप्त हो तो उनकी जय कहां से हो सकती थी! इस दारुण दुःख की जड़ें कुछ तो भारत के सम-सामयिक इतिहास में और कुछ पाकिस्तान के हेतु धर्म को आधार बनाकर किये गए राजनैतिक आंदोलन में पनप रही थीं और जिसने कुछ समय के लिए मनुष्य-मात्र को विक्षिप्त कर दिया था। ऐसे समय में भी अपनी अहिंसात्मक कार्य-पद्धति की दो महान सफलताओं को गांधीजी ने स्वयं अपनी आंखों देखा—कलकत्ता और दिल्ली में उनके उपवासों के परिणाम-स्वरूप शांति स्थापित हुई और उनकी मृत्यु ने वह किया, जिसके लिए वह जीवन के अंतिम क्षण तक प्रयत्नशील थे—उप-महाद्वीपीय विस्तार के हिंदी-पाकिस्तान के इंसानों का पागलपन दूर हुआ और उनकी इंसानी समझ लौट आई।

लेकिन गांधीजी के निकट अहिंसा का मूल्य और महत्व उनकी अपनी सफलता-विफलता से भी बंधा हुआ नहीं था—वह तो व्यक्ति की हार-जीत से सर्वथा निरपेक्ष और चिरंतन था। 'हिंद स्वराज्य' में उन्होंने पश्चिमी भौतिकवाद और सैन्यवाद की आलोचना प्रथम महायुद्ध के छः वर्ष पूर्व, जब यूरोप शक्ति और प्रतिष्ठा के शिखर पर था, की थी। पचास वर्ष पूर्व उनके ये विचार कइयों को शेखचिल्लीपन लगे थे; लेकिन आज तृतीय महायुद्ध के भय से विकंपित विश्व के लिए तो वे ऋषि की मंत्रदृष्टि ही हैं। आध्यात्मिक मूल्यों का विध्वंस करनेवाली भौतिक प्रगति की अवहेलना और हिंसा का स्थायी रूप से परित्याग कर गांधीजी ने बीसवीं शताब्दी की दो प्रमुख विचारधाराओं, पूंजीवाद एवं साम्यवाद, से ठीक विपरीत दिशा में जानेवाले मार्ग का अवलंबन किया। उन्होंने एक ऐसे समाज की परिकल्पना और उसके लिए कार्य भी किया, जिसमें जन-समुदाय की अपरिहार्य आवश्यकताएं पूरी होंगी (उससे अधिक नहीं) और जहां अर्थव्यवस्था एवं राजनैतिक तंत्र के विकेंद्रीकरण के परिणाम-स्वरूप आंतरिक शोषण तथा बाह्य संघर्षों का कोई भय अथवा आशंका नहीं रह जायगी। गांधीजी के विचारानुसार ऐसी समाज-व्यवस्था में बल-प्रयोग पर आधारित आधुनिक राज-तंत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा समाज आंतरिक व्यवस्था के ही लिए नहीं, बाह्य आक्रमण से अपनी सुरक्षा

के लिए भी अहिंसात्मक पद्धति पर निर्भर कर सकता है।

पता नहीं, गांधीजी का यह स्वप्न कभी सच भी होगा या नहीं। कम-से कम आज तो कह पाना मुश्किल ही है। राष्ट्र भी, व्यक्तियों की भांति, बंधी लीक पर चल पाने का लोभ संवरण नहीं कर पाते, चाहे वह पिटा हुआ रास्ता उन्हें बंद गली में ही क्यों न पहुंचा दे। अहिंसा के स्वप्न को वास्तविकताओं के संसार में चरितार्थ करने की कठिनाइयों से गांधीजी खूब अवगत थे। लेकिन सिद्धांतों के मामले में, मूल प्रस्थापनाओं के प्रश्न पर, समझौता करने को वह कभी तैयार न थे। अंत तक वह साध्य और साधन, दोनों की पवित्रता पर समान रूप से जोर देते रहे। अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बुरे उपायों का अवलंबन उन्हें कभी स्वीकार न हुआ। वह सदैव इसी बात पर जोर देते रहे कि भय, लोभ और अहंकार हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं। दूसरों को बदलने से पहले हमें अपने-आपको बदलना चाहिए। सत्य, प्रेम और उदारता के पारिवारिक नियम, समूहों, समुदायों और राष्ट्रों पर भी समान रूप से लागू होते हैं और सबसे बड़ी बात तो यह कि "जिस प्रकार पशुओं के लिए हिंसा का नियम और नीति है उसी प्रकार अहिंसा का नियम और नीति हम मानवों के लिए है।" राष्ट्रों के भाग्य-नियंताओं को गांधीजी के ये विचार स्पृहणीय होते हुए भी दुर्लभ और दूरगामी आदर्श प्रतीत हो सकते हैं, लेकिन अणु-परमाणु अस्त्रों के इस संहारक युग में यदि मानवता को जीवित रहना है, सभ्यता को क्षत-विक्षत मांस के लोथड़ों और पिघले सीसे में परिवर्तित होने से बचाना है तो गांधी-विचारधारा की तात्कालिक प्रासंगिकता निर्विवाद है।

●

अनुक्रमणिका

•

पांच रुपये